58/1-2

अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में-

कहाँ/क्या?

1	अध्यात्म-पद	- कविवर द्यानतराय	1
2	सम्पादकीय		2
3	पाठकीय अभिमत		6
4	क्या आगम का आधार किवदन्ती हो सकती है?	-पद्मचन्द्र शास्त्री	8
5	समीन्धर कुन्दकुन्द	-डॉ नदलाल जैन	12
6.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार का समीक्षात्मक अनुशीलन	-डॉ कमलेश कुमार जैन	16
7	आचार्य पूज्यपाद और उनका इष्टोपदेश	-डॉ नरेन्द्र कुमार जैन	36
8	प्राचीन सस्कृत साहित्य में प्रतिबिम्बित राजधर्म सिद्धान्त एव व्यवहार	-डॉ मुकेश बसल	45
9	सल्लेखना पूर्वक समाधिमरण	-प सनतकुमार, विनोदकुमार जैन	51
10	श्रावक साधना की सीढिया प्रतिमाएँ	-डॉ श्रेयासकुमार जैन	61
11	गागरोन की प्राचीन, अप्रकाशित जैन प्रतिमाये	-ललित शर्मा	72
12.	भगवान महावीर और परिग्रह-परिमाण व्रत	-डॉ सुरेन्द्रकुमार जैन	75
13	आगम की कसौटी पर प्रेमी जी	-डॉ श्रेयासकुमार जैन	87
14	पचास वर्ष पूर्व भारतीय इतिहास का जैन युग	-डॉ ज्योतिप्रसाद जैन	98
15	पुस्तक समीक्षा	-जमनालाल जैन	120
16.	आदर्श सम्पादक श्री अजित प्रसाद	-सजीव 'ललित'	124

वर्ष-58, किरण-1-2
जनवरी-जून 2005

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन
429, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
फोन: (0131) 2603730

परामर्शदाता :
पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

सस्था की आजीवन सदस्यता 1100/-

वार्षिक शुल्क 30/-

इस अक का मूल्य 10/-

सदस्यो व मदिरो के लिए नि शुल्क

प्रकाशक :
भारतभूषण जैन, एडवोकट

मुद्रक :
मास्टर प्रिन्टर्स, दिल्ली-32

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारो के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नही कि सम्पादक उनके विचारो से सहमत हो।

वीर सेवा मंदिर

(जैन दर्शन शोध सस्थान)

21, दरियागज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522

सस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अतर्गत आयकर मे छूट

(रजि आर 10591/62)

6992

अध्यात्म-पद

सब जग स्वारथ को चाहत है, स्वारथ तोहि भायो।
जीव! तैं मूढ़पना कित पायो?

अशुचि, अचेत, दुष्ट तन माहीं, कहा जान विरमायो।
परम अतिन्द्री निज सुख हरकै, विषय रोग लिपटायो।।
जीव! तैं मूढ़पना कित पायो?

चेतन नाम भयो जड़ काहे, अपनो नाम गँवायो।
तीन लोक को राज छांडिकै, भीख मांग न लजायो।।
जीव! तैं मूढ़पना कित पायो?

मूढ़पना मिथ्या जब छूटै, तब तू संत कहायो।
'द्यानत' सुख अनन्त शिव बिलसो, यो सतगुरु बतायो।।
जीव! तैं मूढ़पना कित पायो?

–कविवर द्यानतराय

सम्पादकीय

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमौ गणी।
मङ्गलं कुन्दकुदार्यो जैनधर्मोऽस्तु. मङ्गलम्।।

किसी भी मंगल कार्य के पूर्व जैनधर्मावलम्बियों में उक्त श्लोक पढ़ने की परम्परा है। स्पष्ट है कि भगवान् महावीर और उनकी दिव्य वाणी के धारक एवं द्वादशांग आगम के प्रणेता गौतम गणधर के बाद जैन परम्परा में श्रीकुन्दकुन्दाचार्य को प्रधानता दी गई है। कुन्दकुन्दाचार्य श्रमण संस्कृति के उन्नायक, प्राकृत साहित्य के अग्रणी प्रतिभू, तर्कप्रधान आगमिक शैली में लिखे गये अध्यात्मविषयक साहित्य के युगप्रधान आचार्य हैं। अध्यात्म जैन वाङ्मय एवं प्राकृत साहित्य के विकास में उनका अप्रतिम योगदान रहा है। उनकी महत्ता इसी से जानी जा सकती है कि उनके पश्चाद्वर्ती आचार्यो की परम्परा अपने को कुन्दकुन्दावयी या कुन्दकुन्दाम्नायी कहकर गौरवान्वित समझती है।

खेद की बात है कि कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत विशाल साहित्य उपलब्ध होने पर भी विशेष अन्तः एवं बाह्य साक्ष्यों के अभाव में तथा अनुश्रुतियों/किंवदन्तियों में उलझा होने के कारण उनका प्रामाणिक इतिवृत्त उपलब्ध नही होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द के विषय में अनेक अनुश्रुतियां प्रचलित हैं। विन्ध्यगिरि के एक शिलालेख के अनुसार उनके विषय में कहा जाता है कि वे चारण ऋद्धिधारी अतिशय ज्ञान सम्पन्न तपस्वी थे। चारण ऋद्धि के प्रभाव से वे पृथ्वी के चार अंगुल ऊपर गमन करते थे। इसके अतिरिक्त कुन्दकुन्दाचार्य के जीवन के विषय में दो अनुश्रुतियाँ प्रमुख रूप से प्राप्त होती हैं– (1) विदेहगमन और (2) गिरनार पर्वत पर दिगम्बर-श्वेताम्बर विवाद।

(1) विदेहगमन

आचार्य कुन्दकुन्द की विदेहगमन विषयक घटना का सर्वप्रथम उल्लेख

देवसेनकृत दर्शनसार में मिलता है। देवसेन ने दर्शनसार की रचना ईसा की 9-10वीं शताब्दी में की थी। अतः अन्य अभिलेखीय एवं ऐतिहासिक प्रमाण न मिलने पर भी इसकी प्राचीनता विश्वस्त है। इसके बाद जयसेनाचार्य ने पञ्चास्तिकाय की टीका में "प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञश्रीमंदरस्वामितीर्थकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणी श्रवणावधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिसारार्थं गृहीत्वा....." (पञ्चास्तिकाय टीका) कहकर उनकी विदेहगमन विषयक घटना का उल्लेख किया है। उन्होंने इस घटना को 'प्रसिद्धकथान्यायेन' बतलाया है, जिससे पता चलता है कि उनके समय मे यह घटना अत्यंत प्रसिद्ध थी।

टीकाकार जससेनाचार्य का समय ईसा की 12वीं शताब्दी माना जाता है। इसके बाद 15-16 शताब्दी के षट्प्राभृत के संस्कृत टीकाकार श्रुतसागरसूरि ने तथा पश्चाद्वर्ती अन्य विद्वानो ने भी इस घटना का उल्लेख किया है। शुभचन्द्र (1516-1556 ई.) की पट्टावली में भी इसका उल्लेख है।

उक्त उल्लेखों के आधार पर यह प्रसिद्धि है कि कुन्दकुन्द आचार्य विदेह क्षेत्र गये थे और वहाँ समवशरण में विराजमान तीर्थकर श्रीमंदर (सीमंधर) स्वामी से उन्होंने दिव्यध्वनि का श्रवण किया था। **सामान्यतः यह नियम है कि कोई भी प्रमत्तसंयत मुनि अपने औदारिक शरीर से दूसरे क्षेत्र में नहीं जा सकता है।** आहारक शरीरधारी मुनि के लिए असंयम के निवारणार्थ यह नियम लागू नहीं होता है। किन्तु इस तरह का कोई उल्लेख नहीं मिलता है कि कुन्दकुन्दाचार्य आहारक शरीरधारी थे। अतः कथा की विश्वसनीयता में सन्देह होने पर भी इसकी प्राचीनता असंदिग्ध है।

(2) गिरनार विवाद

शुभचन्द्राचार्य ने पाण्डवपुराण में गिरनार पर्वत पर दिगम्बर और श्वेताम्बरों के विवाद का उल्लेख करते हुए कुन्दकुदाचार्य का स्मरण इस प्रकार किया है–

"कुन्दकुन्दगणी येनोर्जयन्तगिरिमस्तके ।
सोऽवतात् वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ ।।"

(वे कुन्दकुन्द गणी रक्षा करें, जिन्होंने कलियुग में ऊर्जयन्त (गिरनार) पर्वत पर पाषाण से बनी हुई ब्राह्मी देवी को भी बुलवा दिया।) इसी प्रकार शुभचन्द्राचार्य की गुर्वावली में भी उल्लेख हुआ है। कवि वृन्दावन ने इस घटना का स्पष्ट उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि एक बार कुन्दकुन्दाचार्य ससंघ गिरनार पर्वत गये। वहाँ पर श्वेताम्बरों से उनका विवाद हो गया। दिगम्बर और श्वेताम्वरों ने अंबिका नामक देवी को अपना मध्यस्थ बनाया। देवी के प्रकट होकर दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही के ग्रन्थों में यद्यपि गिरनार पर्वत के ऊपर विवाद होने के विवरण मिलते हैं। किन्तु कुन्दकुन्द के समय में कभी इस प्रकार के विवाद होने का उल्लेख नहीं मिलता है। शुभचन्द्र की गुर्वावली के अन्तिम श्लोकों में वलात्कारगण के प्रधान पद्मनन्दि मुनि को नमस्कार करते हुए कहा गया है कि उन्होंने ऊर्जयन्त पर्वत पर सरस्वती की मूर्ति को वुलवा दिया था। ऐसा लगता है कि शुभचन्द्राचार्य ने भी कुन्दकुन्द-पद्मनन्दि और बलात्कारगणीय पद्मनन्दि को भ्रान्तिवश एक समझ लिया और इस घटना का उल्लेख कर दिया है।

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य के विषय में प्रचलित दोनों ही अनुश्रुतियाँ– विदेहगमन और गिरनार विवाद सत्य प्रतीत नहीं होती हैं।

इनके अतिरिक्त आचार्य कुदकुन्द के गृद्धपिच्छ नाम पड़ने के कारण के रूप में भी एक अनुश्रुति प्रचलित है। यह नाम विभिन्न शिलालेखों में एवं ग्रन्थों में तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता आचार्य उमास्वामी (उमास्वाति) के लिए भी प्रयुक्त मिलता है। कुन्दकुन्दाचार्य के गृद्धपिच्छ नाम पड़ने में वही किंवदन्ती कारण है, जिसके अनुसार विदेह क्षेत्र जाते समय आकाशमार्ग से कुन्दकुन्दाचार्य की मयूरपिच्छी नीचे गिर गई थी तथा बाद में उन्होंने मयूरपिच्छ न मिलने पर गृद्धपिच्छ धारण कर लिए थे। जैन मुनि संयम की रक्षा के लिए मयूरपिच्छी ही धारण करते है। गृद्धपिच्छ से तो संयम की रक्षा संभव ही नही है। इस किंवदन्ती में कोई दम नही है और यह कल्पित जान पड़ती है। क्योंकि यह पहले ही कहा जा चुका है कि शास्त्रीय मान्यता के अनुसार प्रमत्तसंयत मुनि औदारिक शरीर से अन्य क्षेत्र में गमन नहीं कर सकता है। जव कुन्दकुन्दाचार्य

की विदेहगमनविषयक घटना ही शास्त्रसम्मत न होने से अविश्वसनीय है तो उस पर आधारित गृद्धपिच्छ नामकरण की घटना को विश्वसनीय नहीं माना जा सकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि दिगम्बरत्व के विरोधियों द्वारा दिगम्बर परम्परा के शास्त्रों को अतथ्यपरक सिद्ध करने, अपने को कुन्दकुन्दाचार्य से भी पूर्व का सिद्ध करने तथा दिगम्बर मुनि के आचार को दूषित करने के लिए किया गया षड्यन्त्र रहा है। दिगम्बरों को आगम विरुद्ध किंचित् भी स्वीकार नहीं करना चाहिए।

तस्स मुहग्गदवयणं, पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगमिदि परिकहियं, तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था।।

– उन आप्त के मुख से निकले हुए जो पूर्वापर दोषों से रहित शुद्ध वचन है वह 'आगम' इस प्रकार कहे जाते हैं। उस कहे हुए आगम में तत्त्वार्थ होता है।

पाठकीय अभिमत–1

अनेकान्त जुलाई–दिसम्बर 2004 के पृष्ठ 2-5 में पं. पद्मचन्द्र जी शास्त्री की लेखनी से प्रसूत एक लेख छपा है– "दिगम्बरत्व को कैसे छला जा रहा है?" पंडित जी उन थोड़े से विद्वानों में हैं जिनने जैन धर्म व दर्शन शास्त्रों का बड़ी गहनता से अध्ययन किया है। पंडित जी अब दशम दशक की ओर बढ़ गए हैं। किन्तु फिर भी सतत चिन्तन करते रहते हैं। उनका प्राकृत भाषा का ज्ञान भी किसी से कम नहीं रहा है इसका पूरा परिचय उक्त लेख को पढ़ने से पूरी तरह साबित हो रहा है।

प्रसंग है कि क्या कुन्दकुन्द स्वामी अपरनाम पद्मनंदि आचार्य विदेह में विराजमान सीमंधर स्वामी से ज्ञानसम्बोधन प्राप्त करने गए थे। कुछ वर्षो पहले जब कुन्दकुन्द स्वामी का द्विसहस्राब्दि उत्सव मनाया गया था तब मैंने एक छोटी सी किताब लिखी थी "कुन्दकुन्द नाम व समय"। उसमें मैंने भी इस कथा पर प्रश्न उठाया था। इस प्रश्न का सही-सही जबाब अब मिल गया है। देवसेन द्वारा लिखित दर्शनसार संग्रह की निम्न गाथा–

"जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामि–दिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति।"

से, पंडितजी ने स्पष्टता व निर्भीकता के साथ निष्कर्ष निकाला है कि उक्त गाथा में "विवोहइ" शब्द से यह साबित हो रहा है कि पद्मनंदि आचार्य स्वयं सीमंधर थे और उनने अपने दिव्य ज्ञान के द्वारा श्रमणों को संबोधित किया था। चूंकि श्वेताम्बरों ने धर्म की सीमाओं का उल्लंघन कर दिया था अतः उन्होंने दिगम्बर धर्म की रक्षा के लिए आगमानुसार दिगम्बरत्व की सीमाओं का अवधारण किया और कराया। अतः इस गाथा के अनुसार पद्मनंदि स्वयं सीमंधर थे। यदि वे सीमंधर तीर्थकर के समवसरण में गए होते तो गाथा में 'विवोहिअ' शब्द होता।

उनका यह भी कहना है कि उक्तगाथा का गलत अर्थ करना तथा और भी कुछ अन्य बातें हैं जिनसे दिगम्बरत्व को नष्ट करने की सुनियोजित साजिश मालूम होती है।

इस नवीनतम दृष्टिकोण पर अन्य अधिकारी विद्वान् चितंन-मनन व विश्लेषण करके हमारे जैसे अल्पश्रुतों का मार्ग दर्शन करेंगे ऐसी आशा है।

अवकाश प्राप्त न्यायमूर्ति
एम. एल. जैन, जयपुर

पाठकीय अभिमत–2

श्री पं. पद्मचन्द्र शास्त्री जी के दो लेख आचार्य कुन्दकुन्द के नाम तथा विदेहगमन के विषय में अनेकान्त में पढ़े। उन्होंने साक्ष्यों के आधार पर सिद्ध किया है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने दिगम्बर अम्नाय की पवित्रता, मौलिकता तथा पहचान की रक्षा के लिए आचागत मर्यादाओं का विधान किया। इसी कारण वे सीमंधर कहलाये। लेखक का यह विश्लेषण तर्कयुक्त तथा यथार्थ प्रतीत होता है। समाज बड़ा विचित्र है। वह चमत्कारों से कल्पित कथाओं से, नारों से, आतिशबाजी से, वेश तथा अजीबोगरीब रहन सहन से, पागलपन से बहुत प्रभावित होता है। यों देखा जाए तो प्रत्येक मनुष्य और प्राणी चमत्कारों से भरा है। अरबों व्यक्तियों के चेहरे अलग, आवाज अलग, चाल ढाल अलग क्या यह चमत्कार से कम है? हम इतने कुशल हैं कि प्रत्येक सन्त-महात्मा की महत्ता बढ़ाने के लिए उनके साथ चमत्कार की कथा जोड़ देते हैं। समय के साथ शब्दों के अर्थ और भाव बदल जाते हैं। अतिशयोक्तियाँ और चमत्कार हमारे अज्ञान के द्योतक ही हैं। छोटे बच्चे के लिए चूल्हे पर रोटी का फूलना भी चमत्कार ही है। इसलिए मैं लेखक को धन्यवाद देता हूं कि उन्होंने चमत्कार के नाम पर कुन्दकुन्द स्वामी की मर्यादा को, उनके आदर्श को बचाये रखा।

—जमनालाल जैन, सारनाथ

क्या आगम का आधार किंवदन्ती हो सकती है?

—पद्मचन्द्र शास्त्री

क्या तमाशा है मुझे कुछ लोग समझाने चले।
एक दीवाने के पीछे कितने दीवाने चले।।

पिछले अनेकान्त के अंको में हम 'विचारणीय' प्रसंग में 'आचार्य कुन्द-कुन्द स्वयं ही सीमंधर हैं' की चर्चा कर चुके हैं। हमें इस सम्बन्ध में किसी के नए कोई विचार नहीं मिले। हम यह स्पष्ट कर दें कि हमने सीमंधरसामिकुन्दकुन्द के विषय में जो लिखा है वह आगम विरोधी न होकर विदेहगमन की सहमति रखने वालों के लिए मार्ग दर्शन है। हमने अपने विचार प्राकृत कोषों और आगम की गाथा के मूलशब्दों को बदले बिना जैसे के तैसे दिए हैं। किसी व्याकरण से कोई प्रयोग जानबूझकर बदलना उचित नहीं समझा; वरना कुछ लोग कहते आगम को ही बदल दिया। अतः हमने प्राकृत कोष और गाथा के अनुसार वही शब्द दिया जो वहाँ है। आगम सम्मत विचारों को कोई बदल नहीं सकता।

यह तो सत्य है कि हम दिगम्बर मूल आचार्य पूज्य सीमंधरस्वामी कुन्दकुन्द के श्रद्धालु हैं और वे हमारे. आराध्य हैं। दिगम्बरत्व और आगम में कोई विरोधी बात कैसे स्वीकार की जा सकती है। कोई दिगम्बर जैन आगम के विपरीत सोच भी कैसे सकता हैं?

जब हम आचार्य कुन्दकुन्द के विदेह जाने की बात सुनते हैं तो मन को ठेस लगना स्वभाविक है। किंवदन्तियों (जनश्रुतियों) चमत्कारों ने आगम को किनारे रखकर दिगम्बर तीर्थकर और मुनियों को भी नहीं बख्शा। जैसे एक किंवदन्ती हमारे समक्ष है जिसमें कहा गया है—

1. तीर्थकर सीमंधर स्वामी ने दिव्यध्वनि में आचार्य कुन्दकुन्द को आशीर्वाद दिया और प्रश्न के उत्तर में कुन्दकुन्द का नाम बतलाया।

2. देव भरत क्षेत्र में आचार्य कुन्दकुन्द को लेने आये।
3. आचार्य कुन्दकुन्द को विमान में बैठाकर ले गए।
4. उनकी पीछी गिर गई और गिद्ध का पंख ले लिया।
5. वे एक शास्त्र लाए जो कि आते समय लवण समुद्र में गिर गया।

उक्त सब बातें आगम से कहाँ मेल खाती हैं? शिलालेख भी कब किस आगम के अनुसार लिखे गए आदि। जब हम उक्त कथनों पर विचार करते हैं तो निम्नलिखित बाधायें खड़ी हो जाती हैं—

1. क्या दिव्यध्वनि में व्यक्तिगत आशीर्वाद, नाम कथन और प्रश्न के उत्तर देने का कहीं विधान है? जबकि दिव्यध्वनि में तत्त्वार्थ का विधान होने का कथन है। तथाहि—

तस्स मुहग्गदवयणं, पुव्वारदोसविरहियं सुद्धं।
आगमिदि परिकहियं, तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था।।

—नियमसार, आचार्य कुन्दकुन्द

2. देव इस पंचम काल में भरत क्षेत्र में कैसे आ गए? जबकि आगम में विधान है कि वे यहाँ नहीं आ सकते। तथाहि—

"अत्तो चारण मुणिणो, देवा विज्जाहरा य णायान्ति।"

—तिलोयपण्णत्ति (विशुद्धमति)

अर्थात् इस पंचम काल में यहाँ चारणऋद्धिधारी मुनि, देव और विद्याधर नहीं आते। परमात्म प्रकाश तथा भद्रबाहु चरित से भी इसी अर्थ की पुष्टि होती है। हमें किसी आगम में यह देखने को भी नहीं मिला की पंचम काल के प्रारम्भ में यह विधान लागू नहीं होता। यदि आगम में इसका कहीं उल्लेख है तो देखा जाए।

3. .क्या हमारे मूल आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी या अन्य कोई दिगम्बर मुनि विमान या किसी सवारी में बैठकर गमनागमन कर सकते हैं? दिगम्बर मुनि के विमान में बैठने की बात कहाँ तक सत्य है? किसी आगम ग्रंथ

में दिगम्बर मुनि का सवारी में बैठने का विधान नहीं है; तब विमान में बैठकर आचार्य कुन्दकुन्द का विदेह जाने का कथन करना कहीं उनको लांछन लगाना और दिगम्बर वेश को बदनाम करने का सुनियोजित षड्यन्त्र तो नहीं? उक्त कथन दिगम्बरत्व की हानि करने का प्रयत्न मात्र लगता है।

4. मुनि का पीछी बिना गमनागमन कहाँ तक उचित है? पीछी के अभाव में गिद्ध पंख कहाँ और कितनी दूर मिला; जबकि गिद्ध पंख छोड़ता ही नहीं। गिद्ध पंख और मयूर पंख में महत् अन्तर होता है। मयूर पंख इतना कोमल होता है कि ऑख में फिराने पर कोई नुकसान नहीं होता। वह जीव रक्षा के लिए सर्वथा अनुकूल है। जबकि गिद्ध पंख अत्यन्त कर्कश और खुरदरा होता है उससे चींटी आदि का मरण संभव तो है बचाव नहीं। ऐसे में गिद्ध पीछी का ग्रहण किस आगम सम्मत है?

5. किंवदन्ती में कथन है कि विदेह से लौटते समय आचार्य कुन्दकुन्द एक शास्त्र भी लाए। शास्त्र में राजनीति, मंत्र आदि का विशद वर्णन था। आते समय वह शास्त्र लवण समुद्र में गिर गया।

विचारणीय है कि आचार्य कुन्दकुन्द जैसे आध्यात्मिक आचार्य शंका समाधान के पश्चात् विदेह से शास्त्र भी लाए और वह भी राजनीति एवं मंत्रों के वर्णन वाला। जो देव विमान में लेकर आए थे उन्होंने शास्त्र की रक्षा क्यों नहीं की। जबकि वे ऐसा कर सकते थे।

ऐसी अन्य भी बहुत सी किंवदन्तियां होंगी जो हमें देखने को नहीं मिलीं। समक्ष आने पर सोचेंगे और लिखेंगे। आचार्य कुन्दकुन्द को कोई ऋद्धि आदि प्राप्त थी इसका भी किसी आगम में प्रमाण नहीं मिलता। हम टीकाकारों के आगम सम्मत कथनों को पूर्ण सत्य मानते हैं। यही बात शिलालेखों के संबंध में भी है। वे भी आगम सम्मत होने चाहिए।

हमें तो आश्चर्य तब भी होता है जब आचार्य कुन्दकुन्द ने विहेद गमन के वृत्तान्त को कहीं स्वीकार नहीं किया जबकि उनकी विदेह यात्रा उनके जीवन

की विशिष्ट घटना थी। आचार्य महाराज ने ना ही कहीं सीमंधर स्वामी का स्मरण कर उनके उपकार को स्वीकार किया जो कि उनका मुख्य कर्तव्य था। इसके विपरीत वे बारम्बार श्रुतकेवली का ही गुणगान करते रहे जो कि पद में तीर्थंकर से लघु होते हैं। इस सबसे सिद्ध होता है कि विदेह गमन की घटना बाद में गढ़ी गई है। उनकी इस मौन भाषा को दिगम्बर ही न समझें तो इससे बड़ी बिडम्बना और क्या हो सकती है?

हमें अपने पूर्व विद्वानों पर भी आश्चर्य होता है कि वे किंवदन्तियों की प्राचीनता लिखते रहे जबकि उन्हें तो ऐसी किंवदन्तियों को आगम की कसौटी पर कसकर उनका विश्लेषण करना चाहिए था। कहा भी है– "पुराणमित्येव न साधु सर्व।" यदि वे ऐसा करते तो किंवदन्तियों का दुःखदाई आगम घातक प्रसंग आज उपस्थित नहीं होता जो हमारे समक्ष आ रहा है।

हमारा विश्वास है कि इस संबंध की किंवदन्तियां कुन्दकुन्द के बाद दिगम्बरत्व और कुन्दकुन्दाचार्य को बदनाम करने के लिए दिगम्बरत्व विरोधियों द्वारा प्रचार में लाई गई। विद्वेषियों द्वारा जिसका स्वरूप समझ आने लगा है। समाज आगे सचेत रहे। कहीं "विषकुम्भं पयोमुखम्" के घेरे में ना जाए। सत्य के उद्भावन (प्रकटीकरण) से समाज टूटता नहीं है, न उसका विश्वास कम होता है। इससे तो सम्यक्त्व के निःशंकित तथा अमूढ़दृष्टि जैसे अंगों में दृढ़ता आती है। समाज तो आपसी विद्वेष, धर्म की आढ में स्वार्थो की पूर्ति से टूटता है।

—वीर सेवा मन्दिर
4674/21 दरियागंज
नई दिल्ली-110002

सीमन्धर कुन्दकुन्द

—डॉ. नंदलाल जैन

अमृतचन्द्र और उत्तरवर्ती जयसेन के द्वारा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की टीकाओं के कारण कुन्दकुन्द और उनकी विचारधारा प्रकाश में आई। बीसवीं सदी तक कुन्दकुन्द की महान् प्रतिष्ठा थी। संभवतः इसका कारण इनके ग्रंथों को श्रावक—पाठ्य न मानने की धारणा और प्रचण्ड गुरुभक्ति रही होगी। इसी कारण, मंगल श्लोक में भी उनका स्मरण किया गया। इस मंगल श्लोक की परम्परा कब से चालू हुई, यह कहना कठिन है, पर यह "मंगलं स्थूलभद्राद्यो" के बाद की ही होगी क्योंकि स्थूलभद्र तो 411-312 ईसा-पूर्व के आचार्य हैं और कुन्दकुन्द तो सभी विद्वानों के मत से पर्याप्त उत्तरवर्ती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह मंगल श्लोक इनके ग्रंथों की टीका के समय से प्रचलित हुआ होगा क्योंकि इनके पूर्व भी आचार्य भद्रबाहु आदि अनेक प्रतिभाशाली दिगम्बरत्व प्रतिष्ठापक आचार्य हुये हैं। उनका विस्मरण कर कुन्दकुन्द को प्रतिष्ठित करना किंचित् समझ से परे तो लगता है, पर यह उनकी सैद्धांतिक एवं संघाचार्य की निपुणता को व्यक्त करता है। फिर भी, उनके इतनी सदियों तक विस्मृत रहने में संभवतः उनकी अप्रवाह्यमान विचारधारा ही कारण रही होगी।

तथापि जिनभक्ति के प्रभाव में कुन्दकुन्द ने किसी भी ग्रन्थ में अपना जीवन-वृत्त नहीं दिया। उनके ग्रन्थ 'श्रुतकेवली भणित' के प्रतिपादक हैं और वे भद्रबाहु को अपना गमक (परम्परया) गुरु मानते हैं। इस इतिहास—निरपेक्षता के कारण जबसे वे विद्वत् जगत के अध्ययन के विषय बने, तभी से श्री मुख्तार, उपाध्ये, के. बी. पाठक, प्रेमी, ढाकी व अनेक विदेशी विद्वानों ने उनके जीवन के सभी पक्षों—जन्म स्थान (लगभग निश्चित), माता-पिता (वैश्य वंशज), शिक्षा-दीक्षा (दो गुरु), साधुत्व एवं आचार्यत्व (लगभग 44 वर्ष) आदि पर विभिन्न मत प्रस्तुत किये हैं। तीर्थकरों के जीवन की देवकृत चमत्कारिकता

के समान उनके जीवन में भी चारण-ऋद्धित्व एवं विदेह गमन का विवरण आया (इनका विशेष आधार नहीं मिलता)। वस्तुतः वे मानव से अतिमानव मान लिये गये। इस पर अभी तक किसी ने प्रकाश नहीं डाला।

इन मतवादों के साथ उनके निश्चय-व्यवहारगत समयसारी विवरण तथा उनके साहित्य की भाषा के स्वरूप आदि के कारण भी अनेक भ्रांतियां उत्पन्न हुई हैं। उनके श्वेताम्बरों से शास्त्रार्थ, स्त्रीमुक्ति निषेध, अचेलकत्व--समर्थन तथा टीका ग्रंथो आदि के कारण उनके समय-निर्णय पर भी अभी भी असहमति बनी हुई है। यह प्रथम सदी से सातवीं सदी तक माना जाता है। सामान्य परम्परा के अनुसार, अनेक मूलग्रन्थों की टीकायें उनकी रचना के अधिकाधिक तीन-चार सौ वर्ष के अन्तराल से हुई हैं, जैसा सारणी-1 से प्रकट है।

सारणी 1 : मूलग्रन्थ और उनकी टीकाओं का रचनाकाल

क्र	मूल ग्रन्थ	रचनाकाल लगभग	टीका	टीकाकाल लगभग
01	कषायपाहुड	1-2री सदी	यतिवृषभ चूर्णि	5-6वी सदी
02	षट्खण्डागम	1-2री सदी	पद्धति	3री सदी
03	तत्वार्थसूत्र	3-4थी सदी	सवार्थसिद्धि	5वीं सदी
04	भगवती आराधना	2-3री सदी	आराधना पंजिका	4थी सदी
05	मूलाचार	2-3री सदी	वसुनंदि	11वी सदी
06	कुन्दकुन्द ग्रथत्रय	2-3री सदी	दो टीकाये	10-11वी सदी
07	श्वेताबर आगम सकलन	5वी सदी	प्रथम व्याख्या साहित्य	6वी सदी
08.	परीक्षामुख	10-11वीं सदी	प्रमेयकमलमार्तण्ड	11वी सदी

इस आधार पर कुन्दकुन्द के समय का अनुमान लगाया जा सकता है।

उनके समयसार ने तो जैनों का एक नया पंथ ही खडा कर दिया है जो उनके अनेक कथनों के बावजूद भी एकपक्षीय बन गया है। वस्तुतः अनेकांतवादी जैन अपने-अपने पक्ष के एकांतवादी हो गये हैं और महावीर के नाम पर उनके दर्शन को ही विदलित करते जा रहे हैं। अनेक विद्वानों ने उनके निश्चय-व्यवहार की समन्वय-वादिता पर विवरण दिये हैं। पर निश्चय तो अटल एवं अनिर्वचनीय होता है, केवलज्ञान गम्य होता है। उसे गृहस्थ कैसे समझे और अनुभव में

लाये? हाँ, निश्चय व्यक्ति को एक सुहावने कल्पना लोक या स्वप्न लोक में ले जाता है, संभवतः कल्पना के मूर्त रूप लेने के प्रति आशावादी भी बनाता है। यह स्थिति श्वेतकेशियों के अनुरूप अधिक है। कृष्णकेशियों का अनुभव इसके विपरीत है। पर ऑख खोलते ही व्यावहारिक जगत सामने आ जाता है एवं सांबरत्व में ही 'नेति, नेति' की निश्चयी दृष्टि और दशा प्राप्ति का अनुभव करने लगते हैं। फलतः, वे स्वयं को केवली ही मान लेते हैं। शास्त्रीजी ने इस मान्यता को विसंगत एवं दिगम्बर मत के विरुद्ध बताया है क्योंकि तिल-तुष मात्र परिग्रही आत्मा को नहीं जान पाता। शुद्ध और शुभ का चक्कर भी भयंकर है जो सामान्य जन की समझ से परे लगता है।

इस विषय में पं. पद्मचन्द्र शास्त्री ने कुन्दकुन्द की, कोलायडी स्थिति में, दिगम्बरत्व–प्रतिष्ठापक के रूप में प्रशस्ति करते हुए उनके सिद्धान्तों को सही रूप में लेने का संकेत किया है। महावीर के सिद्धान्तों में निश्चय और व्यवहार की सीमाओं का संधारण करने के कारण उनके लिये सीमंधर (सीमाधर) शब्द के उपयोग को सार्थक बताया है और आचार्य कुन्दकुन्द की विदेह गमन एवं सीमंधर-स्वामी के उपदेश की चमत्कारिक जन-श्रुति या किंवदन्ती को भक्ति-अतिरेक का आकर्षण माना है। उन्होंने सीमंधर शब्द के इस अर्थ को 'अभिधान राजेन्द्र कोश' से भी पुष्ट किया है। उनकी यह मान्यता गंभीर विचार चाहती है। इस विषय में उनके तर्क भी शोधपरक हैं ये निम्नलिखित हैं–

01. कुन्दकुन्द ने कहीं भी सीमंधर स्वामी के उपकार का स्मरण नहीं किया है।
02. कुन्दकुन्द अपने ग्रंथों में सदैव श्रुतकेवली व गमक गुरु का स्मरण करते हैं जिनका पद तीर्थंकर से लघुतर है।
03. पंचमकाल में चारण ऋद्धि नहीं होती। तथापि, फडकुले जी कुंदकुंद के प्रकरण में इसे आपवादिक मानते हैं। यह विचारणीय विषय है। जिनेन्द्र वर्णी भी इसे आग्रह-हीन मानते हैं।
04. विदेह-गमन की चर्चा भी इस विषय में अनेक मुनिचर्या-विरोधी प्रसंग उपस्थित करती है।
05. देवसेन के दर्शनसार की गाथा 43 में 'सीमंधरसामि' शब्द पद्मनंदि का विशेषण है, इसे सीमंधर स्वामी तीर्थंकर मान लेने के कारण अनेक

भ्रांतियां उत्पन्न हुई हैं। इस अर्थ से विदेह-गमन की चमत्कारिकता भी निरस्त होती है।

06. उक्त गाथा 43 में 'विवोहइ' शब्द भी इस धारणा को पुष्ट करता है।

07. आगम में 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' का सूत्र भी इन धारणाओं का समर्थक नहीं है। यह स्थिति छद्मस्थ की नहीं होती।

08. समयसार गाथा 14 में निश्चय-व्यवहार का स्पष्ट अभिलेख है। अन्यत्र यह भी उल्लेख है कि अज्ञ जनों को उनकी भाषा में ही उपदेश देना चाहिये अर्थात् हमें व्यवहारवादी भी होना चाहिये।

मुझे लगता है कि निश्चय-मानी भी कुन्दकुन्द के 'चारित्तं खलु धम्मो' एवं 'दंसण—णाण—चरित्ताणि सेविदव्वाणि' के सिद्धान्तों को स्वीकार कर अध्यात्मोन्मुखी बनने का प्रयास करते हैं। वे भी मंदिर निर्माण, वेदी व पंचकल्याणक प्रतिष्ठा, पूजन, शाकाहार आदि व्यावहारिक कार्यों में संलग्न रहते हैं। ये प्रक्रियायें निश्चयवाद की प्रेरक हैं, ऐसा मानना चाहिये। इस प्रकार, वे व्यवहार को सर्वथा अभूतार्थ नहीं कह सकते। कुन्दकुन्द के इसी समन्वित दृष्टिकोण ने उन्हें इतना प्रभावी बनाया है।

उपरोक्त बिन्दुओं में पर्याप्त बौद्धिक विश्लेषण तथा सार्थक संकेत हैं। इनके समुचित आलोडन से कुन्दकुन्द के जीवन की चमत्कारिकता तो दूर होती है, पर उनके उपदेशों की तथा उनकी गरिमा भी प्रतिष्ठित होती है। चमत्कारिकताओं के भीतर छिपे अतिरेकी रहस्य का उद्घाटन आज के युग की मांग है। मुझे विश्वास है कि विद्वत्जन इस विषय में समुचित विचार कर कुन्दकुन्द के जीवन को लौकिक रूप में ढालकर उसे और भी प्रभावशाली बनायेंगे एवं उनका ही सीमंधरत्व स्वीकार करेंगे।

सन्दर्भ

1 जिनेन्द्र वर्णी : जैनेन्द्र सिद्धात कोष-2, भारतीय ज्ञानपीठ, 1974, पेज 126-28।

2. जैन, एन. एल : पं जगन्मोहनलाल शास्त्री, साधुवाद ग्रंथ, जैन केन्द्र, रीवा आदि, 1989, पे. 97-98।

3. शास्त्री, पद्मचंद्र, मूल जैन—संस्कृति—अपरिग्रह, वीर सेवा मंदिर, दिल्ली, 2005, पेज 44-48।

4. 'समयसार' और 'दर्शनसार'।

—जैन सेन्टर, रीवा (म. प्र.)

रत्नकरण्डश्रावकाचार का समीक्षात्मक अनुशीलन

—डॉ. कमलेश कुमार जैन

श्रीवर्द्धमानमकलङ्कमनिद्यवन्द्य—
पादारविन्दयुगलं प्रणिपत्य मूर्ध्ना।
भव्यैकलोकनयनं परिपालयन्तं
स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम्।।

जैन धर्म, दर्शन और न्याय के उद्भट विद्वान् आचार्य समन्तभद्र का जन्म विक्रम की दूसरी शताब्दी के अन्तिम भाग अथवा तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध[1] में उरगपुर में हुआ था। वे काञ्ची के सुप्रसिद्ध शासक कदम्बवंशीय ककुत्यवर्मन् के पुत्र थे। उनका गृहस्थावस्था का नाम शान्तिवर्मन् था। वही शान्तिवर्मन आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा में बलाकपिच्छाचार्य से दीक्षित होकर पहले मुनि समन्तभद्र और बाद में आचार्य समन्तभद्र के नाम से प्रसिद्ध हुए।

'राजबलिकथे' के एक उल्लेखानुसार मुनि समन्तभद्र को मणुवकहल्ली नामक ग्राम में भस्मक व्याधि हो गई थी। इस व्याधि का शमन पौष्टिक और गरिष्ठ भोजन से ही सम्भव था, किन्तु मुनिचर्या का पालन करते हुये ऐसा भोजन प्रायः दुर्लभ था। अतः उन्होनें अपने गुरु से समाधिकरण की याचना की, किन्तु निमित्तज्ञानी गुरु के द्वारा यह जानकर कि इस मुनि से धर्म की अत्यधिक प्रभावना होने की संभावना है। उन्होंने व्याधि से मुक्त होने के लिये उन्हें मुनि पद से मुक्त कर दिया तथा व्याधि-शमन करने हेतु कार्यकारी उपाय करने का निर्देश दिया। फलस्वरूप वे अनेक स्थानों पर भ्रमण करते हुये काशी के राजा शिवकोटि के राजदरबार में आये और घोषणा कर दी कि वे शिवमूर्ति को सम्पूर्ण भोग-सामग्री खिला सकते हैं। राजा ने उनसे प्रभावित होकर उन्हें शिव मन्दिर में नियुक्त कर दिया। मुनि समन्तभद्र प्रच्छन्न रूप से वह भोग-सामग्री स्वयं खाने लगे। धीरे-धीरे रोग का शमन होने लगा जिससे

भोग-सामग्री भी बचने लगी। तब लोगों को सन्देह हुआ और वे पकड़े गये। बाद में राजा ने शिवमूर्ति को नमस्कार करने का आदेश दिया। स्वामी समन्तभद्र सच्चे सम्यग्दृष्टि थे। अतः उन्होंने ध्यानस्थ हो चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति करना प्रारम्भ की। फलस्वरूप आठवें तीर्थङ्कर भगवान् चन्द्रप्रभ की भक्ति करते हुये भावों का ऐसा उद्रेक हुआ कि शिवमूर्ति उसे सहन नहीं कर सकी और शिवमूर्ति बीच से फट गई तथा उसमें से चन्द्रप्रभु की मूर्ति प्रकट हो गई।

आचार्य समन्तभद्र बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होने शताब्दियों पूर्व तर्क की कसौटी पर कसकर विविध सम्प्रदायों के अनेक आचार्यो/विद्वानों के समक्ष जैनधर्म की जो ध्वजा फहराई है, वह आज भी अपने अतीत के गौरव को रेखाङ्कित करती है और उत्तरवर्ती पीढ़ी को एक नवीन दिशा प्रदान करती हे। परवर्ती जैनन्याय शास्त्र की प्रतिष्ठा आचार्य समन्तभद्र के द्वारा स्थापित मापदण्डों का विकसित रूप है। समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसा पर आचार्य अकलङ्कदेव द्वारा लिखित अष्टशती टीका और उसको समाहित करते हुये उसी पर आचार्य विद्यानन्द द्वारा अंष्टसहस्री टीका का लिखा जाना इस बात का सूचक है कि जैनन्याय विद्या के क्षेत्र में आचार्य समन्तभद्र ने जो मानक स्थापित किये हैं, वे आज भी मील के पत्थर के समान अडिग हैं। क्योंकि परवर्ती आचार्यो ने प्रायः उन्हीं तर्को को आधार बनाकर अपनी कृतियों का प्रणयन किया है।

ऐसे महनीय व्यक्तित्व के धनी आचार्य समन्तभद्र ने 1. बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, 2. आप्तमीमांसा (देवागम स्तोत्र), 3. स्तुति विद्या (जिनशतक), 4. युक्त्यनुशासन और 5. रत्नकरण्डश्रावकाचार— इन पाँच ग्रन्थों की रचना की है, जो आज भी उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त 1. जीवसिद्धि, 2. तत्त्वानुशासन, 3. प्रमाणपदार्थ, 4. गन्धहस्ति महाभाष्य, 5. कर्मप्राभृत टीका और 6. प्राकृत व्याकरण इन छह ग्रन्थों के रचने का उल्लेख मिलता है।[2]

आचार्य समन्तभद्र के उपलब्ध उपर्युक्त पॉच ग्रन्थों में प्रथम चार ग्रन्थ यद्यपि स्तुतिपरक हैं, किन्तु स्तुति के व्याज से उन्होंने जैन सिद्धान्तों का जो

प्ररूपण किया है, वह अद्वितीय है और उन्हें एक उत्कृष्ट दार्शनिक आचार्य के रूप में स्थापित करता है। जैन तर्कविद्या के वे प्रथम आचार्य हैं। उन्होंने अपनी इसी तार्किक बुद्धि के आधार पर विभिन्न नगरों में विचरण करते हुये अनेक विद्वानों को पराजित किया था, जिसका उल्लेख श्रवणबेलगोल के 54वें शिलालेख में इस प्रकार अङ्कित है–

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये काञ्चीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्।।[3]

पं. जुगलकिशोर मुख्तार ने स्वामी समन्तभद्र पर विस्तार से विचार किया है।[4]

आचार्य समन्तभद्र ने उपर्युक्त जिन कृतियों का लेखन किया है, उनमें श्रावक के आचार का विस्तार से विवेचन करने वाली उनकी एक मात्र कृति रत्नकरण्डश्रावकाचार है। पं. पन्नालाल 'वसन्त' साहित्याचार्य ने इसे उपलब्ध श्रावकाचारों में सबसे प्राचीन और सुसम्बद्ध श्रावकाचार माना है।[5] जो वस्तुतः सत्य एवं तथ्य है। इससे पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द के चारित्रपाहुड में श्रावकाचार सम्बन्धी विवेचन मात्र छह गाथाओं में उपलब्ध है, जिसमें चारित्र के सम्यक्त्वचरण चारित्र और संयमचरण चारित्र–ये दो भेद किये हैं।[6] पुनः संयमचरण चारित्र के दो भेद किये हैं–सागार और निरागार। इनमें सागार चारित्र गृहस्थ के एवं निरागार चारित्र परिग्रह रहित मुनि के होता है।[7] इसी क्रम में आचार्य कुन्दकुन्द ने सागार (श्रावक) की ग्यारह प्रतिमाओं और श्रावक के बारह व्रतों का मात्र नामोल्लेख किया है।[8] आचार्य उमास्वामी ने अपने तत्त्वार्थसूत्र के सप्तम अध्याय में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पाँच पापों से विरत होने को व्रत कहा है[9] तथा शल्य रहित को व्रती कहा है।[10] तदनन्तर व्रती के दो भेद– अगारी और अनगार करके अणुव्रतों के धारक को अगारी (श्रावक) कहा है। पुनः सप्तशीलों और सल्लेखना का नामोल्लेख करके पाँच व्रतों, सप्तशीलों और सल्लेखना के पाँच-पाँच अतिचारो का उल्लेख किया

है। अन्त में श्रावक के षडावश्यकों में से एक महत्त्वपूर्ण आवश्यक कर्म दान का उल्लेख किया है।[11]

आचार्य कुन्दकुन्द एवं आचार्य उमास्वामी के पश्चात् आचार्य समन्तभद्र ने श्रावकाचार का गम्भीर और साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है, जो विविध श्रावकाचारों के मध्य एक दीप-स्तम्भ की तरह आज भी बेजोड़ है। उसका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है–

आचार्य समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार में 150 श्लोक हैं। यह पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। प्रारम्भ में सर्वप्रथम वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार करके कर्मो का नाश करने वाले उस समीचीन धर्म का उपदेश करने की प्रतिज्ञा की है, जो जीवों को संसार के दुःखों से निकालकर स्वर्ग-मोक्षादि रूप उत्तम सुख में स्थापित करता है और ऐसे धर्म की बढ़ते क्रम से तीन श्रेणियाँ निर्धारित की हैं–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। ये तीनों भगवान् जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित हैं।

इनमें से परमार्थभूत आप्त, आगम और गुरु का तीन मूढ़ताओं से रहित, आठ अङ्गों सहित और आठ प्रकार के मदों से रहित होकर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। आप्त नियम से जन्म-जरा आदि अठारह दोषों से रहित, सर्वज्ञ और आगम का स्वामी होता है। आगम की विशेषता यह होती है कि वह भगवान् जिनेन्द्र देव के द्वारा कथित होता है। अन्य मतावलम्बियों द्वारा खण्डित नहीं होता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों के द्वारा विरोध रहित होता है। तत्त्वों का उपदेश करने वाला, सबका हितकारी और मिथ्यामार्ग का निराकरण करने वाला होता है। गुरु–विषयों की आशा, आरम्भ और परिग्रह से रहित होता है तथा ज्ञान, ध्यान और तप यें तल्लीन रहता है। ऐसे आप्त, आगम और गुरु का निःशङ्कित, निःकाङ्क्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगू[illegible] स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना–इन आठ अङ्गों सहित श्रद्धान [illegible] आवश्यक है। इनमें से एक अङ्ग की भी न्यूनता नहीं होनी चाहिये, अ[illegible] जिस प्रकार एक अक्षर रहित मन्त्र विष की वेदना को नाश करने में समर्थ [illegible] होता है, वैसे ही अङ्गहीन सम्यग्दर्शन जन्म-सन्तति को नष्ट करने में समर्थ न[illegible]

होता है।

यह सम्यग्दर्शन जहाँ आठ अङ्गों सहित होता है, वहीं लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और पाखण्डिमूढ़ता (गुरुमूढ़ता)– इन तीन मूढ़ताओं तथा ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर–इन आठ के आश्रय से होने वाले मदों से रहित होता है। उपर्युक्त मदों से उन्मत्त चित्त वाला पुरुष यदि रत्नत्रय रूप धर्म में स्थित जीवों को तिरस्कृत करता है तो वह अपने धर्म को ही तिरस्कृत करता है। क्योंकि धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं होता है। अतः धर्मात्माओं का तिरस्कार करना उचित नहीं है।

ज्ञानादि मदों के न करने की सलाह इसलिये भी आचार्य समन्तभद्र दे रहे हैं कि भाई! यदि पाप को रोकने वाली रत्नत्रय रूप धर्म तेरे पास है तो अन्य सम्पत्तियों से तुझे क्या लेना-देना? सुख की प्राप्ति तुझे स्वतः होगी ही और यदि मिथ्यात्व आदि पापों का आस्रव है तो भी अन्य सम्पत्तियो से क्या लेना-देना? क्योंकि पापास्रव के फलस्वरूप तुझे दुःख की प्राप्ति होनी ही है। वस्तुतः धर्म और अधर्म ही क्रमशः सुख और दुःख के कारण हैं। ज्ञानादि का मद सुख का कारण नहीं है।

एक मात्र सम्यग्दर्शन से युक्त चाण्डाल भी ढकी हुई अग्नि के समान तेजस्वी होता है और देवताओं के द्वारा पूज्य भी। अधिक क्या कहें? धर्म के कारण कुत्ता भी देव हो जाता है और अधर्म के कारण देव भी कुत्ता हो जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव भय, आशा और लोभ के वशीभूत होकर कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र का सम्मान नहीं करता है। यह सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग में खेवटिया के समान है। क्योंकि इसके अभाव में सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि एवं स्वर्ग-मोक्षादि रूप फल की प्राप्ति वैसे ही नहीं होती है जैसे बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति आदि नहीं होती है।

मोही मुनि से मोक्षमार्ग में स्थित निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है। इसीलिये तो यह कथन यथार्थ है कि सम्यक्त्व के समान कल्याणकारी और मिथ्यात्व के समान विनाशकारी तीनों लोकों और तीनों कालों में कोई अन्य वस्तु नहीं है। सम्यग्दर्शन का माहात्म्य तो यह है कि अव्रती सम्यग्दृष्टि भी नारक, तिर्यञ्च,

नपुंसक, स्त्रीपने तथा खोटे कुल, विकलाङ्गता, अल्पायु और दरिद्रपने को प्राप्त नहीं होता है, अपितु ओजादि से सम्पन्न मनुष्यों में श्रेष्ठ होता है और स्वर्ग के इन्द्रादि पदों को प्राप्त करता है तथा नवनिधि और चौदह रत्नों के स्वामी चक्रवर्ती पद को प्राप्तकर अन्त में रत्नत्रय के फलस्वरूप सर्वोत्कृष्ट सुख के स्थान मोक्ष को भी प्राप्त करता है।

पदार्थ को न्यूनता और अधिकता से रहित ज्यों का त्यों विपरीतता रहित और सन्देह रहित जानना सम्यग्ज्ञान है। यह सम्यग्ज्ञान विषय की अपेक्षा से प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग– इन चार अनुयोगों में विभक्त है। एक पुरुष के आश्रित होने वाली कथा चरित है और त्रेसठशलाका पुरुषों के आश्रित कही जाने वाली कथा पुराण है। इन पुण्यवर्द्धक कथाओं तथा बोधि और समाधि को प्राप्त कराने का खजाना जिसमें हो वह कथा साहित्य प्रथमानुयोग है। लोक और अलोक के विभाग, युगों के परिवर्तन और चतुर्गति के स्वरूप को दर्पण के समान प्रकाशित करने वाला साहित्य करणानुयोग है। गृहस्थ और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा का विवेचन करने वाला साहित्य चरणानुयोग है तथा जीव, अजीव, पुण्य, पाप, बन्ध मोक्ष आदि का विवेचन करने वाला साहित्य द्रव्यानुयोग है।

मोह रूपी अन्धकार के दूर होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो गया है ऐसे भव्य जीव के द्वारा रागद्वेष की निवृत्ति के लिये धारण किया जाने वाला चारित्र है। यह हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह की निवृत्ति से होता है। सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करना सकल चारित्र है और एकदेश परिग्रह का त्याग करना विकलचारित्र है, जो क्रमशः मुनियों और श्रावकों को होता है। उनमें गृहस्थों के होने वाला विकलचारित्र अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत रूप है। इनके क्रमशः पाँच, तीन और चार भेद हैं। हिंसादि पाँच पापों का स्थूल रूप से त्याग करना अणुव्रत है। तीनों योगों के कृत, कारित और अनुमोदन रूप संकल्प से त्रस जीवों की हिंसा न करना स्थूलहिंसा त्याग रूप अहिंसाणुव्रत है। छेदना, बाँधना, पीड़ा देना, अधिक भार लादना और आहार रोकना–ये पाँच इसके अतिचार हैं। इसी प्रकार स्थूल झूठ

न स्वयं बोलना और न दूसरों से बुलवाना तथा ऐसा सत्य भी न स्वयं बोलना है और न दूसरों से बुलवाना है जो दूसरों के प्राणघात के लिये हो वह स्थूल झूठ त्याग रूप सत्याणुव्रत है। मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, पैशून्य, कूटलेख लिखना और धरोहर को हड़पना-ये पॉच इसके अतिचार हैं। किसी की रखी हुई, गिरी हुई अथवा भूली हुई वस्तु को बिना दिये हुये न स्वयं ग्रहण करना और न उठाकर दूसरों को देना स्थूल स्तेय परित्याग रूप अचौर्याणुव्रत है। चौर प्रयोग, चौरार्थादान, विलोप, सदृश मिश्रण और हीनाधिक विनिमान- ये पॉच इसके अतिचार हैं। पाप के भय से न स्वयं परस्त्री का गमन करना और न दूसरों को कराना परस्त्री त्याग रूप स्वदारसन्तोप नाम का अणुव्रत है। अन्यविवाहकरण, अनङ्गक्रीड़ा, विटत्व, विपुलतृपा और इत्वरिकागमन- ये पॉच इसके अतिचार हैं। धन, धान्य आदि परिग्रह का परिमाण कर उससे अधिक वस्तुओं में इच्छा न करना परिमित परिग्रह अथवा इच्छा परिमाण नाम का अणुव्रत है। अतिवाहन, अतिसंग्रह, अतिविस्मय, अतिलोभ और अतिभारारोपण ये पाँच इसके अतिचार हैं। इन पॉच अणुव्रतों का अतिचार रहित पालन करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

इसी क्रम में आचार्य समन्तभद्र ने श्रावक के आठ मूलगुणों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार मद्य, मांस और मधु—इन तीन मकारों के त्याग के साथ पॉच अणुव्रतों का पालन करना—ये आठ श्रावक के मूलगुण हैं।

मूलगुणों की वृद्धि करने वाले दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत— ये तीन गुणव्रत हैं। सूक्ष्म पापों की निवृत्ति के लिये दशों दिशाओं में प्रसिद्ध नदी, समुद्र आदि के बाहर आजीवन न जाने की प्रतिज्ञा करना दिग्व्रत है। प्रमादवश ऊपर, नीचे अथवा तिर्यग् दिशा का उल्लंघन करना, क्षेत्रवृद्धि करना और कृतमर्यादा का विस्मरण करना— ये पाँच उसके अतिचार हैं।

दिग्व्रत में की गई मर्यादा के भीतर प्रयोजन रहित पाप सहित योगों से निवृत्त होना अनर्थदण्डव्रत है। पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या—ये पाँच अनर्थदण्ड हैं। पशुओं को कष्ट पहुँचाने वाली क्रियायें,

व्यापार, हिंसा, आरम्भ और ठगविद्या आदि की कथाओं के प्रसङ्ग उपस्थित करना पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड है। फरसा, तलवार, कुदाली, अग्नि, हथियार, विष और जंजीर आदि हिंसा के हेतुओं का दान करना हिंसादान है। द्वेषवशात् किसी प्राणी के वध, बन्धन और छेद आदि का तथा रागवशात् परस्त्री आदि का चिन्तन अपध्यान है। आरम्भ परिग्रह, साहस, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, अहंकार और काम के द्वारा चित्त को कलुषित करने वाले शास्त्रों का सुनना दुःश्रुति है। बिना प्रयोजन के पृथिवी, जल, अग्नि और वायु का आरम्भ करना, वनस्पति का छेदना, स्वयं घूमना और दूसरों को घुमाना प्रमादचर्या है। राग के वशीभूत हास-परिहास में गन्दे शब्दों का प्रयोग करना, शरीर की कुचेष्टा करना, अधिक बोलना, भोगोपभोग सम्बन्धी सामग्री का अधिक मात्रा में संग्रह करना और निष्प्रयोजन बिना विचारे किसी कार्य को प्रारम्भ करना– ये पॉच अनर्थदण्डविरति व्रत के अतिचार हैं।

परिग्रह परिमाणव्रत की सीमा के भीतर विषय सम्बन्धी राग से होने वाली आसक्ति को कृश करने के लिये प्रयोजनभूत भी इन्द्रिय-विषयों का परिसीमन करना भोगोपभोगपरिमाण व्रत है। अणुव्रती को प्रमाद से बचने के लिये मद्य, मांस, मधु और बहुत हिंसा होने से मूली, गीला अदरक, मक्खन, नीम के फूल और केवड़ा के फूल आदि का त्याग कर देना चाहिये। साथ ही अहितकारी और गोमूत्रादि अनुपसेव्य वस्तुओं का भी त्याग कर देना चाहिये। इन वस्तुओं का जब आजीवन त्याग किया जाता है तो वह यम कहलाता है और जब एक निश्चित अवधि के लिये त्याग किया जाता है तो वह नियम कहलाता है। विषय रूपी विष में आदर रखना, भोगे हुये विषयों का पुनः पुनः स्मरण करना, वर्तमान भोगों में अधिक आकांक्षा रखना, आगामी विषयों में अधिक तृष्णा रखना और वर्तमान विषयो का अति आसक्ति से अनुभव करना ये पाँच भोगोपभोगपरिमाण व्रत के अतिचार हैं।

देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य– ये चार शिक्षाव्रत हैं। अणुव्रती श्रावक द्वारा मर्यादित क्षेत्र में भी प्रतिदिन घड़ी-घण्टे के लिये देश को संकुचित करना देशावकाशिकव्रत है। मर्यादित क्षेत्र के भीतर रहते हुये

उसके वाहर प्रेपण, शव्द, आनयन, रूपाभिव्यक्ति और पुद्गलक्षेप करना– ये पॉच उसके अतिचार हैं।

मर्यादा के भीतर और वाहर सम्पूर्ण रूप से पॉच पापों का एक निश्चित अवधि के लिये त्याग करना सामायिक है। यह प्रतिदिन की जाती है। इसमें आरम्भादि सभी परिग्रहों का त्याग हो जाने से श्रावक उपसर्ग के कारण कपड़े में लिपटे हुये मुनि के समान हो जाता है। वह गृहीत अनुष्ठान को न छोड़ते हुये मौन धारण करता है तथा शीतोष्णादि परीपहों और उपसर्ग को भी सहन करता है। इस अवधि में श्रावक दुःख रूप संसार के स्वरूप और उसके विपरीत मोक्ष के स्वरूप का चिन्तन करता है। मन, वचन और काय की खोटी क्रिया, अनादर तथा अस्मरण– ये पॉच सामायिक के अतिचार हैं।

चतुर्दशी और अष्टमी के दिन सर्वदा के लिये व्रत की भावना से चार प्रकार के आहार का त्याग करना प्रोपधोपवास है। उपवास के दिन पॉच पापों के साथ ही आरम्भ और श्रृंगारादि का भी त्याग किया जाता है। उपवास करने वाला श्रावक उक्त अवधि में धर्मरूपी अमृत का स्वयं सेवन करता है और दूसरों को कराता है। अथवा प्रमाद का त्याग कर ज्ञान-ध्यान में लीन हो जाता है। प्रोपधोपवास में धारणा और पारणा के दिन भी एक-एक बार ही आहार ग्रहण किया जाता है। बिना देखे और बिना शोधे पूजादि उपकरणों को ग्रहण करना, मल-मूत्रादि का विसर्जन करना, विस्तर आदि को विछाना, अनादर और अस्मरण– ये पाँच इसके अतिचार हैं।

प्रतिदान की अपेक्षा किये बिना गुणों के खजाना गृहत्यागी तपस्वी को विधि-द्रव्य आदि सम्पत्ति के अनुसार धर्म के निमित्त दान देना वैयावृत्य है। इसके अतिरिक्त गुणो के अनुराग से संयमी के जीवन में आई हुई विपत्तियों के निराकरण हेतु पैरों आदि का सम्मर्दन करना भी वैयावृत्य है। सप्त गुणों सहित शुद्ध दाता के द्वारा गृह सम्बन्धी कार्य तथा खेती आदि के आरम्भ से रहित तथा सम्यग्दर्शनादि गुणों सहित मुनियों को नवधाभक्तिपूर्वक आहार आदि देना दान है। दान की विशेपता यह है कि जिस प्रकार जल खून को धो देता है उसी प्रकार मुनियों को दिया गया दान गृहस्थी के कार्यो से सञ्चित

सुदृढ़ कर्म को भी नष्ट कर देता है। मुनियों को नमस्कार करने से उच्चगोत्त, आहारादि दान देने से भोग, उपासना से सम्मान, भक्ति से सुन्दर रूप और स्तुति से यश की प्राप्ति होती है। उचित समय में योग्य पात्र को दिया गया थोड़ा भी दान पृथिवी में पड़े हुये वट-वृक्ष के बीज के समान समय आने पर अभीष्ट फल को देने वाला होता है। आहार, औषधि, उपकरण और आवास के भेद से वैयावृत्य चार प्रकार का है। श्रावक के लिये प्रतिदिन अर्हन्त भगवान की पूजा भी करनी चाहिये। हरित पत्र आदि से देने योग्य वस्तु को ढकना, हरित पत्र आदि पर देने योग्य वस्तु को रखना, अनादर, अस्मरण और मात्सर्य– ये पॉच वैयावृत्य के अतिचार हैं।

प्रतिकार रहित उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग के उपस्थित होने पर धर्म के लिये शरीर का त्याग करना सल्लेखना है। यतः अन्त समय की यह क्रिया तप का फल है, अतः सल्लेखना धारण करने वाले को चाहिये कि वह प्रीति, वैर, ममत्वभाव और परिग्रह को छोड़कर शुद्ध मन से प्रिय वचनों द्वारा अपने कुटुम्बी एवं अन्य मिलने-जुलने वालों से क्षमा कराकर स्वयं क्षमा करे तथा कृत, कारित और अनुमोदनापूर्वक सभी पापों की निश्छल भाव से आलोचना कर मरण पर्यन्त स्थिर रहने वाले महाव्रतों को धारण करे। साथ ही शोक, भय, खेद, स्नेह, कालुष्य और अप्रीति को त्यागकर धैर्य और उत्साह के साथ शास्त्ररूप अमृत से चित्त को प्रसन्न करे। फिर क्रमशः आहार छोड़कर दुग्धादि चिकने पदार्थो का सेवन करे, तदनन्तर दुग्धादि को छोड़कर स्निग्धता रहित छाँछ आदि पेयों का सेवन करे। पुनः उनका भी त्यागकर गर्म जल का सेवन करे और अन्त में जल का भी त्यागकर उपवास पूर्वक पञ्च नमस्कार मन्त्र का जाप करते हुये शरीर का विसर्जन करे। जीविताशंसा, मरणाशंसा, भय, मित्रस्मृति और निदान– ये पाँच सल्लेखना के अतिचार हैं। सल्लेखना धारण करने वाला क्षपक पूर्ण चारित्र की प्राप्ति होने पर उसी भव से अथवा कमी रहने पर परम्परा से मुक्ति को प्राप्त करता है।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमायें कही गई हैं, जो क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होती हैं। सम्यग्दर्शन से शुद्ध; संसार, शरीर और भोगों से उदासीन, पञ्च परमेष्ठी

की शरण को प्राप्त होते हुये अष्ट मूलगुणों को धारण करना दार्शनिक प्रतिमा है। शल्य रहित निरतिचार बारह व्रतों का पालन करना व्रत प्रतिमा है। यथोक्त नियमपूर्वक तीनों कालों में वन्दना करना सामायिक प्रतिमा है। पर्व के दिनों में प्रोषध सम्बन्धी नियमों का पालन करना प्रोषधोपवास प्रतिमा है। अपक्व, मूल, फल, शाक, शाखा, करीर, कन्द, प्रसून और बीज को न खाना सचित्तत्याग प्रतिमा है। रात्रि में चतुर्विध आहार न करना रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा है। काम-सेवन से विरत होना ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। प्राणघात के कारण खेती, व्यापार आदि आरम्भ से निवृत्त होना आरम्भत्याग प्रतिमा है। दश प्रकार के बाह्य परिग्रहों से ममत्व त्यागकर आत्मस्वरूप में स्थित होना परिग्रहत्याग प्रतिमा है। आरम्भजनित ऐहिक कार्यो में अनुमति न देना अनुमतित्याग प्रतिमा है और वन में जाकर मुनियों के समीप व्रत ग्रहणकर भिक्षा से प्राप्त भोजन करते हुये एक वस्त्र धारणकर तपश्चरण करना उद्दिष्टत्याग प्रतिमा है।

पाप जीव का शत्रु है और पुण्य जीव का मित्र अथवा हितकारी है, ऐसा विचार करता हुआ श्रावक यदि आगम को जानता है तो वह कल्याण का भाजन होता है और सभी पदार्थो की सिद्धि करता है।

अन्त में आचार्य समन्तभद्र ने कामना की है कि– सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी सुख की भूमि होती हुई। मुझे उसी तरह सुखी करे जिस तरह सुख की भूमि कामिनी कामी पुरुष को सुखी करती है। सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी निर्दोष शील (तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत) से युक्त होती हुई मुझे उसी तरह रक्षित करे जिस तरह निर्दोष शीलवती माता पुत्र को रक्षित करती है। सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी मूलगुण रूपी अलङ्कारों से भूषित मुझे उसी तरह पवित्र करे जिस प्रकार गुणभूषित कन्या कुल को पवित्र करती है।

सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव
सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका सम्पुनीता–
ज्जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ।।[12]

आचार्य समन्तभद्रकृत श्रावकाचार के उपर्युक्त विस्तृत विवेचन से हमें

ज्ञात होता है कि उन्होंने जमीन से जुड़े व्यक्तियों को ध्यान में रखकर धर्मानुकूल सरल शब्दों में अपनी बात कही है। उन्होंने ऐसा कोई हवाई फायर नहीं किया है जो आम आदमी की समझ से दूर हो। जहाँ आचार्य कुन्दकुन्द निश्चय सम्यग्दर्शन की चर्चा करते हैं और आचार्य उमास्वामी तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं वहीं आचार्य समन्तभद्र परमार्थभूत आप्त, आगम और गुरु के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। साथ ही आठ अङ्गों सहित, तीन मूढ़ताओं और आठ मदों से रहित होना भी अपेक्षित है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य समन्तभद्र की दृष्टि में दीपक की लौ की तरह एक मात्र आप्त, आगम और गुरु के प्रति समर्पण होना ही सम्यग्दर्शन है। ऐसा नहीं है कि इधर सच्चे आप्त, आगम और गुरु के प्रति भी समर्पित और उधर रागी-द्वेषी देव, शास्त्र और गुरु के प्रति भी समर्पित। तीन मूढ़ताओं का निषेध कर उन्होंने गंगा गये सो गंगादास और जमना गये सो जमनादास जैसी दोलायमान स्थिति से श्रावकों को सावधान किया है। आठ मदों के निषेध के मूल में वे यह कहना चाहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव को कुल और जाति आदि के अहंकार से दूर रहना चाहिये, क्योंकि कुल और जाति आदि का सम्बन्ध मात्र शरीर से है आत्मा से नहीं। अन्य पद भी इह लौकिक ही हैं, स्थायी नहीं। इसी जन्म के साथ छूट जाने वाले हैं। सम्यग्दर्शन के आठों अङ्गो सहित होने का तात्पर्य यह है कि आधे-अधूरे का कोई अर्थ नही पूर्णता में ही फलसिद्धि है। मशीन का एक भी पेंच-पुर्जा इधर-उधर हुआ नहीं कि उत्पादन या तो रुक जायेगा या फिर उसमें खोट आ जायेगी, ठीक वैसे ही जैसे एक अक्षर कम होने पर मन्त्र विष की वेदना को दूर करने में समर्थ नहीं होता है।

आचार्य समन्तभद्र ने सम्यग्दर्शन के लक्षण में 'आप्त' शब्द का प्रयोग किया है, 'देव' आदि का नहीं। आप्त शब्द में प्रमाणिकता है[13], जबकि देव शब्द चतुर्गति में भ्रमण करने वाले रागी-द्वेषी का वाचक भी हो सकता है। ईश्वर शब्द का प्रयोग करने से सृष्टिकर्त्ता का बोध हो जाता, जो जैनदर्शन में न तो अभीष्ट है और न ही जैन सिद्धान्तों के अनुकूल ही है। इसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि शब्दों का प्रयोग करने पर सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार करने वाले उक्त देवताओं का बोध हो जाता। अतः आचार्य समन्तभद्र

द्वारा प्रयुक्त आप्त शब्द ही सर्वथा उपयुक्त है और ऐसे आप्त द्वारा प्रणीत आगम तथा तदनुकूल आचरण करने वाले गुरु ही सच्चे होंगे, अन्यथा नहीं।

आप्त शब्द को और स्पष्ट करने के लिये उन्होंने आप्त की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया है— धर्म के प्रति आस्था रखने वाला कोई भी व्यक्ति अपने साधर्मी भाई का तिरस्कार नहीं करेगा और करता है तो वह अपने धर्म का ही तिरस्कार करता है। क्योंकि धर्म धार्मिकजनों के अभाव मे सम्भव नहीं है— न धर्मो धार्मिकैर्बिना।

आचार्य समन्तभद्र की दृष्टि में कुल और जाति आदि का कोई महत्त्व नहीं है। उनकी दृष्टि में धर्म ही सब कुछ है। तिर्यक् योनि में उत्पन्न हुआ कुत्ता भी धर्म के प्रभाव से देव हो सकता है और अधर्म के कारण देव भी कुत्ता हो जाता है— श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्बिषात्।

आचार्य समन्तभद्र की दृष्टि में मोही मुनि भी हेय है और मोक्षमार्ग में स्थित निर्मोही गृहस्थ भी उपादेय है। क्योंकि मोक्षमार्गस्थ गृहस्थ बढ़ते क्रम में स्थित है, अतः समय आने पर वह मुक्ति को अवश्य प्राप्त करेगा और मोही मुनि घटते क्रम में स्थित है, अतः वह नरक तिर्यञ्चादि गति का पात्र होगा। मोक्षमार्गस्थ निर्मोही गृहस्थ ऊर्ध्वमुखी है और मोही मुनि पतनोन्मुखी। मोक्षमार्गस्थ निर्मोही गृहस्थ का भविष्य उज्ज्वल है और मोही मुनि का भविष्य अन्धकारमय। शास्त्रों में मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट आयु सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर बतलाई गई है। अतः उससे बचने के लिये जीव को मोह का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

आचार्य समन्तभद्र ने मोक्षमार्ग के बीज रूप सम्यग्दर्शन की जो महिमा गाई है वह अचिन्त्य है। इससे नरक-तिर्यञ्चादि गतियों का अभाव तो हो ही जाता है, मनुष्य गति में भी वह नपुंसक नहीं होगा। स्त्री पर्याय को प्राप्त नहीं होगा। नीच कुल में जन्म नहीं लेगा। उच्च कुल में जन्म लेकर भी विकृत अङ्गों वाला नहीं होगा, अल्पायु नहीं होगा और दरिद्रपने को भी प्राप्त नहीं होगा। अपितु उसके विपरीत जब यह सम्यग्दर्शन विकसित होगा पत्र-पुष्पादि जब इसमें लगेंगे तो यह स्वर्ग और मोक्षरूप फल को देने वाला होगा।

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानम्
राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोर्चनीयम्।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकम्
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः।।[14]

प्राचीन परम्परा में जैन साहित्य को दो भागों में विभक्त किया गया है– अङ्ग और अङ्गबाह्य।[15] जिनका सीधा सम्बन्ध तीर्थङ्कर की वाणी से है तथा गणधरों द्वारा रचित है, वह अङ्ग साहित्य है। ये संख्या में बारह होने के कारण द्वादशाङ्गवाणी के नाम से जाने जाते हैं। बाद में उन्हीं अङ्गों को आधार बनाकर परवर्ती आचार्यो द्वारा रचित साहित्य अङ्गबाह्य है। आचार्य समन्तभद्र ने जैन साहित्य को प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग– इन चार भागों में विभक्त किया है। चारों अनुयोगो की विषय वस्तु देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य समन्तभद्र द्वारा किया गया वह विभाजन अङ्गबाह्य साहित्य को आधार बनाकर किया गया है। यद्यपि आचार्य समन्तभद्र ने चारों अनुयोगों के विषय मात्र का उल्लेख किया है। उन्होंने कहीं किसी ग्रन्थ का इस प्रकार उल्लेख नहीं किया है कि अमुक ग्रन्थ अमुक अनुयोग का ग्रन्थ है, किन्तु परवर्ती विद्वानो ने विषय को आधार बनाकर चारों अनुयोगों के ग्रन्थों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। समन्तभद्र द्वारा बतलाये गये चारों अनुयोगों के विषय को ध्यान में रखकर अङ्ग साहित्य को भी अनुयोगों में विभक्त किया जा सकता है, किन्तु चारों अनुयोगों में अङ्गसाहित्य को विभक्त करने का उल्लेख ग्रन्थों में मुझे देखने को नही मिला है। हाँ! अनुयोगों के क्रम को देखकर ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि आचार्य समन्तभद्र का यह क्रम-निर्धारण एक सामान्य अनगढ़ व्यक्ति को गढ़ने की प्रक्रिया है।

सामान्यतया व्यक्ति सर्वप्रथम उन तिरेसठशलाका पुरूषों के जीवन का अध्ययन करे और जाने कि ससार और शरीर की स्थिति क्या है? और उससे उभरने के लिये हमारे आदर्श पुण्यश्लोक पुरुषों ने क्या किया है? तथा कैसे मोक्षमार्ग में आरूढ़ हुये हैं? यह सब जानने के पश्चात् करणानुयोग का स्वाध्याय कर कर्म और कर्मफल को जाने। तदनन्तर चरणानुयोग का स्वाध्याय

कर तदनुसार आचरण करे और अन्त में द्रव्यानुयोग का स्वाध्याय कर आत्मतत्त्व का चिन्तन करे। इस क्रम से अनुयोगों का स्वाध्याय करने वाला एक सामान्य व्यक्ति भी अपनी धार्मिक यात्रा प्रारम्भ कर अपनी मंजिल को प्राप्त कर सकता है।

मोक्षमार्ग की यात्रा का अन्तिम पड़ाव चारित्र है। इसके बिना अनन्त आनन्द के सागर सिद्धत्व पद की प्राप्ति असम्भव है। चारित्र के जिन दो भेदों-सकल संयम और विकल संयम का उल्लेख किया गया है, उनमें जीवन को मुक्ति तो सकलसंयम से ही होगी, किन्तु सभी जीवों में एक समान शक्ति नहीं होती है। अतः जो शक्ति सम्पन्न हैं वे थोक में सदाचरण करने हेतु सकलसंयम धारण करते हैं और जो अल्पशक्ति वाले हैं, वे फुटकर-फुटकर व्रतों का पालन करने हेतु विकलसंयम धारण करते हैं।

अल्प शक्ति वाले व्यक्ति मुनिधर्म की पूर्वावस्था श्रावकधर्म का पालन करें, इसके लिये पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों तथा जीवन के अन्त में सल्लेखना धारण करने का विधान है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार सामाजिक स्थितियों में निरन्तर उतार-चढ़ाव आता रहता है। अतः पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यो के विचारों में मतभेद भी देखने को मिलता है, किन्तु इसे मनभेद नहीं समझना चाहिये। आचार्य सोमदेवसूरि का यह कथन सर्वत्र स्वागत योग्य है कि–

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सक्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्।।[16]

मूल दो बातों का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिये– प्रथम यह कि जीव के धर्म के मूल सम्यग्दर्शन की हानि नहीं होनी चाहिये और द्वितीय यह कि जीव द्वारा स्वीकृत व्रतों में किसी भी प्रकार का दूषण नहीं लगना चाहिये।

यहाँ आचार्य समन्तभद्र के विवेचन में जो पूर्वाचार्यो से मतभेद है, उसमें उक्त दोनों मूल बातों से कहीं कोई टकराव नहीं है। पाँच अणुव्रतों को सभी पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यो ने प्रायः समान रूप से स्वीकार किया है। हाँ!

आचार्य वीरनन्दी, वीर चामुण्डराय और पण्डितप्रवर आशाधर ने रात्रिभोजन त्याग को छठॉ अणुव्रत माना है।[17]

अणुव्रतों की रक्षा के लिये अतिचारों से बचना अपेक्षित है। आचार्य उमास्वामी ने तो व्रतों में स्थिरता लाने के लिये प्रत्येक व्रत की पॉच-पॉच भावनाओं का उल्लेख किया है तथा अन्य भी अनेक भावनाओं का पृथक् विवेचन किया है।[18] तत्त्वार्थसूत्र और आचार्य समन्तभद्रकृत श्रावकाचार में उल्लेखित अतिचारों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थसूत्र में परिग्रह परिमाण व्रत के जो अतिचार बतलाये गये हैं, उनसे पॉच की एक निश्चित संख्या का अतिक्रमण होता है तथा भोगो-पभोगव्रत के जो अतिचार बतलाये गये हैं, वे केवल भोग पर ही घटित होते हैं, उपभोग पर नहीं, जबकि व्रत के नामानुसार उनका दोनों पर ही घटित होना आवश्यक है। अतः आचार्य समन्तभद्र ने उक्त दोनों ही व्रतों के एक नये ही प्रकार के पॉच-पॉच अतिचारों का निरूपण किया है, जिससे आचार्य समन्तभद्र का अतिचार विवेचन सर्वाधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।[19]

सभी आचार्यो ने श्रावक के अष्ट मूलगुणों का उल्लेख किया है, किन्तु वे आठ मूलगुण कौन-कौन से हैं? इसमें आचार्यो में परस्पर मतभेद है। भिन्न-भिन्न विचारधारा के बावजूद भिन्न-भिन्न आचार्यो का मूल उद्देश्य एक मात्र अहिंसा ही है और वह कहीं भी विखण्डित नहीं हुआ है।

आचार्य समन्तभद्र ने तीन मकार और पॉंच अणुव्रतों को श्रावक के अष्ट मूलगुण स्वीकार किया है।[20] इसी प्रकार आचार्य शिवकोटि ने भी उपर्युक्त आठ मूलगुण स्वीकार किये हैं, किन्तु अज्ञानियों अथवा बालकों की दृष्टि से उन्होंने पञ्चाणुव्रतों के पालने के स्थान पर पञ्च उदम्बरफलों के त्याग का ही अष्टमूलगुणों में समावेश किया है।[21] महापुराणकार आचार्य जिनसेन ने प्रायः आचार्य समन्तभद्र का ही अनुसरण किया है। हॉं! इतना विशेष है कि उन्होंने मधु के स्थान पर द्यूत (जुआ) त्याग का उल्लेख किया है और मधुत्याग को मांसत्याग में गर्भित कर लिया है।[22]

आचार्य सोमदेवसूरि[23] आचार्य अमृतचन्द्रसूरि[24], आचार्य पद्मनन्दी[25],

आचार्य देवसेन[26] पण्डितप्रवर आशाधर[27] और कवि राजमल्ल[28] आदि ने तीन मकारों और पञ्च उदम्बर फलों का त्याग— इन आठ को ही श्रावकों के मूलगुण कहा है। इतना ही नहीं हिन्दी भाषा में लिखित कवि पद्मकृत श्रावकाचार[29], किशनसिंहकृत क्रियाकोप[30] और दौलतरामकृत क्रियाकोप[31] में भी उपर्युक्त तीन मकारों और पञ्च उदम्बर फलों के त्याग को ही अष्ट मूलगुण कहा है।

पण्डितप्रवर आशाधर ने अपने सागारधर्मामृत में क्वचित् के नाम से जिन अष्टमूलगुणों का उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं— मद्य त्याग, मांस त्याग, मधु त्याग, रात्रि भोजन त्याग, पञ्चोदम्वरफल त्याग, देव वन्दना, जीव दया और जलगालन।[32] श्रावक के इन अष्ट मूलगुणों पर भी विद्वानों को विचार करना चाहिये।

आचार्य समन्तभद्र ने श्रावक द्वारा स्वीकृत अणुव्रतों की रक्षा के लिये तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का उल्लेख किया है। इन दोनों को मिलाकर सप्तशील भी कहते हैं। आचार्य उमास्वामी ने सप्तशीलों का एक साथ कथन किया है।[33] उन्होंने सप्तशीलों को पृथक्-पृथक् गुणव्रत और शिक्षाव्रत जैसे भेदों में विभाजित नहीं किया है। शील शब्द का प्रयोग भी उन्होंने अतिचारों का उल्लेख करने से पूर्व किया है— व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम्।[34] जबकि आचार्य समन्तभद्र ने न केवल विभाजन किया है, अपितु भिन्न-भिन्न परिच्छेदों में भी उनका विवेचन किया है। उमास्वामी ने दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्ड विरति— इन तीन का सप्तशीलों के अन्तर्गत प्रारम्भ में उल्लेख किया है। अतः प्रथम इन तीन को गुणव्रतों और बाद के चार को शिक्षाव्रतों की संज्ञा दी जाये तो स्वामी समन्तभद्र ने जिन गुणव्रतों का उल्लेख किया है, उनमें भेद प्रतीत होता है। अर्थात् उमास्वामी के अनुसार उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत शिक्षाव्रत है, जबकि आचार्य समन्तभद्र के अनुसार वह गुणव्रत है। उमास्वामी ने जिसे उपभोग कहा है वह आचार्य समन्तभद्र के अनुसार भोग है। जिसे उमास्वामी ने परिभोग कहा है, वह स्वामी समन्तभद्र के अनुसार उपभोग है। स्वामी समन्तभद्र ने भोग और उपभोग की स्पष्ट परिभाषा दी है—

भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पञ्चेन्द्रियो विषयः।।[35]

भोजन और वस्त्र आदि जो पञ्चेन्द्रिय के विषय हैं, उनमें जो एक बार भोगकर छोड़ देने योग्य है, वह भाग है और जो भोगकर पुनः भोगने योग्य है, वह उपभोग है। सप्त शीलो के अन्तर्गत प्रथम तीन गुणव्रत स्थानीय व्रतों में उमास्वामी ने जो देशव्रत ग्रहण किया है वह आचार्य समन्तभद्र की दृष्टि में देशावकाशिकव्रत है, जिसे उन्होंने शिक्षाव्रतों में ग्रहण किया है। ये दोनों परिभाषा की दृष्टि से एक ही हैं, मात्र नामों में अन्तर है। उमास्वामी ने सप्त शीलों में अतिथि संविभागव्रत स्वीकार किया है, जबकि समन्तभद्र ने उसके स्थान पर वैयावृत्य को परिगणित किया है। उमास्वामी ने श्रावक के एक विशेष कर्तव्य दान का पृथक् उल्लेख मात्र किया है[36] और उसके भेदों का तो नाम भी नहीं लिया है, वहीं आचार्य समन्तभद्र ने दान को वैयावृत्य के अन्तर्गत माना है और उसके चार भेद भी किये हैं।

सल्लेखना के पाँच अतिचारों में उमास्वामी ने सुखानुबन्ध (पूर्व में भोगे गये भोगों का स्मरण करना) का उल्लेख किया है[37], जबकि आचार्य समन्तभद्र ने उसके स्थान पर भय को ग्रहण किया है, जो इहलोक और परलोक रूप भय की ओर इशारा करता है। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी समन्तभद्र ने सुखानुबन्ध को निदान में परिगृहीत कर भय को पृथक् स्थान दिया है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने जहाँ श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का मात्र नामोल्लेख किया है और आचार्य उमास्वामी ने इनकी चर्चा भी नहीं की है उनका विस्तार से उल्लेख आचार्य समन्तभद्र ने किया है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि कुन्दकुन्द और उमास्वामी ने प्रसङ्गवशात् श्रावकधर्म की चर्चा की है, जबकि आचार्य समन्तभद्र ने श्रावकधर्म को लक्ष्य करके उसका साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य समन्तभद्र ने श्रावक की आचार संहिता का जो विस्तृत और स्पष्ट विवेचन किया है, वह आद्य तो है ही,

युक्तिसंगत भी है। अतः उसका सम्यक्तया परिपालन कर आत्म-कल्याण करना चाहिये।

ग्रन्थ - सन्दर्भ

1. समीचीन धर्मशास्त्र, भाष्यकार-जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' प्रथम संस्करण, प्रका – वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, सन् 1955 प्रस्तावना, पृष्ठ 37।
2. श्रावकाचार संग्रह, चतुर्थभाग, सम्पा. एव अनु –सिद्धान्ताचार्य प. हीरालाल शास्त्री न्यायतीर्थ, प्रका – फलटण, प्रथम सस्करण, सन् 1979, ग्रन्थ और ग्रन्थकार परिचय, पृ 17।
3. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, लेखक – जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर', प्रका – श्रीवीर शासन सघ, कलकत्ता, प्रथम सस्करण सन् 1956, पृष्ठ 172।
4. वही, पृष्ठ 149 से 486 तक
5. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, हिन्दी रूपान्तरकार एव सम्पादक – पं. पन्नालाल 'वसन्त' साहित्याचार्य, प्रकाशक– वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, प्रथम सस्करण, सन् 1972, प्रस्तावना, पृष्ठ 9।
6. चारित्रपाहुड, गाथा 5।
7. वही, गाथा 20।
8. वही, गाथा 21 से 25।
9. तत्त्वार्थसूत्र 7/1
10. निःशल्यो व्रती – तत्त्वार्थसूत्र 7/18
11. तत्त्वार्थसूत्र 7/17-38
12. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, पद्य 150
13. द्रष्टव्य, आप्टेकृत संस्कृत-हिन्दी कोश
14. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, पद्य 41
15. तत्त्वार्थसूत्र 1/10
16. यशस्तिलक चम्पू
17. आचार्य समन्तभद्र संगोष्ठी, सम्पादक – प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जैन एव डॉ जयकुमार जैन, प्रकाशक – आचार्य शान्तिसागर (छाणी) स्मृति ग्रन्थ माला मे प्रकाशित रत्नकरण्ड तथा अन्यान्य श्रावकाचार : प्रो राजाराम जैन, पृष्ठ 32
18. तत्त्वार्थसूत्र 7/2-12

19. श्रावकाचार सग्रह, चतुर्थभाग, प्रस्तावना, पृष्ठ 111
20. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, पद्य 66।
21. रत्नमाला, पद्य 19 (श्रावकाचार सग्रह, भाग 3, पृष्ठ 411)
22 द्रष्टव्य, श्रावकाचार संग्रह, भाग 1, पृष्ठ 251।
23. यशास्तिलक चम्पू महाकाव्य (उत्तरार्द्ध) 7/1
24 पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य 61
25 पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका, श्रावकाचार, पद्य 23
26. श्री देवसेन विरचित प्राकृत भावसंग्रह (श्रावकाचार सग्रह, भाग 3, पृ. 440)
27. सागारधर्मामृत 2/2
28. पञ्चाध्यायी 2/726
29. पद्मकृत श्रावकाचार, ढाल नरेसुआनी पद्य 17 (श्रावकाचार सग्रह, भाग 5, पृ 41)
30 किशनसिंहकृत क्रियाकोष, पद्य 63-64 (श्रावकाचार संग्रह, भाग 5, पृ. 115)
31 श्री दौलतरामकृत क्रियाकोष, पद्य 74-75 (श्रावकाचार सग्रह, भाग 5, पृ. 244)
32 सागारधर्मामृत 2/18 (श्रावकाचार सग्रह, भाग 2, पृष्ठ 8)
33 तत्त्वार्थसूत्र 7/21
34. वहीं, 7/24
35 रत्नकरण्डकश्रावकाचार, पद्य 83
36. तत्त्वार्थसूत्र 7/38
37 वही, 7/37

—रीडर एवं अध्यक्ष—जैन-बौद्धदर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आचार्य पूज्यपाद और उनका इष्टोपदेश

—डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन

भारतीय वसुन्धरा रचनाकारों के लिए बड़ी उर्वर रही है। जिस पृष्ठभूमि की आवश्यकता एक साहित्य सर्जक को होती है वैसी पृष्ठभूमि भारतीय वसुन्धरा और उस पर निवास करने वाले लोगों की रही है। यहाँ व्यक्ति का आदर-सम्मान उसके व्यक्ति होने के कारण नहीं अपितु उसके व्यक्तित्व की चमक-दमक एवं प्रदेय से आँका जाता है। 'इष्टोपदेश' ग्रन्थ के रचयिता आचार्य पूज्यपाद ऐसे ही साहित्य-सर्जकों में से हैं जिन्होंने अपनी महनीय कृतियों से आम जन को तो उपकृत किया ही है स्वयं को भी सम्माननीयों की श्रेणी में बिठाया। उनके व्यक्तित्व में हमें एक संस्कृतज्ञ कवि, दार्शनिक, वैयाकरण, तार्किक, वाग्मी और ध्येयवान् व्यक्तित्व के दर्शन सहज ही हो जाते हैं। वे साहित्य जगत की अमर विभूति हैं। आदिपुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन ने उन्हें कवियों में तीर्थकर मानते हुए उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का गुणगान किया है। वे लिखते हैं—

कवीनां तीर्थकृद्देवः किं तरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम्।।[1] (आदिपुराण 1/52)

अर्थात् जो कवियों में तीर्थकर के समान थे और जिनका वचन रूपी तीर्थ विद्वानों के वचनमल को धोने वाला है उन देव अर्थात् देवनन्दि आचार्य की स्तुति करने में भला कौन समर्थ है?

यहाँ उल्लेखनीय है कि आचार्य देवनन्दि ही आचार्य पूज्यपाद हैं। श्रवण बेलगोला से प्राप्त शिलालेख के अनुसार—

यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्धया महत्या स जिनेन्द्र बुद्धिः।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयं।।

जैनेन्द्रे निज शब्द-भोगमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा।
सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकवितां जैनाभिषेकः स्वकः।।
छन्दस्सूक्ष्मधियं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदा–
माख्यातीह स पूज्यपाद-मुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः।।[2]

अर्थात् जिनका प्रथम नाम देवनन्दि था। वे बुद्धि की महत्ता के कारण जिनेन्द्रबुद्धि और देवताओं द्वारा चरण पूजे जाने के कारण पूज्यपाद कहलाये। उन्होंने जैनेन्द्र व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि जैसा उत्कृष्ट सिद्धान्तग्रन्थ, जैन अभिषेक (जन्माभिषेक) तथा अपनी सूक्ष्म बुद्धि से समाधिशतक आदि ग्रन्थों की रचना की। वह पूज्यपाद आचार्य मुनियों के समूहों के द्वारा पूजनीय हैं।

आचार्य पूज्यपाद के पिता का नाम माधवभट्ट और माता का नाम श्रीदेवी ज्ञात होता है। ये कर्नाटक के कोले नामक ग्राम के निवासी और ब्राह्मण कुलभूषण थे। बाल्यकाल में ही नाग द्वारा निगले गये मेंढक की व्याकुलता देखकर इन्हें संसार से वैराग्य हो गया और उन्होंने दिगम्बरी जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। वे मूलसंघ के अन्तर्गत नन्दिसंघ बलात्कार गण के पट्टाधीश थे। विद्वानों ने इसका समय ईस्वी सन् की छठी शताब्दी माना है।

आचार्य पूज्यपाद द्वारा विरचित रचनाएं इस प्रकार हैं–

1. दशभक्ति, 2. जन्माभिषेक, 3. तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धिः), 4. समाधि तन्त्र, 5. इष्टोपदेश, 6. जैनेन्द्र व्याकरण, 7. सिद्धिप्रिय स्तोत्र

इन कृतियों से आचार्यपूज्यपाद की महत्ता बढ़ती ही गयी। ज्ञानार्णव के कर्त्ता आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार–

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक् चित्तसम्भवम्।
कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते।।[3]

अर्थात् जिनकी शास्त्रपद्धति प्राणियों के शरीर, वचन और चित्त के सभी प्रकार के मल को दूर करने में समर्थ है उन देवनन्दी आचार्य को मैं प्रणाम करता हूँ।

महनीय एवं मननीय कृति : इष्टोपदेश –

आचार्य पूज्यपाद कृत इष्टोपदेश में कुल 51 श्लोक हैं। श्लोक परिमाण की दृष्टि से यह लघुकाय कृति है किन्तु इसमें भरे हुए अध्यात्म रस के कारण यह महनीय कृति है। इसका विषय आत्म स्वरूप सम्बोधन है। ग्रन्थ के नाम 'इष्टोपदेश' के विषय में ग्रन्थ के अन्त में आचार्य पूज्यपाद ने स्वयं लिखा है कि–

> **इष्टोपदेशमति सम्यगधीत्य धीमान्**
> **मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य।**
> **मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने वने वा**
> **मुक्तिश्रियं निरूपमामुपयाति भव्यः।।**[4]

अर्थात् बुद्धिमान् भव्य पुरुष इस प्रकार इष्टोपदेश ग्रंथ को अच्छी तरह पढ़कर के अपने आत्मज्ञान से मान-अपमान के समताभाव को फैलाकर आग्रह को त्यागता हुआ गाँव आदि में अथवा वन में निवास करता हुआ उपमा रहित मुक्ति लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

जो हमारे लिए इष्ट हो; उसका उपदेश इस ग्रंथ में मिलता है। इष्ट वही होता है जिससे आत्मा का हित होता है। उपदेश भी वही सार्थक एवं कार्यकारी माना जाता है जो लक्ष्य का स्मरण कराकर लक्ष्य तक पहुँचने की प्रेरणा दे सके। इस दृष्टि से इष्टोपदेश कृति की अपनी महत्ता है। डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य के अनुसार– 'इसकी रचना का एकमात्र हेतु यही है कि संसारी आत्मा अपने स्वरूप को पहचानकर शरीर, इन्द्रिय एवं सांसारिक अन्य पदार्थों से अपने को भिन्न अनुभव करने लगे। असावधान बना प्राणी विषय भोगों में ही अपने समस्त जीवन को व्यतीत न कर दे।'[5]

"इस ग्रन्थ के अध्ययन से आत्मा की शक्ति विकसित हो जाती है और स्वात्मानुभूति के आधिक्य के कारण मान-अपमान, लाभ, हर्ष-विषाद आदि में समताभाव प्राप्त होता है। संसार की यथार्थ स्थिति का परिज्ञान प्राप्त होने से राग-द्वेष, मोह की परिणति घटती है। इस लघुकाय ग्रन्थ में समयसार का सार

अंकित किया गया है। शैली सरल और प्रवाहमय है।"[6]

इष्टोपदेश एक प्रेरक कृति है जो आत्म-जागरण की संवाहिका है। जीवन के दुःख-सुख कर्मजन्य हैं। देह और आत्मा को एकरूप मानने के कारण उसे संसार के दुःख उठाने पड़ते हैं। यदि वह जीव संसार परिभ्रमण से छुटकारा पाना चाहता है तो अपनी मनोदशा को स्थिर कर आत्मभावों को जगाकर आत्मस्वरूप में रमण करना चाहिए तभी वह स्व-स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। 'इष्टोपदेश' में इन्हीं भावनाओं को शब्दांकित करते हुए जिन प्रमुख बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है वह इस प्रकार हैं–

व्रत-अव्रत – पाप कार्यो से विरत होना व्रत है[7] और पाप कार्यो में रत रहना अव्रत है। आचार्य पूज्यपाद ने इष्टोपदेश में बताया है कि–

> **वरं व्रतैः पदं दैवं, नाव्रतैर्वत नारकं।**
> **छाया तपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्**

अर्थात् व्रतों के द्वारा देवपद प्राप्त करना श्रेष्ठ है; किन्तु अव्रतों के द्वारा नरक पद प्राप्त करना अच्छा नहीं है। व्रत और अव्रत में छाया और धूप की तरह अन्तर होता है।

भोग रोग तथा दुःख-स्वरूप हैं – इष्टोपदेश के अनुसार– 'देह धारियों को जो सुख और दुःख होता है वह केवल कल्पना (वासना या संस्कार) जन्य ही है। भोग भी आपत्ति के समय रोगों की तरह प्राणियों को आकुलता प्रदान करने वाले होते हैं।[9]

दुःख कर्मजन्य होते हैं – इष्टोपदेश के अनुसार "विराधकः कथं हन्त्रे, जनाय परिकुप्यति"[10] अर्थात् जिसने पूर्व में दूसरे को सताया है; ऐसा पुरुष उस सताये गये और वर्तमान में अपने को मारने वाले के प्रति क्यों क्रोधित होता है? यहाँ तात्पर्य यह है कि यदि पूर्व जन्म में जीव ने किसी को दुःख पहुँचाया है तो इस जन्म में उसे उसका फल भोगना ही पड़ेगा। देह (शरीर) का संयोग भी जीव के दुःख का कारण है अतः वह भावना भाता है कि–

दुःखसंदोहभागित्वं, संयोगादिह देहिनाम्।
त्यजाम्येनं ततः सर्व, मनोवाक्कायकर्मभिः।।[11]

अर्थात् संसारी प्राणियों को संयोग से दुःखों के समूह का भागीदार बनना पड़ता है अतः इन सबको मैं मन, वचन, काय से त्यागता हूँ।

संसार-परिभ्रमण – यह जीव अज्ञान से राग-द्वेष रूपी दो लम्बी डोरियों की खींचातानी से संसार रूपी समुद्र में बहुत काल तक घूमता रहता है, परिवर्तन करता रहता है।[12]

देह-आत्म सम्बन्ध – यद्यपि शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु आदि सब अन्य स्वभाव को लिए हुए हैं परन्तु मूढ़प्राणी मोहनीय कर्म के जाल में फँसकर उन्हें आत्मा के समान मानता है।[13] जबकि स्थिति यह है कि– जो कार्य आत्मा का उपकार करने वाला है, वह शरीर का अपकार करने वाला है तथा जो शरीर का उपकार करने वाला है वह आत्मा का अपकार करने वाला है।[14] यह आत्मा आत्मानुभव द्वारा स्पष्ट प्रकट होता है, जाना जाता है। शरीर के बराबर है, अविनाशी है, अनन्तसुखवाला है तथा लोक और अलोक को जानने-देखने वाला है।[15] जीव (आत्मा) अन्य है और पुद्गल (शरीर) अन्य है। इस प्रकार तत्व का सार है।[16]

धन से सुख कैसे? सुख तो त्याग में है – जैसे कोई ज्वरशील प्राणी घी खाकर अपने को स्वस्थ मानने लग जाये, उसी प्रकार कोई एक मनुष्य मुश्किल से पैदा किये गये तथा जिसकी रक्षा करना कठिन है और फिर भी नष्ट हो जाने वाले हैं; ऐसे धन-आदिकों से अपने को सुखी मानने लग जाता है।[17] काल व्यतीत होने व आयु के क्षय को भी धनवृद्धि का कारण मानने वाले धनी व्यक्ति यह नहीं समझते कि उनका जीवन घट जायेगा। उनके लिए तो जीवन से अधिक धन इष्ट है।[18] वास्तव में सुख धनसंचय में नहीं बल्कि उसके त्याग में है। 'इष्टोपदेश' के अनुसार–

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्व शरीरं स पङ्केन, स्नास्यामीति विलिम्पति।।[19]

अर्थात् जो मनुष्य त्याग (दान) करने के लिये अथवा अपने सुख के लिए धन संचित करता है; वह ऐसा ही है जैसे वह स्नान कर लूँगा; यह सोचकर अपने शरीर को कीचड़ से लीपता है।

भोगोपभोग असेव्य – आरम्भ में संताप के कारण, प्राप्त होने पर अतृप्ति कारक तथा अन्त में जो बड़ी कठिनाई से भी छोड़े नहीं जा सकते; ऐसे भोगोपभोग को कौन विद्वान् आसक्ति के साथ सेवन करेगा?[20]

मोह का कारण अज्ञान है और ज्ञान से उत्तम तत्त्व की प्राप्ति होती है– इष्टोपदेश के अनुसार – 'मोहेन संवृतं ज्ञानं, स्वभावं लभते न हि'[21] अर्थात् मोह से ढ़ँका हुआ ज्ञान वास्तविक स्वभाव को नहीं जान पाता है। अतः अज्ञान की सेवा छोड़कर ज्ञान की उपासना करना चाहिए; क्योंकि अज्ञानी की सेवा – उपासना अज्ञान देती है और ज्ञानियों की सेवा-उपासना ज्ञान उत्पन्न करती है। यह वात अच्छी तरह प्रसिद्ध है कि जिसके पास जो कुछ होता है, उसी को वह देता है–

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।
ददाति यत्तु यस्यास्ति, सुप्रसिद्धमिदं वचः।।[22]

ज्ञान से जिस उत्तम तत्त्व की प्राप्ति होती है उससे विषयों के प्रति अरुचि बढ़ती है–

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि।।
यथा यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।।[23]

अर्थात् जैसे-जैसे ज्ञान में उत्तम तत्त्व आता जाता है वैसे-वैसे सुलभता से प्राप्त होते हुए भी विषय भोग रुचते नहीं हैं। जैसे-जैसे सुलभ विषय भी आत्मा को रुचते नहीं हैं वैसे-वैसे अपने ज्ञान से श्रेष्ठ आत्मा का स्वरूप प्रतिभासित होने लगता है, उत्तम तत्त्व की प्राप्ति होने लगती है।

कर्म निर्जरा – आत्मा के चितंवन रूप ध्यान से तथा परीषह आदि का अनुभव न होने के कारण कर्मो के आस्रव को रोकने वाली निर्जरा शीघ्र होने लगती है।[24] आत्म ध्यान का आनन्द निरन्तर बहुत से कर्म रूपी ईधन को जलाता है।[25]

जीव मुक्ति हेतु चिन्तन – इष्टोपदेश के अनुसार–

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।
तस्मात्सर्व प्रयत्नेन, निर्ममत्वं विचिन्तयेत्।।[26]

अर्थात् ममता भाव वाला जीव कर्मो से बँधता है और ममतारहित जीव मुक्त हो जाता है। इसलिए पूरे प्रयत्न के साथ साम्य भाव का चितंवन करना चाहिए।

मोहभाव से मैंने सभी पुद्गल परमाणुओं को बार-बार भोगा और छोड़ा है। अब जूठन के समान उन त्यक्त पदार्थो के प्रति इच्छा ही नहीं है।[27] ऐसी स्थिति में–

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।
उपकुर्वन्परस्याज्ञः, दृश्यमानस्य लोकवत्।।[28]

अर्थात् पर के उपकार का त्याग करके अपने उपकार में तत्पर हो जा। दिखाई देने वाले इस जगत् की तरह अज्ञानी जीव अन्य पदार्थ का उपकार करता हुआ पाया जाता है।

अन्तिम लक्ष्य-आत्मभाव की प्राप्ति – आत्मभाव से मोक्ष की प्राप्ति होती है– "यत्र भावः शिवं दत्ते।"[29] अतः मन की एकग्रता से इन्द्रियों को वश में कर, चित्त वृत्ति को एकाग्र कर अपने में स्थित आत्मा का ध्यान करना चाहिए।[30]

गुरु का उपदेश इसमें सहकारी बनता है। कहा भी है–

गुरुपदेशाभ्यासात्संवित्तेः स्वपरान्तरम्।।
यः स जानाति मोक्ष सौख्यं निरन्तरम्।।[31]

अर्थात जो गुरु के उपदेश से अभ्यास करते हुए अपने ज्ञान (स्वसंवेदन) से अपने और पर के अंतर (भेद) को जानता है वह मोक्ष सम्बन्धी सुख का अनुभव करता रहता है।

जीवन भावना भाता है कि–

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा, मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा।।[32]

अर्थात् मैं एक, ममतारहित, शुद्ध, ज्ञानी, योगीन्द्रों के द्वारा जानने लायक हूँ। संयोगजन्य जितने भी देहादिक पदार्थ हैं वे मुझसे सर्वथा भिन्न हैं।

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न में व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोहं, न युवैतानि पुद्गले।।[33]

अर्थात् मेरी मृत्यु नहीं तब भय किसका? मुझे व्याधि नहीं तब पीड़ा कैसे? न मैं बाल हूँ, न मैं बूढा हूँ, न युवा हूँ; ये सब दशाएं पौद्गालिक शरीर में ही पायी जाती हैं।

अपनी आत्मा की सद् अभिलाषा होने से, अपने प्रिय पदार्थ आत्मा को जानने वाला होने से, अपने आप अपने हित का प्रयोग करने वाला होने से आत्मा ही आत्मा का गुरु है।[34] अतः कहते हैं कि–

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः।।[35]

अर्थात् अज्ञानरूप अंधकार को नष्ट करने वाली आत्मा की उत्कृष्ट ज्योति महान ज्ञान रूप है। मोक्षाभिलाषी पुरुषों के लिए वही (उसी के विषय में) पूछना चाहिये, उसी को पाने का प्रयत्न करना चाहिए, उसी का दर्शन करना चाहिए। क्योंकि–

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम्।
अतएव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः।।[36]

अर्थात् दूसरा दूसरा ही है, इसलिये उससे दुःख होता है और आत्मा आत्मा ही है इसलिये उससे सुख होता है। इसलिये महात्माओं ने आत्मा के लिए ही उद्यम (पुरुषार्थ) किया है। और जब आत्मा में स्थिरता आ जाती है तो—

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते, गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति।।[37]

अर्थात् जिसने आत्मस्वरूप के विषय में स्थिरता प्राप्त कर ली है ऐसा योगी बोलते हुए भी नहीं बोलता, चलते हुए भी नहीं चलता और देखते हुए भी नहीं देखता है।

उक्त स्थिति आत्मयोगी की होती है। यही जीव का अन्तिम लक्ष्य होता है कि उसे पुनः संसार में नहीं आना पड़े और उसे मोक्ष सुख मिले।

इस तरह आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने अपनी कृति 'इष्टोपदेश' के माध्यम से जीव को संसार के दुःखों से परिचित कराते हुए उसका हित आत्मरमण में ही है; इसका सच्चा अभीष्ट उपदेश दिया है; जो प्रत्येक मुमुक्षु के लिए मननीय एवं आचरणीय है।

सन्दर्भ

(1) आचार्य जिनसेन : आदिपुराण 1/52, (2) जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख सख्या 40 पृ. 24, श्लोक 10-11, (3) आचार्य शुभचन्द्र : ज्ञानार्णव 1/15, (4) आचार्य पूज्यपाद - इष्टोपदेश - 51, (5) भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा - 2/221, (6) वही, 2/221-230, (7) "हिंसानृतस्तेयाबह्म परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्" ; तत्त्वार्थसूत्र 7/1, (8) इष्टोपदेश - 3,
(9) वासना मात्रमैवेतत्, सुख दु:खं च देहिनाम्।
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापदि।। वही-6
(10) वही-10, (11) वही-28, (12) वही-11, (13) वही-8, (14) वही-19, (15) वही-21, (16) वही-50, (17) वही-13, (18) वही-14, (19) वही-16, (20) वही-17, (21) वही-7, (22) वही-23, (23) वही-37-38, (24) वही-24, (25) वही-48, (26) वही-26, (27) वही-30, (28) वही-32, (29) वही-4, (30) वही-22, (31) वही-33, (32) वही-27, (33) वही-29, (34) वही-34, (35) वही-49, (36) वही-45, (37) वही-41

—ए-27, नर्मदा विहार, सनावाद-451111 (म. प्र.)

प्राचीन संस्कृत साहित्य में प्रतिबिम्बित राजधर्मः सिद्धान्त एवं व्यवहार

—डॉ. मुकेश बंसल

सामान्यतः राजा के धर्म को राजधर्म कहा गया है। परन्तु संस्कृत साहित्य मे राजधर्म शब्द का प्रयोग इससे कहीं अधिक व्यापक रूप में किया गया है। महाभारत के शांति पर्व में शासन की कला एवं उससे संबंधित शास्त्र की चर्चा करते हुए राजधर्म को सभी धर्मो का सार एवं विश्व का सबसे बड़ा उद्देश्य बताया गया है।[1]

राजधर्म के अन्तर्गत राजा के कर्त्तव्य, आचार-विचार, व्यवहार, गुण तथा शासन के विभिन्न अंगों पर प्राचीन काल से ही चिन्तन-मनन होता रहा है। राजधर्म की विशेषता और महत्त्व के कारण ही वैशालाक्ष, बृहस्पति, उशना आदि के द्वारा शासन-संबंधी विषयों पर शास्त्र लिखे जाने का उल्लेख महाभारत में प्राप्त होता है।[2] शुक्रनीतिसार में राजा को स्वर्ण युग का प्रवर्त्तक अथवा देश की विपत्ति, युद्ध एवं अशान्ति से रक्षा करने वाला बताते हुए उसके धर्म को राजधर्म माना गया हैं।[3] मनुस्मृति में राजधर्म शब्द का प्रयोग नृपतन्त्र अथवा राजतन्त्र के सामान्यतः प्रचलित सिद्धान्तों एवं नियमों के लिए किया गया है।[4] राजधर्म और राजशास्त्र पर्याय रूप में प्राचीन साहित्य में प्रयुक्त किये गये हैं। महाभारत एवं अर्थशास्त्र सहित विभिन्न ग्रन्थों में राजधर्म को राजशास्त्र अथवा राज्यानुशासन के अर्थो में प्रयुक्त किया गया है।[5] प्रमुख स्मृतियों में राज्य-व्यवस्था का वर्णन राजधर्म के नाम से किया गया है। समाज के विभिन्न वर्गो के कर्त्तव्यों का वर्णन करने वाले धर्मशास्त्रों अथवा इतिहास-पुराण ग्रंथों में राज्य-संबंधी नियमों का वर्णन, राजा के कर्त्तव्य के रूप में राजधर्म के नाम से किया गया है। राजधर्म के जो नियम स्मृतियों अथवा धर्मशास्त्रों में दिये गये हैं, उन्हे उसी प्रकार विभिन्न राजनीतिक व्यवस्था से संबंधित ग्रंथों

में मान्यता प्रदान की गयी है। यदि कुछ भेद हैं भी तो वे सैद्धान्तिक न होकर विस्तार-भेद-मात्र हैं।

धर्मशास्त्रों में राज्यानुशासन को अत्यन्त गंभीर विषय स्वीकार करते हुए इस बात पर जोर दिया गया है कि शासन-व्यवस्था को चलानेवाले व्यक्ति अर्थात् राजा, पुरोहित, मंत्री आदि सभी राजधर्म के ज्ञाता अथवा श्रुतिवान् होने चाहिए।[6] महाभारत के शान्तिपर्व के राजधर्मपर्व के विभिन्न अध्यायों में राजा और मन्त्रियों के कर्त्तव्यों व उत्तरदायित्वों, कर-व्यवस्था, सैन्य-व्यवस्था एवं शासन के विभिन्न अंगों का जो विशद विवरण प्राप्त होता है वह पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों से अधिक विस्तृत और सांगोपांग है।[7] शान्तिपर्व के अतिरिक्त महाभारत के कुछ अन्य अध्यायों में भी राजधर्म-सम्बन्धित विषयों पर विचार किया गया है, जिसमें सभापर्व, आदिपर्व एवं वनपर्व प्रमुख हैं।[8] महाभारत में मुख्य रूप से राजा के कर्त्तव्यों को राजधर्म कहा गया है, इसी के माध्यम से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति के साथ ही राजा और शासन के संबंधों को भी समझा गया है। भीष्म ने तो सभी धर्मो में राजधर्म को श्रेष्ठ मानते हुए इसी के द्वारा सभी वर्णो का परिपालन संभव माना हैं।[9] प्राचीन भारतीय ग्रंथों में राजनीति को अनेक नामों से पुकारा गया है। राजशास्त्रप्रणेताओं ने इसे राजधर्म के अतिरिक्त दण्डनीति, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र आदि नामों से पुकारा है परन्तु समाज के जिस प्रमुख तत्त्व की प्रधानता जिस ग्रंथ में विशेष रूप से दी गयी है उस ग्रंथ को तदनुसार नाम दे दिया गया। यदि सूक्ष्मता से विवेचन किया जाय तो ज्ञात होता है कि नामों की भिन्नता के अतिरिक्त इन समस्त ग्रंथों में वर्णित विषय राजनीति अथवा राज्यानुशासन से संबंधित है। राजा, राज्य की समृद्धि तथा प्रजा के कल्याण के लिए धनोपार्जन करता था, उसे संरक्षण प्रदान करता था तथा प्रजा को कष्ट देनेवाले समाज विरोधी-तत्त्वों को दण्ड भी देता था। राजा के इन कार्यों को देखते हुए इसे दण्डनीति नाम दे दिया गया। मनु ने भी स्वीकारा है कि दण्ड के द्वारा ही राजा कुशल शासक बनता है।[10] मनुष्य द्वारा अपने जीवन में श्रेष्ठ आचरण करने के लिए जिन नैतिक मूल्यों को प्रतिपादित किया गया, वे सभी नीतिशास्त्र में वर्णित हैं। चूंकि राजा ही अपने प्रभाव और कृत्यों से प्रजा को नैतिक आचार

के लिए प्रेरित करता है एवं उन्हें तोड़ने पर दंडित करता है अतः इसे राजा का नीतिशास्त्र कहा गया है।

यद्यपि राजधर्म अथवा राजनीति को सामाजिक जीवन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है, तथापि धर्मग्रंथों में यह भी स्वीकारा गया है कि राजनीति को इतना अधिक महत्त्व भी नहीं देना चाहिये कि समाज, जीवन और उनके नियम राजनीति के आधीन ही हो जाये। दूसरे शब्दों में धर्म-नियम राजधर्म अथवा अर्थशास्त्र अथवा राजशास्त्र के नियमों के अनुसार नहीं चलते चाहिए अपितु राजनीति के नियम धर्मशास्त्रों के अनुसार बनाये जाने चाहिए। **यदि कहीं धर्मशास्त्रों के नियम और राजधर्म के नियमों में भेद जान पड़े और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाय, तो धर्मशास्त्रों के नियमों को ही श्रेष्ठ मानना चाहिए। याज्ञवल्क्यस्मृति में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि धर्मशास्त्र राजनीति अथवा राजधर्म से बलवान है।**[11] कौटिल्य ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि व्यावहारिक शास्त्र और धर्मशास्त्र में जहाँ परस्पर विरोध हो, वहॉ धर्मशास्त्र के अनुसार ही अर्थ लगाये जाने चाहिए।[12] यही कारण है कि राजधर्म-संबंधी जो नियम स्मृतियों में दिये गये हैं, उन्हें उन्हीं रूप में महाकाव्यों, दृश्यकाव्यों व अर्थशास्त्र आदि ने भी मान्यता प्रदान की है।

वस्तुस्थिति यह है कि प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं ने प्रजापालन एवं शासन-प्रबंध को व्यवस्थित एवं सुचारु रूप से चलाने तथा राजा के अपने चरित्र को नियंत्रित करने के लिए कुछ नियमों एवं प्रतिबंधों का निर्माण किया। ये नियम और प्रतिबंध ही महाभारत तथा अन्य प्राचीन ग्रंथों में राजधर्म के नाम से विख्यात हुए। इन नियमों एवं प्रतिबंधों का उद्देश्य राजा की उच्छृंखलता पर नियंत्रण करना-मात्र था।

राजधर्म के दो प्रकार माने गये हैं– सामान्यधर्म और आपद्धर्म। इन दोनों प्रकार के धर्मो अर्थात् कर्त्तव्यों में सामान्य धर्म ही सार्वकालिक था। राजा पर विपत्ति का आना सम्पूर्ण प्रजा पर विपत्ति का द्योतक था। अतः उन संकटकालीन परिस्थितियों में राजा द्वारा आपद्धर्म का निर्वाह किया जाता था। इस धर्म का पालन कर राजा जहाँ अपयश से बचता था, वहीं कालान्तर

में अपनी शक्ति बढ़ाकर तथा आपदाओं से उबरकर पूर्व स्थिति प्रदान करने का प्रयास करता था। वस्तुतः सामान्य धर्म (कर्त्तव्य) को दो भागों में बाँटा गया है– वैयक्तिक कर्त्तव्य तथा सामाजिक कर्त्तव्य। राजा के वैयक्तिक कर्त्तव्यों में आत्म-नियन्त्रण, आचरण, धर्म, नीतियों का पालन एवं वैयक्तिक सुरक्षा सम्मिलित किये गये थे, जिनका प्रजा पर उचित व अनुकूल प्रभाव पड़ता था। सार्वजनिक कर्त्तव्यों में नीति-निर्धारण, दण्ड-विधान एवं वे समस्त क्रिया-कलाप सम्मिलित किये गये, जिनका सीधा संबंध प्रजा के सुख व कल्याण से था।[13] अतः प्रजारंजन एवं प्रजा-अनुपालन के लिए शासन के विभिन्न अंगों का सम्यक् प्रयोग करते हुए राजा को जिस धर्म अथवा कर्त्तव्य का पालन अनिवार्यतः करना पड़ता था, वहीं राजधर्म कहा गया है।

राजधर्म का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष माना गया, जो दार्शनिक विचारधारा पर आधारित था। राज्य के प्रतिनिधि के रूप में राजा का ध्येय प्रजा के लिए शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित करते हुए ऐसा वातावरण उत्पन्न करना था जिसमें सम्पूर्ण प्रजा सुखमय जीवन व्यतीत करती हुई अपने व्यवसाय, उद्योग, परम्परा, रूढ़ियों एवं धर्म का निर्विरोध पालन करे और अपनी अर्जित सम्पति और सुखों का भोग कर सके।

राजा शान्ति-व्यवस्था एवं सुख प्रदान करने का साधनमात्र था। राजा ही अपनी प्रजा के इहलोक एवं परलोक को सुरक्षित रखता था। उसका धर्म (कर्त्तव्य) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं सम्पति के अधिकारों की अवहेलना करनेवालों के विरुद्ध दण्ड का सम्यक् प्रयोग करते हुए प्रजा के परम्परागत रीति-रिवाजों को प्रतिपालित करने के लिए, नियम बनाना तथा सद्गुणों एवं धर्म की रक्षा करना था।[14] कौटिल्य ने भी स्पष्ट रूप से कहा है कि राजा को यह देखना चाहिए कि लोग कर्त्तव्यच्युत न हों। क्योंकि जो अपने धर्म में तत्पर रहता है और आर्यो के लिए बने नियमों का पालन करता है, वर्णो एवं आश्रम के नियमों का सम्मान करता है, वह इहलोक और परलोक दोनों में प्रसन्न रहता है।[15]

जो राजा न्याय एवं नियमों का सम्यक् पालन करता है, वह अपने एवं

प्रजाजनों को त्रिवर्ग अर्थात् तीन पुरुषार्थ धर्म, अर्थ और काम प्रदान करता है, यदि वह ऐसा नहीं करता है तो, वह अपना एवं अपनी प्रजा का सर्वनाश करता है।[16]

स्पष्ट है कि राजा प्रजा को वर्णाश्रम धर्म पालन करने पर बाध्य करता था और उनके धर्मच्युत होने पर वह अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए उन्हें दण्डित भी करता था। प्रत्येक जाति को परम्परागत नियमों का अनिवार्यतः पालन करना पड़ता था और यदि कोई व्यक्ति उन नियमों को तोड़ता था तो उसे दण्ड का भागी होना पड़ता था।[17] कर्त्तव्य-पालन में बाधा डालनेवाले लोगों को दण्डित करना, जो पीढ़ियों से पूज्य है एवं समाज के लिए आदर्श हैं उनकी रक्षा करना तथा प्रजा के लिए पुरुषार्थ-प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करना राजा का परम धर्म (कर्त्तव्य) माना गया है।

सोमदेव ने अपने ग्रंथ नीतिवाक्यामृत का शुभारम्भ उस राज्य को प्रणाम करके किया, जो धर्म, अर्थ और काम तीन फल प्रदान करता है— धमार्थकामफलाय राज्याय नमः।[18] कामन्दक ने स्पष्ट किया है कि निपुण मन्त्रियों द्वारा संभाला गया राज्य त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति कराता है।[19] प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रों में धर्म को राज्य की परमशक्ति मानते हुए उसे राजा से भी ऊपर रखा गया है। राजा तो साधक मात्र है, जिसके द्वारा धर्म की प्राप्ति होती है, वह स्वयं में साध्य नही है।

प्राचीन भारतीय ग्रंथकारों द्वारा प्रतिपादित राजधर्म संबंधी सिद्धान्त एवं आदर्श, धर्म पर आधारित थे, जिस कारण राजाओं और उनके अधीनस्थ अधिकारियों में नैतिक भावना विद्यमान थी। किन्तु धीरे-धीरे इस व्यवस्था में विभिन्न दोष परिलक्षित होने लगे थे, क्योंकि राजा एक प्रकार से शासन का पर्याय बन गया था किन्तु राज्यानुशासन के नियम यथावत् चलते रहे, फलतः राजा और प्रजा के बीच न तो कोई शक्तिशाली एवं विरोधी वर्ग ही उपस्थित हो सका और न ही कोई धार्मिक संस्था। लगभग दो सहस्र वर्षो तक राजधर्म के सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन न होने के कारण विचारों तथा व्यवस्था में एक शून्यता आ गई।

ईस्वी प्रथम शताब्दी के बाद भारत पर विभिन्न बाह्य आक्रमणों का तांता लग गया और विदेशी आक्रान्ता भारत में लगातार लूटमार एवं अत्याचार करते रहे, जिनके कटु अनुभवों के कारण भारतीय राजनीतिक विचारकों तथा राजन्य कार्यो में संलग्न क्षत्रिय वर्ग में एक नवीन चेतना उत्पन्न हुई फलस्वरूप भारत के विभिन्न छोटे बड़े राज्यों को एकता के सूत्र में बांधकर विदेशी आक्रान्ताओं से भारत भूमि की रक्षा का विचार उत्पन्न हुआ। भारतीय राजनीतिक विचारकों में भी एक क्रान्ति प्रस्फुटिक हुई किन्तु इन विचारकों ने केवल अपने पूर्व के प्रचलित सिद्धान्तों को दोहराने में ही अपनी विद्वत्ता समझी, कोई नवीन संस्कृति के मंत्र को फूकना उचित नहीं समझा। परिणामतः भारत में देश-भक्ति की अग्नि नहीं सुलगाई जा सकी और न ही कोई परिपक्व नवीन राजधर्म संबंधी विचारधारा पनप सकी, जो राष्ट्र को परिपक्व संस्कृति की ओर अग्रसर कर पाती।

सन्दर्भ-संकेत

1. महाभारत, शान्तिर्व, 56/130, 2. महाभारत, शान्तिपर्व, 59/30, 3. शुक्रनीति., 4/1/60, 4. मनुस्मृति अध्याय, 7, 5. महाभारत, शान्तिपर्व, 63/29, 6 कामान्दक., 1/21, 7. अल्टेकर, ए. एस., भारतीय शासन पद्धति, पृ. 7, 8 महाभारत, सभापर्व, अध्याय-5; आदिपर्व, अध्याय-142; वनपर्व, अध्याय-25, 9. महाभारत, शान्तिपर्व, 63/27, 10 मनुस्मृति, 7/8, 11. याज्ञवल्क्य., 2/21, 12 अर्थशास्त्र, 3/1/56, 13. बेनी प्रसाद, थ्योरी आफ गवर्नमेण्ट इन एनशियण्ट इंडिया, पृ. 75, 14 शकुन्तला रानी, महाभारत के धर्म, पृ 271-273, 15. अर्थशास्त्र, 1/4, 16. महाभारत, शान्तिपर्व, 85/2, 17 शुक्रनीति 4/439, 18. नीतिवाक्यामृत, 1/1, 19. कामन्दक 4/47

—रीडर-इतिहास विभाग
एस. डी. कॉलेज, मुजफ्फरनगर

सल्लेखना पूर्वक समाधिमरण

–पं. सनत कुमार, विनोद कुमार जैन

जैन दर्शन में जहाॅं जीवन को संयमित/संतुलित बनाने का निर्देश है, वहाँ मरण को भी सुव्यवस्थित करने की आज्ञा दी गई है। सुखमय भविष्य के लिये जीवन को जितना सुसंस्कारित करना आवश्यक है उतना ही मरण को व्यवस्थित करना आवश्यक होता है। हमने अपने जीवन को अनेक भव धारण करने पर भी सुखी नहीं बना पाया। यदि एक बार मरण समाधिपूर्वक हो जाबे तो हमारा जीवन सुखमय हो जावेगा। एक मरण को सुव्यवस्थित करने के लिए हमें जीवन भर मरने की तैयारी करनी पड़ेगी तब हम सफल समाधि मरण कर सकेंगे। आचार्यो ने बारह व्रतों के पालन करने के उपरान्त मरण के समय प्रीतिपूर्वक सल्लेखना व्रत ग्रहण करने को कहा है। तत्त्वार्थ सूत्र में बारह व्रतों के स्वरूप, भावना और अतिचारों के साथ सल्लेखना व्रत का भी वर्णन किया है। सल्लेखना पूर्वक समाधिमरण करने के लिये जीवन भर बारह व्रतों का पालन किया जाता है। सल्लेखना में शरीर और कषाय को कृश करने का निर्देश किया है–

सम्यक्कायकषाय लेखना सल्लेखना।।[1]

अर्थात–भली प्रकार से काय और कषाय का लेखन करना सल्लेखना है।

लिखेर्ण्यन्तस्य लेखना तनुकरणमिति यावत्।।[2]

अर्थात– लिख् धातु में णि प्रत्यय करने से लेखना शब्द बनता हैं उसका अर्थ तनुकरण यानी कृश करना है।

शरीर की कृशता के साथ कषाय की कृशता अनिवार्य है इसे संयम साधना की अंतिम क्रिया कहा जाता है। जीवन भर किये गये तप का फल निर्दोष, निरतिचार समाधि है। अंतिम समय में समाधि के समय जितनी

विशुद्धि, दृढ़ता, आत्म लीनता, राग द्वेपनिवृति, संसार स्वरूप का चिन्तन और आत्म स्वरूप में ही विचारों का केन्द्रित होना होगा समाधि उतनी निर्दोप होगी। मन में उत्पन्न होने वाले राग, द्वेप, मोह, भय, शोक आदि विकारी भावों को मन से दूर करके मन को अत्यन्त शान्त या समाधान रूप करके वीतराग भावों के साथ सहर्ष प्राण त्याग करने को समाधिमरण कहते हैं।[3] अर्थात् – भावों की विशुद्धिपूर्वक मरण करना समाधिमरण है।

मन को जितना विशुद्ध बनाया जावेगा समाधि उतनी श्रेष्ठ होगी। वचन और काय की क्रिया से अलग मन की विशुद्धि समाधि है।

वयणोच्चारण किरियं परिचत्तावीयराय भावेण।
जो झायदि अप्पाणं परम समाहि हवे तस्स।।
संजम णियम तवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्क झाणेण।
जो झायइ अप्पाणं परम समाहि हवे तस्स।।[4]

अर्थात् – वचनोच्चार की क्रिया परित्याग कर वीतराग भाव से जो आत्मा को ध्याता है उसे परम समाधि कहते हैं। संयम नियम और तप से तथा धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान से जो आत्मा को ध्याता वह परम समाधि है। ऐसे चिन्तन पूर्वक समाधिमरण करने से भवों का अन्त होता है। अज्ञानी शरीर द्वारा जीव का त्याग करते हैं और ज्ञानी जीव द्वारा शरीर का त्याग करते हैं। अतः ज्ञानी जन का मरण ही सल्लेखना पूर्वक समाधिमरण होता है। शरीर अपवित्र और नाशवान है किन्तु वह तप का साधन होने से भव समुद्र को पार करने को नौका के समान है। इसके माध्यम से तप धारण कर कर्मो का संवर और निर्जरा कर मोक्ष प्राप्त किया जाता है। यदि यह शरीर संयम तप आदि की विराधना में कारण बनने लगे तो धर्म के लिये शरीर का त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि शरीर तो अनेक बार प्राप्त हुआ है और होगा भी किन्तु धर्म हमने अभी तक ग्रहण नहीं किया यदि वह धर्म छूट गया तो कब अवसर आयेगा कहा नहीं जा सकता। शरीर का अन्त जान लेने पर शरीर से धर्म साधन में बाधा आने पर सल्लेखना ग्रहण करना चाहिये–

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतिकारे।
धर्माय तनु विमोचनमाहुः सल्लेखनामार्या।।[5]

अर्थात् – प्रतिकार रहित उपसर्ग, दुष्काल, बुढ़ापा और रोग के उपस्थित हो जाने पर धर्म के लिये शरीर के छोड़ने को गणधर देव सल्लेखना कहते हैं। सल्लेखना दो प्रकार से की जाती है 1 काय सल्लेखना और 2 कषाय सल्लेखना। आहार आदि का शरीर की स्थिति देखकर क्रम से त्याग करके शरीर कृश करना काय सल्लेखना है और संसार शरीर और भोगों से विरक्त होता हुआ जो कषायों को कृश किया जाता है वह कषाय सल्लेखना कहलाती है।

मरण प्रकृति का शाश्वत नियम है, जन्म लेने वाले का मरण निश्चित है। मरण के स्वरूप की जानकारी होने पर मरण के समय होने वाली आकुलता से बचा जा सकता है। मोह के कारण जीव मरण के नाम से ही भयभीत रहता है अतः ज्ञानी जीव ही मरण भय से रहित होता है।

स्वपरिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाणां वलानां च कारणवशात् संक्षयो मरणं।।[6]

अर्थात् – अपने परिणामों से प्राप्त हुई आयु का, इन्द्रियों का और मन, वचन, काय इन तीन वलों का कारण विशेष मिलने पर नाश होना मरण है। दूसरे प्रकार से आयु कर्म का क्षय होना मरण कहलाता है।

आयुषः क्षयस्य मरणहेत्वात्।।[7]

अर्थात – आयु कर्म के क्षय को मरण का कारण माना है। उपरोक्त मरण में नए शरीर को धारण करने के लिए पूर्व शरीर का नष्ट होना तद्भव मरण कहलाता है। एवं प्रतिक्षण आयु का क्षीण होना नित्य मरण कहलाता है सम्यदर्शन, सम्यक् चारित्र, संयम आदि की अपेक्षा मरण के भेदों को अन्य प्रकार से भी कहा गया है–

पंडिद पंडिद मरणं, पंडिदयं बाल पंडिद चेव।
बालमरणं चउत्थं पंचमयं बाल बालं च।।[8]

अर्थात् – पंडित-पंडित मरण, पंडित मरण, बाल पंडित मरण, बाल मरण और बाल-बाल मरण ये मरण के पॉच भेद कहे गये हैं। इनमें प्रथम तीन मरण ही प्रशंसनीय हैं। प्रथम पंडित पंडित मरण से केवलि भगवान निर्वाण प्राप्त करते हैं। उत्तम चारित्र के धारी साधुओं के पंडित मरण होता है। विरताविरत जीवों के तीसरा बाल पंडित मरण होता है। बाल मरण अविरत सम्यक् दृष्टि के और बाल-बाल मरण मिथ्यादृष्टि के होता है।

दूसरे पंडित मरण के प्रायोपगमन मरण इंगनि मरण और भक्त प्रत्याख्यान या भक्त प्रतिज्ञा मरण ये तीन भेद होते है।

आहारादिक को क्रम से त्याग करके शरीर को कृश करने की अपेक्षा तीनों मरण समान हैं। इनमें शरीर के प्रति उपेक्षा के भाव का ही अन्तर है। जो मुनि न तो स्वयं अपनी सेवा करते हैं, और न ही दूसरों से सेवा, वैयावृत्ति कराते हैं। तृणादि का संस्तर भी नहीं रखते, इस प्रकार स्व-पर के उपकार से रहित शरीर से निस्पृह होकर स्थिरतापूर्वक मन को विशुद्ध बनाकर मरण को प्राप्त करते हैं। उसे प्रायोपगमन मरण कहते हैं। जिसमें सल्लेखनाधारी अपने शरीर की सेवा, परिचर्या स्वयं तो करता है, पर दूसरों से सेवा वैयावृत्ति नहीं कराता उसे इंगनि मरण कहते हैं। इसमें क्षपक स्वयं उठेगा, स्वयं बैठेगा और स्वयं लेटेगा। इस तरह वह अपनी समस्त क्रियायें स्वयं करता है। जिस संन्यास मरण में अपने और दूसरों के द्वारा किये गये उपकार वैयावृत्ति की अपेक्षा रहती है उसे भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

भव का अन्त करने योग्य संस्थान और संहनन को प्रायोग्य कहते हैं। इनकी प्राप्ति होना प्रायोपगमन है। अर्थात् विशिष्ट संहनन व विशिष्ट संस्थान वाले ही प्रायोग्य ग्रहण करते हैं।

स्व अभिप्राय को इंगित कहते हैं। अपने अभिप्राय के अनुसार स्थित होकर प्रवृत्ति करते हुये जो मरण होता है, वह इंगनि मरण कहलाता है। भक्त शब्द का अर्थ आहार है और प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है जिसमें क्रम से आहारादि का त्याग करते हुये मरण किया जाता है उसे भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

यद्यपि आहार त्याग उपरोक्त दोनों मरणों में भी होता है, तो भी इस लक्षण का प्रयोग रूढ़ि वश मरण विशेष में ही कहा गया है।

भक्त प्रत्याख्यान मरण सविचार और अविचार के भेद से दो प्रकार का है। नाना प्रकार के चारित्र का पालना, चारित्र में विहार करना विचार है। इस विचार के साथ जो वर्तता है वह सविचार है। जो गृहस्थ अथवा मुनि उत्साह या बल युक्त हैं और जिसका मरण काल सहसा उपस्थित नहीं हुआ है। अर्थात् जिसका मरण दीर्घकाल के बाद होगा, ऐसे साधु के मरण को सविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। इसमें आचार्य पद त्याग, पर गण गमन, सबसे क्षमा, आलोचना पूर्वक प्रायश्चित ग्रहण विशेष भावनाओं का चिन्तन, क्रम पूर्वक आहार का त्याग आदि कार्य व्यवस्थित रहते हैं। जिनकी सामर्थ्य नहीं है, जिनका मरण काल सहसा उत्पन्न हुआ है, ऐसे पराक्रम रहित साधु के मरण को अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। यह तीन प्रकार का है। (1) निरुद्ध, (2) निरुद्धतर, (3) परमनिरुद्ध। रोगों से पीड़ित होने के कारण जिनका जंघा बल क्षीण हो गया हो, जिससे परगण में जाने से अमसर्थ हो वे मुनि निरुद्ध विचार भक्त प्रत्याख्यान मरण करते हैं। इसके प्रकाश और अप्रकाश दो भेद हैं। क्षपक के मनोबल अर्थात् धैर्य, क्षेत्रकाल उनके वान्धव आदि का विचार करके अनुकूल कारणों के होने पर उस मरण को प्रकट किया जाता है वह प्रकाश है। और प्रकट न करना अप्रकाश है। सर्प, अग्नि, व्याघ्र, भैंसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर म्लेक्ष, मूर्छा, तीव्रशूल रोग आदि से तत्काल मरण का प्रसंग होने पर जब तक काय बल शेष रहता है और जब तक तीव्र वेदना से चित्त आकुलित नहीं होता और प्रतिक्षण आयु का क्षीण होना जानकर अपने गण के आचार्य के पास अपने पूर्व दोषों की आलोचना कर जो मरण करता है वह निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण है।

सर्प अग्नि आदि कारणों से पीड़ित साधु के शरीर का बल और वचन का बल यदि क्षीण हो जाये तो उसे परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं।[9] अपने आयुष्य को शीघ्र क्षीण होता जानकर शीघ्र ही मन में अर्हत व सिद्ध परमेष्ठी को धारण करके उनसे अपने दोषों की आलोचना करे तथा

सर्व शल्य रहित ममत्व रहित होकर मोक्ष प्राप्ति के लिये दो प्रकार का संन्यास धारण करने का निर्देश प्राप्त होता है–

अस्मिन् देशेऽवधौकालेयदि मे प्राणमोचनम्।
तदास्तु जन्मपर्यन्तं प्रत्याख्यानं चतुर्विधम्।।
जीविष्यामि क्वचिद्वाहं पुण्येनोपद्रवात्परात्।।
करष्ये पारणं नूनं धर्मचारित्रसिद्धये।।[10]

अर्थात् – पहिला संन्यास इस प्रकार धारण करना चाहिये कि इस देश में इतने काल तक यदि मेरे प्राण निकल जायें तो मेरे जन्म पर्यन्त चारों प्रकार के आहार का त्याग है। तथा दूसरे संन्यास को इस प्रकार धारण करना चाहिये कि यदि में अपने पुण्य से इस घोर उपद्रव से कदाचित बच जाऊँगा तो मैं धर्म और चारित्र की सिद्धि के लिये इतने काल के बाद पारणा करुँगा। इस प्रकार सहसा मरण काल आने पर अपने मन को विशुद्ध बनाता हुआ आहारादिक त्याग स्वयं भी कर सकता है, क्योंकि मरण काल में भावों की विशुद्धि का ही विशेष महत्व होता है। श्रावकों को मरण काल में महाव्रत ग्रहण कर लेना चाहिये, जिससे परिणाम विशुद्ध बनते हैं। इसके लिये भी क्रम से त्याग करना चाहिये।

धरिऊण वत्थमेत्तं परिग्गहं छंडिऊण अवसेसं।
सगिहे जिणालय वा तिविहा हारस्स वोसरणं।।[11]

अर्थात् – वस्त्र मात्र परिग्रह को रखकर और अवशिष्ट समस्त परिग्रह को छोड़कर अपने ही घर में अथवा जिनालय में रहकर श्रावक गुरु के पास में मन, वचन और काय से अपनी भली प्रकार आलोचना करता है और पानी के सिवाय शेष तीन प्रकार के आहार का त्याग करता है। श्रावक अन्त समय में स्नेह, बैर और परिग्रह को छोड़कर शुद्ध होता हुआ प्रिय वचनों से अपने कुटुम्बियों और नौकरों से क्षमा कराते हुये आप भी सब को क्षमा करे। समस्त पापों की आलोचना करे और मरण पर्यन्त रहने वाले महाव्रतों को धारण करे।[12] यदि चारित्र मोहनीय कर्म का उदय रहने से वह दीक्षा ग्रहण नहीं कर सकता

तो मरण समय उपस्थित होने पर संस्तर श्रमण हो जाना चाहिये। यदि यह भी शक्य न हो तो सल्लेखना का अनुष्ठान करते हुये क्रम से आहार आदि का त्याग करना चाहिये।[13] धनवान और धन रहित श्रावकों को भी ग्रन्थों में अन्त समय के लिये मार्ग प्रशस्त किया गया है–

> **तत्कर्तुं गुरुणा दत्त प्रायश्चित्तं तपोऽक्षमा।**
> **धनिनो ये जिनागारे स्वयं सर्वत्र शुद्धये।।**
> **दद्युर्धनं स्वशक्त्या ते परे दोषादिहानये।**
> **प्रायश्चित्तं तु कुर्वन्तु तपां अनशनादिभिः।।**[14]

अर्थात् – समाधिमरण के लिये उद्यत धनी गृहस्थ गुरु के द्वारा दिये गये प्रायश्चित तप को धारण करने में असमर्थ हो तो वे स्वयं शुद्धि के लिये जिनालय में धन का दान करे। तथा दूसरे लोग अपनी शुद्धि के लिये शक्ति अनुसार अनशन, ऊनोदर आदि के द्वारा अपने पापों की शुद्धि करें। धन के प्रति आसक्ति कम करने के लिये धन दान करने का निर्देश दिया गया है। श्रावकों को अन्त समय में महाव्रत अवश्य धारण करना चाहिये। महाव्रत धारण करने में ही श्रावक धर्म की सफलता मानी जाती है। शरीर के अन्तिम संस्कार के समय तीर्थकरों, गणधर देवों, सामान्यकेवलि एवं महाव्रतियों के शरीर के अन्तिम संस्कार का ही वर्णन शास्त्रों में मिलता है अतः प्रतिफलित होता है कि श्रावकों को अन्त समय में महाव्रती अवश्य होना चाहिये। समाधि मरण करने वाला प्रीति, बैर, ममत्व भाव और परिग्रह को छोड़कर स्वच्छ हृदय होता हुआ मधुर वचनों से क्षमा करता और कराता है। शरीर को भार स्वरूप समझता है। किसी प्रकार का शोक नहीं करता है, भूख प्यास की बाधा सहन होगी की नहीं यह सोच समाप्त हो जाती है और क्रम क्रम से आहार का त्याग करता है। एक साथ पूर्ण आहार त्याग देने से क्षपक को आकुलता हो सकती है, अतः सल्लेखना विधि कराने वाले निर्यापकाचार्य क्षपक की शक्ति को देखकर क्रम से आहार का त्याग कराते हैं। प्रथम कवलाहार (दाल, चावल रोटी आदि) का त्याग कराकर स्निग्ध पेय दूध आदि देते हैं। इसके बाद छाछ देकर इसका भी त्याग कराके मात्र गर्म जल देते हैं। शक्ति

के अनुसार उपवास करते हुये पंच परमेष्ठी का स्मरण कर शरीर का त्याग किया जाता है। इस पूरी प्रक्रिया में सल्लेखना कराने वाले आचार्य (निर्यपकाचार्य) की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। क्योंकि रोग की वेदना, तीव्र राग का उदय, विषयों की लिप्तता आदि के समय मन विचलित होने लगता है तब निर्यापकाचार्य अपने संबोधन से क्षपक के विचारों में स्थिरता प्रदान करते हैं। अतः श्रेष्ठ निर्यापकाचार्य होना आवश्यक है। निर्यापकाचार्य के आठ गुण कहे गये हैं।

आचारी सूरिराधारी व्यवहारी प्रकारकः।
आयापाय दृगुत्पीड़ी सुख कार्य परिस्रवः।।[15]

अर्थात् – आचार वान, आधार वान, व्यवहार वान प्रकारक (कर्त्ता) आयापाय दृग, उत्पीड़क और परिस्रावी इन आठ गुणों से सहित निर्यापकाचार्य होना चाहिये। क्योंकि बिना आचार्य के उपदेश के मन की शुद्धि, स्थिरता नहीं होती है।

काल की अपेक्षा सल्लेखना उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार की होती है। उत्कृष्ट बारह वर्ष, मध्यम काल के असंख्यात भेद है। जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट बारह वर्ष की सल्लेखना में आहारादि के त्याग का क्रम निम्नानुसार है–

जोगेहिं विचित्तेहिं दुखवेइ संवच्छ राणी चत्तारि।
वियडीणि य जूहित्ता चत्तारि पुणो वि सोसेई।।
आयंविलणि व्वियडी हिंदोण्णि आयं विलेण एक्कं च।
अद्धंणा दि विगट्ठे हिं तदो अद्धं विगट्ठे हिं।।[16]

अर्थात् – विचित्र प्रकार के काय क्लेशादि योग से चार वर्ष पूर्ण करे पश्चात चार वर्ष रस रहित भोजन से शरीर कृश करे। आचाम्ल (अल्पाहार) तथा नीरस भोजन से दो वर्ष पूर्ण करे पश्चात अल्पाहार से एक वर्ष पूर्ण करे। इसके बाद छह महीने अनुत्कृष्ट तप करे और अंतिम छह महिने उत्कृष्ट तप कर बारह वर्ष पूर्ण करे। समाधि में आचार्य को क्षपक के भावों की स्थिरता का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। यदि भावों में कोई विकार आ जावे तो समाधि विकृत हो

जाती है। अतः निर्दोष और निर्विघ्न समाधि करने के लिये उत्कृष्ट अड़तालीस परिचारक मुनियों की आवश्यकता होती है। मध्यम रीति से परिचर्या करने वाले साधुओं की संख्या चार-चार कम करते जाना चाहिये। अत्यन्त निकृष्ट में भरत क्षेत्र ऐरावत क्षेत्र में जघन्य रूप से दो मुनिराज निर्यापक परिचारक पद से ग्रहण करना चाहिये। अकेला एक साधु समाधि कराने में समर्थ नहीं होता है। और निर्यापक के बिना क्षपक अशान्ति से मृत्यु को प्राप्त करता है अतः भयानक दुर्गति में जाता है। निर्दोष उत्कृष्ट समाधि में अड़तालीस साधुओं का कार्य विभाजन निम्न प्रकार से किया जाता है। चार मुनि आहार लाते हैं। चार मुनि पेय पदार्थ लाते हैं। चार मुनि आहार पान का रक्षण करते हैं चार मुनि क्षपक के मल मूत्र को साफ करते हैं। एवं सूर्योदय और सूर्यास्त के समय व सातिका, उपकरण और संस्तर आदि का शोधन करते हैं। चार मुनि वसतिका के द्वार का और चार मुनि समवशरण के द्वार का प्रयत्नपूर्वक रक्षण करते हैं। चार मुनि उपदेश मण्डप का रक्षण करते हैं। चार मुनि क्षपक के पास रात्रि जागरण करते हैं। चार मुनि निवास स्थान के बाह्य क्षेत्र की शुभाशुभ वार्ता का निरीक्षण करते हैं। चार मुनि श्रोताओं को उपदेश देते हैं चार मुनि वाद-विवाद करने वालों के साथ वाद-विवाद करके सिद्धान्त का रक्षण करते है। और चार मुनि राज धर्मकथा करने वालों का रक्षण करते हैं। अर्थात् बराबर व्यवस्था बनाये रखने को इधर-उधर घूमते रहते हैं। इस प्रकार उत्कृष्टतः अड़तालीस परिचारक मुनि संसार समुद्र से प्रयाण करने वाले क्षपक को रत्नत्रय पूर्वक समाधि में लगाये रहते हैं। किन्तु क्षपक को प्रत्याख्यान प्रतिक्रमण, प्रायश्चित, उपदेश, तीन प्रकार के आहार का त्याग एवं प्रश्न आदि करने का कार्य निर्यापकाचार्य ही करते हैं।[17] क्षपक को रोगादि से मुक्ति के लिये जिनवचन ही औषधि हैं ऐसा उपदेश देकर जिन धर्म में दृढ़ता करके आराधनाओं की आराधना में लीनता प्रदान की जाती हैं। जो क्षपक सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप की उत्कृष्ट आराधना करते हैं वे उसी भव से सिद्धत्व प्राप्त करते हैं। मध्यम आराधना करने वाले धीर वीर पुरुष तीन भव में कर्म रहित अवस्था अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं। जघन्य आराधना करने वाले सात जन्मों में सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेते हैं।

समाधि की अनुमोदना करने वाले और क्षपक के दर्शन करने वाले भी समाधि पूर्वक मरण कर निकट भव में सिद्धत्व प्राप्त करते हैं।

सल्लेखना मनुष्य भव की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। हमें अपना जीवन सुखी बनाने के लिये सल्लेखना पूर्वक समाधिमरण करना चाहिये। आज तक हम ने एक बार भी समाधिपूर्वक मरण नहीं किया है। मरणों के अनेक भेद जानकर हमें संस्थान और संहनन को देखते हुये पंडित मरण में सविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण की भूमिका में पहुँचकर समाधि मरण करना चाहिये। समाधि की भावना आज से ही मन में बनाकर जहाँ समाधि हो वहाँ क्षपक के दर्शन कर अनुमोदना अवश्य करना चाहिये। क्योंकि अनुमोदना करने वाले की अवश्य ही समाधि होती है। अतः निरन्तर समाधिमरण की भावना करते रहना चाहिये—

दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं
जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

संदर्भ

1. सवार्थ सिद्धि-7/22, 2 राजवार्तिक 7/22/3, 3 समाधिमरणोत्सव दीपक-1, 4. नियमसार-122-123, 5. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 5/1, 6. सवार्थसिद्धि 7/22, 7. धवला 1-1 1.33, 8 भगवती आराधना 26, 9. भगवती आराधना 2011 से 2024, 10. मूलाचार प्रदीप 2819-2820, 11. वसुनंदि श्रावकाचार 271, 12 रत्नकरण्ड श्रावकाचार 5/4, 13. सावय पन्नति 378, 14. समाधिमरणोत्सव दीपक 35, 15. मरणकण्डिका 433, 16. भगवती आराधना 258, 259, 17. समाधि दीपक 21.22 पृ.-1

—रजवॉस, जिला-सागर (म. प्र.)

श्रावक साधना की सीढ़ियां : प्रतिमाएँ

—डॉ. श्रेयांस कुमार जैन

मोक्षमार्ग पर आरूढ़ श्रावक अपनी भूमिका के अनुसार साधना करता है। साधना के द्वारा ही वह आत्मगुणों के विकास को प्राप्त हो सकता है। वह श्रमण का उपासक होता है। अतः उनसे तत्त्वज्ञान को जानकर/सुनकर ही जीवन पथ पर बढ़ता है। मूलगुण और उत्तरगुण में निष्ठा रखता है। अरिहन्त आदि पञ्चगुरुओं के चरणों को ही अपनी शरण मानता है। दान और पूजा जिसके प्रधान कार्य हैं तथा ज्ञानरूपी अमृत को पीने को इच्छुक होता है।[1] श्रावक पद का अर्थ करते हुए विद्वान् लिखते हैं– "अभ्युपेतसम्यक्त्वः प्रतिपन्नाणुव्रतोऽपि प्रतिदिवसं यतिभ्यः सकाशात्साधूनामागारिणाञ्च सामाचारीं शृणोतीति श्रावकः"[2] अर्थात् जो सम्यक्त्वी और अणुव्रती होने पर भी प्रतिदिन साधुओं से गृहस्थ और मुनियों के आचार को सुने, वह श्रावक है। उसी का विस्तार करते हुए और भी लिखा है कि जो श्रद्धालु होकर जैनशासन को सुने, दीनजनों में अर्थ को तत्काल वपन करे, सम्यग्दर्शन को वरण करे, सुकृत और पुण्य कार्य करे, संयम का आचरण करे, उसे विचक्षण जन श्रावक कहते हैं।[3] श्रावक आत्मकल्याण के लिए गुरुओं की साक्षी पूर्वक व्रत ग्रहण कर देशसंयमी अणुव्रती देशविरत आदि संज्ञाओं से विभूषित रहता है। संयतासंयत पञ्चम गुणस्थानवर्ती होता है क्योंकि वह स्थूल त्रस जीवादि की हिंसा से विरत होने के कारण संयत और सूक्ष्म या स्थावर जीवों की हिंसा से अविरत होने के कारण असंयत है अतः उसकी संयतासंयत संज्ञा व्रत ग्रहण करने पर ही बनती है। व्रत अटल निश्चय का प्रतीक है। यह एक प्रकार की प्रतिज्ञा है। इसको ग्रहण करते समय क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय का आवेश नहीं होना चाहिए। किसी के दबाव में न ग्रहण कर स्वेच्छापूर्वक ली हुई प्रतिज्ञा व्रत है। व्रत का विधान बहुधा आध्यात्मिक या मानसिक शक्ति की प्राप्ति के लिए चित्त अथवा आत्मा की शुद्धि के लिए संकल्प शक्ति की दृढ़ता के लिए ईश्वर

की भक्ति और श्रद्धा को दृढ़ करने के लिए अपने विचारों को उच्च एवं परिष्कृत करने के लिए तथा स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है। व्रत का भंग होना अहितकारी है, जैसा कि कहा भी है "गुरु अर्थात् पञ्चपरमेष्ठी गुरु या परम्परा दीक्षित गुरु की साक्षी से लिए हुए व्रत या प्रतिज्ञा को प्राणनाश होने तक भी नहीं तोड़ना चाहिए क्योंकि प्राणनाश केवल मरण के समय ही दुःखकर है परन्तु व्रत का नाश भव भव में दुःखदायी है।[4] व्रत को धारण करना प्रतिज्ञाबद्ध होना है।

प्रतिज्ञा का नाम ही प्रतिमा है।[5] जब भोगों के प्रति अरुचि जागृत हो जाये और नियम लेने के लिए दृढ़ता आ जाये तभी प्रतिज्ञा[6] विशेष ले लेने पर क्रमवार उन्नति आरम्भ हो जाती है। श्रावक की उन्नत्ति के लिये श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्परा में एकादश सीढ़ियाँ/प्रतिमाएँ मानी गयी हैं। उनको आध ार मानकर श्रावकधर्म का वर्णन अनेक श्रावकाचारों में पाया जाता है। वर्णन की यह प्रक्रिया सर्वाधिक प्राचीन है क्योंकि धवल और जयधवल टीका में आचार्य श्री वीरसेन ने उपासकाध्ययन नामक अंग का स्वरूप इस प्रकार दिया है— उपासयज्झयणम णाय अंगं एक्कारस लक्ख सत्तरि सहस्सपदेहिं दंसणवद ---- इदि एक्कारसवि उवासगाणं लक्खणं तेसिं च वदारीवणविहाणं तेसिमाचरणं च वण्णेदि धवल पृ. 107 (उवासयज्झयणं णाम अंगं दंसण वय सामाइयपोसहोवाससचित्तरायिभत्तबंभारंभपरिग्गहाणुमणुद्दिट्ठणामाणमेकारसण्हमुवासयाणं धम्मामेक्कारसविहं वण्णेदि जयधवल गा. 9 पृ. 130)

यहाँ उन्हीं का आश्रय लेकर प्रतिपादन किया जा रहा है।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने सर्वप्रथम ग्यारह प्रतिमाओं के धारक को देशविरत गुणस्थान वाला कहा है।[7] स्वामी कार्तिकेय ने ग्यारह प्रतिमाओं को आधार बनाकर श्रावकधर्म का व्याख्यान किया है। उन्होंने सम्यक्त्व की महिमा बताने के पश्चात् ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर बारह व्रतों का स्वरूप निरूपण किया है।[8] इनके बाद आचार्य वसुनन्दि ने स्वामी कार्तिकेय का ही अनुसरण किया किन्तु इतना अवश्य किया है कि प्रारम्भ में सात व्यसनों और उनके दुष्फलों का विस्तार से वर्णन कर मध्य में बारह व्रत और ग्यारह

प्रतिमाओं का तथा अन्त में विनय, वैय्यावृत्त पूजा प्रतिष्ठा और दान का वर्णन विस्तार से किया है। आचार्य अमितगति भी ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन करते हैं किन्तु वह समन्तभद्राचार्य के समान व्रतों के वर्णन के पश्चात् करते हैं।

दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में प्रतिमाओं की संख्या ग्यारह[9] ही है किन्तु नाम और क्रम में कुछ भेद है। दिगम्बर परम्परा में– (1) दर्शन, (2) व्रत, (3) सामायिक, (4) प्रोषध, (5) सचित्तत्याग, (6) रात्रिभुक्तित्याग, (7) ब्रह्मचर्य, (8) आरम्भत्याग, (9) परिग्रहत्याग, (10) अनुमतित्याग, (11) उद्दिष्टत्याग

पण्डित आशाधर इन्हीं के नाम से श्रावकों के भेद प्रतिपादन करते हैं, उन्होंने कहा है– क्रम से पूर्व-पूर्व गुणों में प्रौढ़ता के साथ, सम्यग्दर्शन सहित आठ मूलगुण निरतिचार अणुव्रतादि, सामायिक, प्रोषधोपवास तथा सचित्त से, दिवामैथुन से, स्त्री से, आरम्भ से, परिग्रह से, अनुमत से, और उद्दिष्ट भोजन से विरति को प्राप्त ग्यारह श्रावक होते हैं।[10] ये दार्शनिक आदि ग्यारह प्रकार के श्रावक तीन भेद रूप से भी वर्णित किये हैं–दार्शनिक, व्रतिक, सामयिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, दिवामैथुनविरत ये छह गृहस्थ कहलाते हैं तथा श्रावकों में जघन्य होते हैं। अब्रह्मविरत, आरम्भविरत और परिग्रहविरत ये तीन वर्णी या ब्रह्मचारी कहलाते हैं और श्रावकों में मध्यम होते हैं। अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत ये दो भिक्षुक कहे जाते हैं और श्रावकों में उत्तम होते हैं। (सागारधर्मामृत 12/2-3 श्लोक)।

सोमदेव ने भी आदि की छह प्रतिमा वालों को गृहस्थ आगे की तीन प्रतिमा वालों को ब्रह्मचारी और अन्तिम दो (अनुमतिविरत, उद्दिष्ट विरत वाले) को भिक्षुक कहा है। चारित्रसार में प्रथम छह को जघन्य उनसे आगे के तीन को मध्यम और अन्तिम दो प्रतिमाओं के धारक को उत्तम श्रावक कहा है। (पृ. 98)

श्वेताम्बर परम्परा में समवायांग में 11 प्रतिमाओं का विस्तार से वर्णन है। दिगम्बर परम्परा में आचार्य समन्तभद्र, सोमदेव, अमितगति, वसुनन्दी पं. आशाधर जी ने विशेष वर्णन किया है, किन्तु उमास्वामी, पूज्यपाद, अकलंकदेव,

जिनसेन, पद्मनन्दी, अमृतचन्द्र आदि ने श्रावक के व्रतों का चिन्तन किया है किन्तु प्रतिमाओं के सम्बन्ध में उल्लेख भी नहीं किया है।

पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक द्रव्य और भाव रूप से ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करना हुआ निरन्तर महाव्रतों के पालन की लालसा करता है। निश्चित ही वह प्रशंसनीय है–

रागादिक्षयतारतम्यविकच्छुद्धात्मसंवित्सुख–
स्वादात्मस्वबहिर्बहिस्त्रसबधाद्यंहोहोव्यपोहात्मसु।
सद्दृग्दर्शनकादिदेशविरतिस्थानेषु चैकादश–
स्वेकं यः श्रयते यतिव्रतरतस्तं श्रद्दधे श्रावकम्।। 46।। सागारधर्मामृत

देशविरत के दार्शनिक आदि ग्यारह स्थान अन्तरंग में राग आदि के क्षय से प्रकट हुई शुद्ध आत्मानुभूति रूप सुख या उससे उत्पन्न हुए सुख के स्वाद को लिए हुए हैं और बाह्य में त्रस हिंसा आदि पापों से विधिपूर्वक विरति को लिए हैं।

दिगम्बर परम्परा में मान्य इन प्रतिमाओं का रूप ही श्वेताम्बर साहित्य में कुछ नाम और क्रम परिवर्तन के साथ मिलता है, जो इस प्रकार है– (1) दर्शन, (2) व्रत, (3) सामायिक, (4) पौषध, (5) नियम, (6) ब्रह्मचर्य, (7) सचित्तत्याग, (8) आरम्भत्याग, (9) प्रेष्यपरित्याग अथवा परिग्रहपरित्याग, (10) उद्दिष्टभक्तत्याग, (11) श्रमणभूत

प्रथम चार प्रतिमाओं के नाम दोनों परम्पराओं में समान हैं। सचित्तत्याग का क्रम दिगम्बर परम्परा में पांचवाँ है, तो श्वेताम्बर परम्परा में सातवॉ है। दिगम्बर परम्परा में रात्रिभुक्तित्याग को स्वतन्त्र प्रतिमा गिना है जबकि श्वेताम्बर परम्परा में पांचवी नियम में उसका समावेश है। ब्रह्मचर्य का क्रम श्वेताम्बर परम्परा में छठा है तो दिगम्बर परम्परा में सातवाँ है। दिगम्बर परम्परा में अनुमतित्याग दसवीं प्रतिमा है। श्वेताम्बरों में उद्दिष्टत्याग में इसका समावेश किया है। श्वेताम्बर परम्परा में ग्यारहवीं प्रतिमा का नाम श्रमणभूत है क्योंकि श्रावक का आचार श्रमण सदृश माना है। दिगम्बर परम्परा में

ग्यारहवीं प्रतिमा उद्दिष्टत्याग है। यह भी श्रावक है। श्रावक की उत्कृष्ट अवस्था है किन्तु श्रमण सदृश आचार नहीं हो सकता क्योंकि ग्यारहवीं प्रतिमा वाले के भी वस्त्र का परिग्रह रहता है।

प्रत्येक प्रतिमा के भावरूप (आध्यात्मरूप) आर द्रव्यरूप (बाह्यरूप) ये दो रूप होते हैं। बाह्यरूप दृश्य है और अध्यात्मरूप अदृश्य है। वह स्वसंकोच मात्र है। पण्डित श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री ने इस अध्यात्मरूप को समझाते हुए लिखा है – "जब चारित्रमोहनीय कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का क्षय होता है। अर्थात् उनके उदय का अभाव होता है और देशघातिस्पर्धकों का उदय रहता है, तब राग द्वेष के घटने से निर्मल चिद्रूप की अनुभूति होती है, वह अनुभूति सुखरूप है या उस अनुभूति से उत्पन्न हुए सुख का स्वाद उन प्रतिमाओं का अनन्त रूप है। ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर रागादि घटते जाते हैं त्यों त्यों आगे की प्रतिमाओं में निर्मल चिद्रूप की अनुभूति में वृद्धि होती जाती है और उत्तरोत्तर आत्मिक सुख बढ़ता जाता है। इसके साथ ही श्रावक ही बाह्य प्रवृत्ति में परिवर्तन आये बिना नहीं रहता। वह प्रतिमा के अनुसार स्थूल हिंसा आदि पापों से निवृत्त होता जाता है। ऐसा श्रावक सतत भावना करता है कि मैं गृहस्थाश्रम को छोड़कर कब मुनिपद धारण करूँ।

पण्डित जी ने प्रतिमाधारी श्रावक को शुद्ध आत्मानुभूति होने की जो चर्चा की है, वह सैद्धान्तिक ग्रन्थों से भिन्नता रखती है क्योंकि जब तक भी अन्तरंगपरिग्रह और बहिरंगपरिग्रह से निवृत्ति नहीं होगी तब तक शुद्धानुभूति असंभव है।[11]

दिगम्बर परम्परा में प्रतिमाओं के काल का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त की आयु वाला गृहस्थ गुरु की साक्षी पूर्वक व्रत ग्रहण के साथ जितनी प्रतिमाएं ग्रहण करता है उनका विधिवत् पालन करते हुए पूरा जीवन व्यतीत कर सकता है अथवा मुनिपद ग्रहण कर महाव्रती बनकर आत्म साधना कर सकता है किन्तु श्वेताम्बर साहित्य में तो प्रथम प्रतिमा एक मास, द्वितीय प्रतिमा दो मास, तीसरी तीन मास, चौथी चार मास, पांचवीं का पांच मास, छठी का छः मास, सातवीं का सात मास, आठवीं का आठ मास, नवीं

का नौ मास, दसवीं का दस मास, और ग्यारहवीं का ग्यारह मास तक पालने का विधान है। प्रथम को एक माह पालन करने पर ही दूसरी प्रतिमा ग्रहण की जाती है इस प्रकार ग्यारहवीं तक का क्रम है और ग्यारह माह तक ग्यारहवीं प्रतिमा का पालन कर मुनिव्रत ग्रहण किया जाता है। अर्थात् कुल छयासठ माह प्रतिमाओं का पालन किया जाता है।

उक्त भिन्नता होने पर भी दोनों परम्पराओं में प्रतिमाओं का विशद विवेचन है। प्रकृत में प्रत्येक प्रतिमा का संक्षिप्त रूप में वर्णन प्रस्तुत है :–

दर्शनप्रतिमा – जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है संसार, शरीर और भोगों से विरक्त है पञ्च परमगुरुओं के चरणों की शरण को प्राप्त है और सत्यमार्ग को ग्रहण करने वाला या पक्ष वाला है वह दर्शन प्रतिमा का धारी दार्शनिक श्रावक है।[12] इस प्रतिमा का धारक सम्यक्त्व सहित अष्टमूलगुणों का पालन करता है।

व्रतप्रतिमा – जो श्रावक माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीनों शल्यों से रहित होकर निरतिचार अर्थात् अतिचार रहित निर्दोष रूप से पांच अणुव्रत और सात शीलव्रतों को धारण करता है, वह व्रती पुरुषों के मध्य में व्रत प्रतिमाधारी व्रती श्रावक माना गया है।[13] प्रथम प्रतिमा में तीन शल्यों का अभाव नहीं होता है और अणुव्रतों में कदाचित् अतिचार लगते हैं किन्तु दूसरी प्रतिमा में आते ही तीनों शल्यें छूट जाती हैं और पांच अणुव्रतों का निरतिचार पालन होने लगता है। तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का सातिचार पालन होता है। दर्शन और व्रत प्रतिमा में यही अन्तर है।

सामायिकप्रतिमा – जो चार बार तीन तीन आवर्त और चार प्रणति करके यथाजात बालक के समान निर्विकार बनकर खड्गासन या पद्मासन से बैठकर मन-वचन-काय शुद्ध करके तीनों सन्ध्याओं में देव-गुरु-शास्त्र की वन्दना और प्रतिक्रमण आदि करता है, वह सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।[14]

व्रत प्रतिमा में सामायिक शील रूप कहा गया है। शील रूप अवस्था में अतिचार लगता रहता है। समय की निश्चितता नहीं होती और तीन बार का नियम भी नहीं है किन्तु यहाँ सामायिक व्रत अंगीकार करने पर प्रतिमा रूप

होता है जैसा कि पण्डित आशाधर जी कहते हैं– निरतिचार सम्यग्दर्शन तथा मूलगुण और उत्तरगुणों के समूह के अभ्यास से जिसकी बुद्धि अर्थात् ज्ञान विशुद्ध हो गया है तथा जो परिग्रह और उपसर्ग के आने पर भी तीनों सन्ध्याओं में साम्यभाव धारण करता है, वह श्रावक सामायिक प्रतिमा वाला होता है।[15] आचार्य वसुनन्दि जिनशास्त्र, जिनधर्म, जिनचैत्य, परमेष्ठी तथा जिनालयों की तीनों काल में जो वन्दना की जाती है उसे सामायिक कहते हैं।[16] सामायिक का उत्कृष्ट काल छः छड़ी है और जघन्यकाल दो घड़ी का है। सामायिक समताभाव जागृत करने में पूर्ण सहायक होती है।

प्रोषध प्रतिमा – प्रत्येक मास की दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इन चारों पर्वो में अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर सावधान हो प्रोषधोपवास करने वाला प्रोषध नियम विधायी श्रावक कहलाता है।[17] प्रोषध व्रत का धारक सोलह प्रहर का भी उपवास करता है। यह उत्कृष्ट उपवास होता है। मध्यम श्रावक द्वारा बारह प्रहर और जघन्य श्रावक द्वारा आठ प्रहर का भी उपवास किया जाता है। उस समय आचाम्ल निर्विकृति आदि से भी प्रोषध की साधना की जाती है। इसमें कुछ शिथिलता भी होती है किन्तु प्रतिमा में किसी भी प्रकार की कोई शिथिलता नहीं होती है। प्रतिमा निरतिचार होती है। यदि शरीर स्वस्थ है तो सोलह प्रहर का ही उपवास करना चाहिए। अस्वस्थता में बारह और आठ प्रहर का उपवास किया जा सकता है। प्रोषधोपवास के दिन गृहस्थ श्रावकश्रमण के समान आरम्भ आदि का परित्याग कर धर्मध्यान करता है।

सचित्तत्यागप्रतिमा – जो दयामूर्ति श्रावक कच्चे कन्दमूल, फल, शाक, शाखा, बेर, कन्द, फूल और बीजों को नहीं खाता है, वह सचित्तत्याग प्रतिमाधारी है।[18] इस प्रतिमाधारी की प्रशंसा करते हुए प. आशाधर जी ने कहा है–

अहोजिनोक्तिनिर्णीतरहो अक्षजितिस्सताम्।
नालक्ष्यजन्त्वपि हरित् प्यान्येतेऽसुक्षयेऽपि यत्।। सा. धर्म. 7/10

सचित्तत्याग के लिये सावधान सज्जन पुरुषों का जिन भगवान् के वचनों पर निश्चय आश्चर्यकारी है, इनका इन्द्रियजय विस्मय पैदा करता है क्योंकि

जिस वनस्पति के जन्तु प्रत्यक्ष से नहीं देखे जाते हैं केवल आगम से ही जाने जाते हैं, वे प्राण जाने पर भी उसे नहीं खाते हैं।

शीलों के वर्णन प्रसंग में भोगोपभोगपरिमाण नामक शील के अतिचार रूप से जो सचित्तभोजन व्रत प्रतिमाधारी के लिये त्याज्य कहा था खाये जाने वाले सचित्त द्रव्य में रहने वाले जीवों के मरण से पञ्चम प्रतिमा धारक श्रावक उस सचित्त भोजन को व्रत रूप से त्याग देता है।

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार इस प्रतिमा वाला वनस्पति का त्यागी होता है किन्तु पण्डित आशाधर जी उसे अप्रासुक का त्यागी कहते हैं यह उत्तरवर्ती विकास है।

रात्रिभुक्तित्यागप्रतिमा – जो रात्रि में अन्न, पान, खाद्य और लेह्य इन चार प्रकार के आहारों को प्राणियों पर अनुकम्पाशील होकर नहीं खाता है वह रात्रिभुक्तिविरत श्रावक है।[19] पण्डित आशाधर इसे रात्रिभक्त व्रत प्रतिमा नाम देते हैं उन्होंने कहा है "जो पूर्वोक्त पांच प्रतिमाओं के आचार में पूरी तरह से परिपक्व होकर स्त्रियों से वैराग्य के निमित्तों में एकाग्रमन होता हुआ मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से दिन में स्त्री का सेवन नहीं करता वह रात्रिभक्तव्रत होता है।[20] रात्रि में भी ऋतुकाल में ही सेवन करता है। पर्व के दिनों का त्यागी होता है किन्तु प्रतिमाधारी कृत, कारित, अनुमोदना के साथ मन वचन काय से रात्रि भोजन का त्यागी होने का अर्थ नवकोटि से नियम का पालक होता है।

जिन आचार्यों[21] ने दिवामैथुनत्याग या रात्रिभक्तव्रत नाम दिया है और दिन में स्त्री का त्याग बतलाया है, उनके पक्ष में भी यही है कि इससे पांच प्रतिमाओं के पालन करते समय भी दिन में स्त्री भोग का त्याग होता है किन्तु इस प्रतिमा का पालक नवकोटि से पालन करता है। हास विनोद का भी दिन में त्याग करता है।

ब्रह्मचर्यप्रतिमा – जो पुरुष स्त्री के कामाङ्ग को यह मल का बीज है, मल की योनि है, निरन्तर मल झरता रहता है, दुर्गन्धयुक्त है और वीभत्स है। इस

प्रकार देखता हुआ उससे विरक्त होता हे, वह ब्रह्मचर्य प्रतिमा का धारी श्रावक है।[22] इस प्रतिमा का धारी सभी स्त्रियों का त्यागी होता है। सभी से तात्पर्य देवांगना, तिर्यञ्चिनी और मनुष्य स्त्रियों से है साथ में इनकी प्रतिकृतियों से भी है। इनका सेवन मन, वचन, काय से नहीं होना चाहिए। ब्रह्मचर्यप्रतिमा के धारक की बहुत प्रशंसा की गयी है निरतिचार ब्रह्मचर्य का पालन करने वालों का नाम लेने मात्र से ब्रह्मराक्षस आदि क्रूर प्राणी भी शान्त हो जाते हैं, देवता भी सेवकों की तरह व्यवहार करते हैं तथा विद्या ओर मंत्र सिद्ध हो जाते हैं। निरतिचार ब्रह्मचर्य का पालन करने से आत्मा की अनन्त शक्ति बढ़ जाती है अतः परद्रव्य से हटकर आत्मरमण करने के लिये इस व्रत का नवकोटि पालन करना चाहिए।

आरम्भत्यागप्रतिमा – आरम्भ शब्द एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है हिंसात्मक क्रिया। श्रमणोपासक संकल्प पूर्वक त्रस जीवों की हिंसा नहीं करता किन्तु कृषि वाणिज्य अन्य व्यापार में जो षट्काय के जीवों की हिंसा संभव है/होती ही है अतः उसका त्यागी होता है।[23] यहाँ इतना विशेष है कि वह स्वयं आरम्भ का त्यागी होता है किन्तु सेवक आदि से आरम्भ कराने का त्याग नहीं करता उसका आरम्भ का त्याग एक करण तीन योग से होता है। आचार्य सकलकीर्ति ने आठवीं प्रतिमाधारी को रथादि की सवारी के त्याग का भी विधान किया है।[24]

परिग्रहत्यागप्रतिमा – जो श्रावक क्षेत्र-वास्तु, धन-धान्य हिरण्य-स्वर्ण दासी-दास और कुप्यभाण्ड इन दस बाह्य परिग्रहों में ममता छोड़ निर्ममत्वभाव से आत्मस्थ हो सन्तोष धारण करता है वह बाह्य परिग्रह से विरक्त नवीं प्रतिमा का धारक श्रावक होता है।

अनुमतित्यागप्रतिमा – जिस श्रावक की किसी प्रकार के आरम्भ अथवा परिग्रह में या ऐहिक कार्यो में अनुमोदना नहीं रहती उसे समबुद्धि अनुमति त्यागी श्रावक कहा है।[25]

उद्दिष्टत्यागप्रतिमा – जो श्रावक अपने घर से मुनिवन को जाकर गुरु के समीप में व्रतों को ग्रहण करके भिक्षावृत्ति से आहार ग्रहण करता है। चेल खण्ड

धारण करता है। अपने निमित्त से बने हुए आहार को ग्रहण नहीं करता है, वह उद्दिष्ट आहार त्यागी श्रावक कहलाता है।

उक्त ग्यारह प्रतिमाओं का संक्षिप्त विवेचन गृहस्थ धर्म की विशिष्टता के कारण किया गया है।

1. मूलोत्तरगुणनिष्ठामधितिष्ठन् पञ्चगुरुपदशरण्यः।
दानयजनप्रधानो ज्ञानसुधां श्रावकः पिपासुः स्यात्। सागारधर्मामृत 1/15
2. श्रावकधर्मप्रदीपिका गा 2
3. श्रद्धालुतांश्रातिशृणोति शासन दीने बपेदाशु वृणोति दर्शनम्।
कृतत्वपुण्यानि करोति संयमं त श्रावक प्राहुरमी विचक्षणाः।।
4 प्राणान्तेऽपि न भंक्त्व्यं गुरुसाक्षि श्रितं व्रतम्।
प्राणान्तसतत्क्षणे दुःख व्रतभङ्गे भवे भवे।। सागरधर्मामृत 7/52
5. प्रतिमा प्रतिपत्ति प्रतिज्ञेतियावत् स्थानांग वृत्ति पृष्ठ 61
संसार शरीर भोगो से विरक्ति पूर्वक विषय कषायो की निवृत्ति और आत्मस्वरूप में प्रवृत्ति का नाम प्रतिमा है।
6. संयम अंश जग्यौ जहॉ, भोग अरुचि परिणाम।
उदय प्रतिज्ञा को भयौ प्रतिमा ताकौ नाम।। बनारसीदास
7. दंसण वय सामाइय पोसहसचित्त राइभत्ती य।
बम्भारम्भपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठदेशाविरदे दे।। चारित्रपाहुड़ गा. 21
8. कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में (धर्मानुप्रेक्षा के अन्तर्गत)
9. श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सहसंतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः।।
10. सागारधर्मामृत 17/1
11. समयसार अध्यात्मकलश
12. सम्यग्दर्शनशुद्धा ससारशरीरभोगनिर्विण्णः।
पञ्चगुरुचरणशरणो दार्शनिकस्तत्त्वपथगृह्य ।। रत्नकरण्डश्रावकाचार
13. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 138
14 वही 139
15. सुदृड् मूलोत्तरगुण ग्रामाभ्यासविशुद्धधीः।
भजंस्त्रिसध्यं कृच्छ्रेऽपि साम्यं सामायिकी भवेत्।। 16/1
16. जिनणवयणधम्मचेइयपरमेट्ठिजिणालयाण णिच्चं पि।

ज वदण तियाल कीरइ सामायिय त खु।।

17 रत्नकरण्डश्रावकाचार 140

18. मूलफल-शाक-शाखा-करीर-कन्द-प्रसून बीजानि।
नामानि योऽत्ति सोऽय सचित्तविरतो दयामूर्ति·।। रत्नकरण्ड श्रावकाचार 141

19. अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरत· सत्वेष्वनुकम्पमानमना ।। रत्नकरण्ड श्रावकाचार 142

20. सागारधर्मामृत 7/12

21 वसुनन्दि, पं. आशाधर आदि

22. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 143

23 वही 144

24 धर्मप्रश्नोत्तर श्रावकाचार श्लोक 107

25. रत्नकरण्डश्रावकाचार 145

—रीडर-संस्कृत विभाग
दिगम्बर जैन कॉलेज, बड़ौत (बागपत)

आपदां कथितः पन्थाः इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः संपदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्।।

—'आपदाओं का—दुःखों का—मार्ग है इन्द्रियों का असंयम; और इन्द्रियों को जीतना—उन्हें अपने वश में रखना—यह सम्पदाओं का—सुखों का मार्ग है।

जो मार्ग इष्ट हो उसी पर चलो।'

''गागरोन की प्राचीन, अप्रकाशित जैन प्रतिमाएँ''

—ललित शर्मा

राजस्थान के दक्षिण-पूर्व में स्थित झालावाड़ जिला अपने प्राचीन भू-भाग में अनेक धर्मो की संस्कृति के अवशेषो के साथ जैन धर्म की संस्कृति के भी कई आयामों को समाहित किये हुए है। मुख्यालय झालावाड़ से उत्तर की ओर चार कि.मी. दूर आइ-और काली सिन्ध नदी के तट पर 9वीं सदी का एक प्राचीन गागरोन दुर्ग है। यह दुर्ग प्राचीन दुर्गी की 'जल दुर्ग' श्रेणी का उत्तरी भारत में एक मात्र दुर्ग है। दिल्ली-मुम्बई बड़ी रेलवे लाईन के मध्य-कोटा-जक्शंन से इस स्थल की दूरी मात्र 85 कि. मी. है तथा दक्षिण में उज्जैन-इन्दौर मार्ग पर स्थित है। कोटा से बस मार्ग द्वारा झालावाड़ होकर इस दुर्ग तक आसानी से पहुँचा जा सकता है। वायु मार्ग से इस स्थल पर पहुंचने के लिये यहां का निकटतम हवाई अड्डा राजस्थान राज्य की राजधानी जयपुर अथवा मध्य-प्रदेश की औद्योगिक नगरी 'इन्दौर' है। दोनों स्थानो से बस मार्ग द्वारा झालावाड़ आसानी से पहुंचा जा सकता है।

कुछ समय पूर्व मैं पुरातात्विक शोध के दौरान गागरोन-दुर्ग में अपने मित्र श्री निखिलेश सेठी (फर्म-विनोदराम-बालचन्द, विनोद भवन, झालरापाटन) के साथ गया। शोध के दौरान मुझे वहाँ के खण्डहरो और दीवारों में कुछ ऐसी सुन्दर व कलात्मक जैन प्रतिमाएँ मिली जिनकी ओर आज तक किसी पुरातत्वविद, शोधार्थी का ध्यान ही नही गया था। इसलिये ये प्रतिमाऍ आज तक अप्रकाशित रहीं जो समय, धूप, पानी, हवा की मार सहकर आज भी प्राचीन संस्कृति की शिल्प कला की अनुपम थाती हैं। इन दुर्लभ, प्राचीन और अप्रकाशित प्रतिमाओ का परिचय इस प्रकार है। यथा—

गागरोन दुर्ग में प्राचीन भैरवपोल के उत्तर की ओर दुर्ग की लम्बी दीवार की एक बुर्जी में बरसों से चुनी हुई महावीर स्वामी की एक सुन्दर प्रतिमा शोध अध्ययन की दृष्टि से उपयोगी है। यह प्रतिमा डेढ़ फीट लम्बे व एक फीट चौड़े भूरे व पीतवर्णी पाषाण खण्ड पर बनी हुई है। पद्मासन महावीर

स्वामी की इस प्रतिमा की कमनीय काया का अंकन इसकी प्राचीनता को स्वतः ही प्रमाणित करता है, जो पाषाण में प्राण का जीवन्त प्रमाण है। महावीर की यह प्रतिमा ध्यानावस्था में है जिसमे पुनर्जन्म व मृत्यु से मुक्ति के भाव परिलक्षित होते है। प्रतिमा की ग्रीवा में सलवटे व कन्धे को छूते दोनों लम्बकर्ण कलाकार की दार्शनिक चेतना के प्रमाण है। प्रतिमा के शीश जूट पर घुंघराले केशों का अंकन बड़ा ही सुन्दर बना हुआ है वही दोनो हाथ पद्मासन पादप पर ध्यानावस्था में रखे हुए है।

महावीर स्वामी की इस अनुपमेय प्रतिमा के श्रीमुख के पृष्ठ में सुन्दर व द्विआयामी गोलाकार आभामण्डल दर्शाया गया है जिसके शीर्ष पर एक लघु पद्मासन जिन प्रतिमा बनी हुई है—प्रतिमा को देखते ही मन में भक्ति और वैराग्य के भाव उत्पन्न होते हैं। इस प्रतिमा के नीचे दांयी तथा बांयी ओर दो लघु बैठी हुई सिहांकृतियाँ लांछन रूप में एक-दूसरे की विपरीत मुखावलि में बनी हुई हैं। महावीर स्वामी की इस प्रतिमा के दोनो पद्मासन पैरों के नीचे दो पुरुषाकृतियॉ बनी है जो महावीर के आसान का भार उठाने का उपक्रम किये हुए है। प्रतिमा के दोनों घुटनो के पृष्ठ में दो सुन्दर लघु खड़गासन मुद्रा में सुन्दर जिन प्रतिमाएँ है वहीं प्रतिमा के दोनो कन्धों के ऊपर दो लघु पद्मासन जिन मूर्तियाँ तपस्या तल्लीन मुद्रा में उकरी हुई हैं। सारतः महावीर स्वामी की इस सुन्दर और प्राचीन प्रतिमा में उनका मुख और ध्यानावस्था के हाथ खण्डित होने के बावजूद भी प्रतिमा पर्यटकों, शोधार्थियों व पुरातत्वविदो के लिये अध्ययन व अवलोकन की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण है।

इस प्रतिमा के निकट एक प्राचीन देवालय की खण्डित उतरांग पट्टिका हैं जिसमें उनके लघु पद्मासन स्वरूप में जैन मूर्तियाँ कलात्मकता से बनी हुई हैं। डेढ़ मीटर लम्बे व आधे मीटर चौड़े लाल पाषाण खण्ड में मध्य में एक सुन्दर लघु पद्मासन जिन मूर्ति है जिसका मुख व आभामण्डल विकृत होने के बावजूद भी शरीर सौष्ठव काफी सुन्दर है। इसी क्रम में दुर्ग के दरीखाने के मध्य चौक में दो फीट लम्बे व एक फीट चौड़े काले-भूरे पाषाण खण्ड पर एक सुन्दर दिगम्बर जैन प्रतिमा खड्गासन मुद्रा में तपस्या रत है। इस प्रतिमा की मुखाकृति पूर्णतया भग्न होने पर भी इसका कला सौष्ठव अति सुन्दर है। इस प्रतिमा को कलाकार ने बड़ी ही तन्मयता से उकेरा है इसकी कला ही इसकी

प्राचीनता का प्रमाण है। भग्न शीश व आभामण्डल होने के बावजूद भी शेष कटिप्रदेश, धड़ व पैर अत्यन्त सुन्दर हैं। प्रतिमा के दोनों हाथ भी खण्डित हैं। इस प्रतिमा के पैरों के दोनों ओर दो खड्गासन लघु दिगम्बर जिन प्रतिमाएँ हैं जिनके दोनों ओर ऊपर दो-दो पद्मासन लघु मूर्तियाँ तपस्यारत भावों में उकेरी हुई है। मुख्य प्रतिमा के भग्नमुख व आभा मण्डल के दांयी व बांयी ओर पुरुष स्त्री युग्म के आकाश गमन करते गन्धर्व दम्पति दर्शित है। संभवतः वे प्रतिमा का अभिषेक कर रहे हैं। मूर्ति के पैरों के नीचे लांछन, वाहन विन्यास न होने से दिगम्बर होने से यह निश्चित ही दिगम्बर जैन धर्म की उत्कृष्ट कला शिल्प निधि है।

गागरोन दुर्ग से 1953 में अवाप्त और राजकीय संग्रहालय में प्रदर्शित दसवीं सदी की एक सुन्दर प्रतिमा जैन धर्म के प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव की है, 25 सेंटीमीटर लम्बे व 22 सेंटीमीटर ऊंचे सिलेटिया पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण भगवान ऋषभदेव की यह प्रतिमा पद्मासन मुद्रा में है। शिल्प और तपस्या भाव से सुन्दर बन पड़ी इस प्रतिमा के ध्यानावस्था के दोनों हाथों की अंगुलियाँ व हथेली भग्न है। प्रतिमा के पैरों के नीचे वृषभ की आकृति बनी हुई है जिसके दांयी तथा बांयी ओर दो विपरीत मुखाकृतियों वाली सिंहाकृतियाँ बनी हुई है। प्रतिमा का आसन उठाने की मुद्रा में नीचे की ओर दो पुरुषाकृतियाँ भारसायक रूप में उकरी हुई है। प्रतिमाँ के आसपास दो-दो खण्डित लघु प्रतिमाएँ भी है।

सारतः उक्त जैन प्रतिमाओं की अवाप्ति से प्रमाणित होता है कि संभवतः 10वीं सदी में गागरोन में वैष्णव मत के साथ-साथ जैनधर्म का भी बोल-बाला रहा होगा और वहाँ कदाचित् कोई प्राचीन जैन मन्दिर अवश्य रहा होगा जो किसी कारण वश भग्न होने से उसके अवशेष रूप की उक्त प्रतिमाएँ व उतरांग पट्टियां इस दुर्ग में बाद में चुन दी गई हो। आज भी ये प्रतिमाएँ शोध और अध्ययन की दृष्टि से उपयोगी साबित हो सकती हैं। समय के झंझावातों से जूझकर भी इन्होने अपना शिल्प सौन्दर्य जिस प्रकार बनाये रखा वह आज भी अनुपमेय है।

—जैकी स्टूडियो
11-मंगलपुरा स्ट्रीट, झालावाड़-326001 (राज.)

भगवान महावीर और परिग्रह-परिमाण व्रत

—डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन

जैन धर्मानुसार आत्मा पुरुषार्थ करे तो परमात्मा बन जाती है। एक बार परमात्म-पद प्राप्त हो जाने के बाद ससार में पुनरागमन नहीं होता। भगवान महावीर का निर्वाण के उपरान्त संसार में पुनः आगमन नहीं हो सकता; लेकिन जिस जीव का आगमन संसार में हुआ है उसका स्व पुरुषार्थ के बल पर परमात्मा बन भगवान महावीर जैसा बन सकता है। भगवान महावीर की साधना किसी एक जन्म की नहीं अपितु अनेक जन्मों की साधना का परिणाम थी जिसका लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्त होना अश्वयंभावी था।

तीर्थंकर का जन्म मात्र स्व-उपकार के लिए ही नहीं अपितु पर-उपकार के लिए भी होता है। तीर्थंकर के जन्म के पूर्व की परिस्थितियाँ भी उनकी आवश्यकता को प्रतिपादित करती हैं। 'वीरोदय महाकाव्य' के अनुसार–

''मनोऽहिवद्वक्रिमकल्पहेतुर्वाणी कृपाणीव च मर्म भेत्तुम्।
कायोऽप्यकायो जगते जनस्य न कोऽपि कस्यापि बभूव वश्यः।।
इति दुरितान्धकारके समये नक्षत्रौघसङ्कुलेऽघमये।
अजिन जनाऽऽह्लादनाय तेन वीराह्वयवर सुधास्पदेन।।'' [1]

अर्थात् उस समय के लोगों का मन सर्प के तुल्य कुटिल हो रहा था, उनकी वाणी कृपाणी (छुरी) के समान दूसरों के मर्म को भेदने वाली थी और काय भी पाप का आय (आगम-द्वार) बन रहा था। उस समय कोई भी जन किसी के वश में नहीं था; अर्थात् लोगों के मन-वचन-काय की क्रिया अति कुटिल थी और सभी स्वच्छन्द एवं निरङ्कुश हो रहे थे। इस प्रकार पापान्धकार से व्याप्त, दुष्कृत-मय, अक्षत्रिय जनों के समूह से संकुल समय में, अथवा नक्षत्रों के समुदाय से व्याप्त समय में उस 'वीर' नामक महान चन्द्र ने जनों के कल्याण के लिए जन्म लिया।

'वीर' ने जन्म लेकर 'वर्द्धमान' नाम सार्थक करते हुए महावीरत्व की साधना पूर्ण की। वे पूर्ण-ज्ञान होते ही केवलज्ञानी-सर्वज्ञ बने। उनके सद्‌विचारों का सम्प्रेषण दिव्यध्वनि के माध्यम से हुआ। उन्होंने आचार सिखाने से पूर्व अपने विचारों से मानव हृदयों, पशु-पक्षियों तक को अभिसिंचित किया। उनकी धारणा थी कि विचार विहीन आचार जड़ता का प्रतीक है। नीति कहती है–

चारित्रं नरवृक्षस्य सुगंधि कुसुमं शुभम्।
आकर्षण तथैवात्र लोकानां रंजनं महत्।।

अर्थात् चारित्र मनुष्य रूपी वृक्ष का सुन्दर, सुगन्धित पुष्प है। सुन्दर, सुगन्धित पुष्प के समान ही उदात्त चरित्र सबको अपनी ओर आकृष्ट करता है और सबको प्रसन्नता प्रदान करता है।

इस चारित्र की सुगन्ध तभी प्राप्त हो सकती है जबकि यह व्यक्ति धर्म से जुड़े, धर्मात्मा बने। धर्मपालन मन की शुद्धि, विचारों की शुद्धि एवं कार्यो की शुद्धि से ही संभव है। मन की शुद्धि के विषय में कहा गया है कि–

मनः शुद्धयैव शुद्धिः स्याद् देहिनां नात्र संशयः।
वृथा तद्वयतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम्।।

अर्थात् मन की शुद्धि से आत्मा की शुद्धि होती है। मन की शुद्धि के बिना केवल शरीर को कष्ट देना व्यर्थ है। सत्चारित्र की प्राप्ति के लिए जितेन्द्रिय होना आवश्यक है। 'ज्ञानार्णव' में आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है कि–

इन्द्रियाणि न गुप्तानि नाभ्यस्तश्चित्त निर्जय।
न निर्वेदः कृतो मित्र नात्मा दुःखेन भावितः।।
एवमेवापवर्गाय प्रवृत्तैर्ध्यान साधने।
स्वमेव वञ्चितं मूढैर्लोकद्वयपथच्युतैः।। [2]

अर्थात् हे मित्र! जिसने इन्द्रियों को वश में नहीं किया, चित्त को जीतने का अभ्यास नहीं किया, वैराग्य को प्राप्त नहीं हुए, आत्मा को कष्टों से भाया नहीं और वृथा ही मोक्ष हेतु ध्यान में प्रवृत्त हो गये; उन्होंने अपने को ठगा और

इहलोक, परलोक; दोनों से च्युत हुए। कहने का तात्पर्य यही है कि इन्द्रियजयी होने पर ही चारित्रिक श्रेष्ठता प्राप्त होती है।

भगवान महावीर से पूर्व यह धारणा बन गई थी कि धर्मसाधन तो वृद्धावस्था में करणीय है; किन्तु भगवान महावीर ने कहा कि धर्म के लिए कोई उम्र नहीं होती। वह तो बचपन में भी किया जा सकता है, घोर युवावस्था में भी। उन्होंने तीस वर्ष की युवावस्था में दिगम्बर दीक्षा ग्रहण कर अपनी साधना को एक नया आयाम ही नहीं दिया अपितु आध्यात्मिक क्रान्ति का शंखनाद किया; जिसका चरम और परम लक्ष्य था—स्वयं को जीतो। जो स्वयं को जीतता है वास्तव में वही जिन है। भगवान महावीर ने कहा कि जीतना है तो स्वयं को जीतो, मारना है तो स्वयं के विकारों को मारो। भेद देखने वाला संसारी है और जो भेद में भी अभेद (आत्मा) को देख लेता है वह मोक्षार्थी है। सब जीवों से ममता तोड़ो और समता जोड़ो। शस्त्रप्रयोग मत करो और जिनवचन रूप शास्त्रों के विरुद्ध आचरण मत करो। भगवान महावीर ने काम जीता, कषायें जीतीं, इन्द्रियों को जीता ओर विषमता के शमन हेतु समता को अपनाया और मोक्ष पाया। हमारा यही लक्ष्य होना चाहिए।

गांधी जी ने इस युग में भगवान महावीर के दर्शन को आत्मसात् किया था। उन्होंने लिखा कि—"जो आदमी स्वयं शुद्ध है, किसी से द्वेष नहीं करता, किसी से अनुचित लाभ नहीं उठाता, सदापवित्र मन रखकर व्यवहार करता है, वह आदमी धार्मिक है वही सुखी है और वही पैसे वाला है। मानव जाति की सेवा उसी से बन सकती है। "आज आवश्यकता है भगवान महावीर की, एक प्रेरक आदर्श की; जो बता सके कि चारित्र का मार्ग ही वरेण्य है।" मेरी यह पंक्तियां इन्हीं भावनाओं की उद्भावक हैं—

हे वीर प्रभु इस धरा पर आज तुम फिर से पधारो।
हे वीर प्रभु सब काज कर आज मम जीवन निहारो।।
हो गया मानव जो दानव दनुजता उसकी मिटाओ।
सरलता से, नेह-धन से सहजता उसकी बचाओ।।
हे वीर तुम आनन्द की मूर्ति निर्वैर हो।

गुणों के मीर हो शान्ति से अमीर हो।।
एक से नेक हो अनेकान्त से अनेक हो।
शम, दम, दया, त्याग के स्वयं सन्देश हो।।

भगवान महावीर ने कहा कि आशा-तृष्णा के ताप से तप्त मन हितकर नहीं। अर्थ अनर्थ न कर दे इसलिए अर्थ की अनर्थता का चिन्तन करो— "अर्थमनर्थं भावय नित्यं।" गृहस्थ अर्थ का उपार्जन करे किन्तु वह न्याय की तुला पर खरा उतरना चाहिए। अन्याय, अनीति से कमाया गया धन विसंवाद कराता है, संघर्ष के लिए प्रेरित करता है अतः वह मल की तरह त्याज्य है। गृहस्थ के लिए धन साधन बने, साध्य नहीं और साधु के लिए धन सर्वथा त्याज्य है। यहाँ तक कि वह उसके प्रति ममत्व भी न रखे तभी समत्व की साधना पूरी होगी। इसीलिए भगवान की वाणी अमृत रूप बनी, भगवान का चारित्र सम्यक् चारित्र बना। उनके चारित्र से संसार जान सका कि जोड़ने में सुख नहीं; सुख तो त्यागने में है। हमारी तो भावना है कि हम भगवान महावीर के जीवनादर्शो को अपनायें ताकि शान्ति मिले, समता हो और संघर्षो से छुटकारा मिले। वीतरागता का उनका आदर्श प्रयोग की कसौटी पर कसा हुआ खरा है जिसके प्राप्त होने पर न संसार बुरा है, न व्यक्ति बल्कि; स्वयं अपनी आत्मा प्रिय लगने लगती है और लक्ष्य बन जाता है आत्मा को जीतो, आत्मा को पाओ।

परिग्रह – 'वृहत् हिन्दी कोश' के अनुसार 'परिग्रह' शब्द का अर्थ लेना, ग्रहण करना, चारों ओर से घेरना, आवेष्टित करना, धारण करना, धन आदि का संचय, किसी दी हुई वस्तु को ग्रहण करना, किसी स्त्री को भार्या रूप में ग्रहण करना, पत्नी, स्त्री, पति, घर, परिवार, अनुचर, सेना का पिछला भाग, राहु द्वारा सूर्य या चन्द्रमा का ग्रसा जाना, शपथ, कसम, मूल आधार, विष्णु, जायदाद, स्वीकृति, मंजूरी, दावा, स्वागत-सत्कार, आतिथ्य सत्कार करने वाला, आदर, सहायता, दमन, दंड, राज्य, सम्बन्ध, योग, संकलन, शाप बताया गया है।[3] इसमें एक ओर जहाँ परिग्रह को संचय के अर्थ में लिया है वहीं शाप के अर्थ में भी रखा है जिससे परिग्रह की शोचनीय दशा प्रकट होती है। जैनाचार्यों की

धारणा में परिग्रह 'परितो गृह्यति आत्मानमिति परिग्रहः' अर्थात जो सब ओर से आत्मा को जकड़े; वह परिग्रह है।

आचार्य उमास्वामी के अनुसार 'मूर्च्छा परिग्रह है' – "मूर्च्छा परिग्रहः।"[4] इस सूत्र की टीका में आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है कि "गाय, भैंस, मणि और मोती आदि चेतन, अचेतन बाह्य उपधि का तथा रागादिरूप अभ्यन्तर उपधि का सरक्षण, अर्जन और संस्कार आदि रूप व्यापार ही मूर्च्छा है।[5] आचार्य पूज्यपाद की ही दृष्टि में "ममेदंबुद्धिलक्षणः परिग्रहः" अर्थात् यह वस्तु मेरी है; इस प्रकार का संकल्प रखना परिग्रह है।[6] राजवार्तिक के अनुसार– *"लोभकषाय के उदय से विषयों के संग को परिग्रह कहते हैं।*[7] "ममेदं वस्तु अहमस्य स्वामीत्यात्मात्मीयाभिमानः संकल्पः परिग्रह इत्युच्यते" अर्थात् यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ; इस प्रकार का ममत्व परिणाम परिग्रह है।[8]

धवला पुस्तक के अनुसार– "परिगृह्यत इति परिग्रहः बाह्यार्थः क्षेत्रादिः, परिगृह्यते अनेनेति च परिग्रहः बाह्यार्थग्रहणहेतुरत्र परिणामः।[9] 'परिग्रह्यते इति परिग्रहः" अर्थात् जो ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है; इस निरुक्ति के अनुसार क्षेत्रादि रूप बाह्य पदार्थ परिग्रह कहा जाता है तथा "परिगृह्यते अनेनेति परिग्रहः" जिसके द्वारा ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है; इस निरुक्ति के अनुसार यहाँ बाह्य पदार्थ के ग्रहण में कारणभूत परिणाम परिग्रह कहा जाता है।[10]

समयसार आत्मख्याति के अनुसार 'इच्छा परिग्रहः' अर्थात् इच्छा ही परिग्रह है।[11]

परिग्रह के भेद – परिग्रह के दो भेद हैं– 1. बाह्य, 2. अन्तरंग। बाह्य परिग्रह में भूमि, मकान, स्वर्ण, रजत, धन-धान्य आदि अचेतन तथा नौकर-चाकर, पशु, स्त्री आदि सचेतन पदार्थ शामिल किये जाते हैं।[12] अन्तरङ्ग परिग्रह में मिथ्यात्व क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसक वेद भावनायें व्यक्ति के अन्तरंग परिग्रह हैं।[13]

परिग्रह पाप है – जैनागम में पॉच पाप माने गये हैं–हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। इसके अनुसार परिग्रह भी पाप है। परिग्रह बनाम मूर्च्छा पॉचों प्रकार के पापों का मूल स्रोत है। जो परिग्रही है तथा परिग्रह के अर्जन, सम्बर्द्धन एवं संरक्षण के प्रति सचेत है वह हिंसा, झूठ, चोरी व अब्रह्म में से बच नहीं सकता। 'सवार्थ सिद्धि' के अनुसार– 'सब दोष परिग्रह मूलक हैं। 'यह मेरा है' इस प्रकार के संकल्प के होने पर संरक्षण आदि रूप भाव होते हैं और इसमें हिंसा अवश्यभाविनी है। इसके लिए असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन कर्म में प्रवृत्त होता है। नरकादि में जितने दुःख हैं वे सब इससे उत्पन्न होते हैं।[14]

आ. गुणभद्र की दृष्टि में– "सज्जनों की भी सम्पत्ति शुद्ध न्यायोपार्जित धन से नहीं बढ़ती। क्या कभी समुद्र को स्वच्छ जल से परिपूर्ण देखा जाता है?"

शुद्धैधनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः।।[15]

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी के अनुसार परिग्रह में हिंसा होती है–

हिंसा पर्य्यात्वासिद्धा हिंसान्तरङ्गसङ्गेषु।
बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छेव हिंसात्वम्।।[16]

अर्थात् हिंसा के पर्यायरूप होने के कारण अन्तरंग परिग्रह में हिंसा स्वयं सिद्ध है और बहिरंग परिग्रह में ममत्व परिणाम ही हिंसा भाव को निश्चय से प्राप्त होते हैं।

परिग्रह त्याग की प्रेरणा – जैनाचार्यो ने परिग्रह त्याग हेतु इसे अणुव्रत, प्रतिमा एवं महाव्रत के अन्तर्गत रखा है। अणुव्रत एवं प्रतिमा सद्गृहस्थ श्रावक एवं परिग्रह-त्याग-महाव्रत मुनि धारण करते हैं।

परिग्रह परिमाण – परिग्रह दुःख मूलक होता है। 'ज्ञानार्णव' में कहा गया है कि–

संगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्धिंसा तयाशुभम्।
तेन श्वाभ्री गतिस्तस्यां दुःखं वाचामगोचरम्।।[17]

अर्थात् परिग्रह से काम होता है, काम से क्रोध, क्रोध से हिंसा, हिंसा से पाप और पाप से नरकगति होती है। उसे नरकगति में वचनों के अगोचर अति दुःख होता है। इस प्रकार दुःख का मूल परिग्रह है।

दुःख रूप परिग्रह से बचने के लिए जैनाचार्यों ने परिग्रह को परिमाण (सीमित) करने का अणुव्रत के रूप में मान्यता दी है।

'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार – 'धन्धान्यक्षेत्रादीनमिच्छावशात् कृत परिच्छेदो गृहीति पञ्चमणुव्रतम्''[18] अर्थात् गृहस्थ धन, धान्य और क्षेत्र आदि का स्वेच्छा से परिमाण कर लेता है इसलिए उसके पाँचवां परिग्रह परिमाण अणुव्रत होता है। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' के अनुसार–

जो लोहं णिहणित्ता संतोस – रसायणेण संतुट्ठो।
णिहणदि तिण्हादुट्ठा मण्णंतो विणस्सरं सव्वं।।
जो परिमाणं कुव्वदि धण-धण्ण-सुवण्ण-खित्तमाईणं।
उवयोगं जाणित्ता अणुव्वदं पंचमं तस्स।।[19]

अर्थात् जो लोभ कषाय को कम करके, सन्तोष रूपी रसायन से सन्तुष्ट होता हुआ, सबको विनश्वर जानकर धन, धान्य, सुवर्ण और क्षेत्र वगैरह का परिमाण करता है उसके पॉचवां (परिग्रह परिमाण) अणुव्रत होता है।

'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में आचार्य समन्तभद्र देव ने कहा है कि–

धनधान्यादि ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।
परिमित परिग्रहः स्यादिच्छा परिमाणनामापि।।[20]

अर्थात् धन-धान्यादि दश प्रकार के परिग्रह को परिमित अर्थात् उसका परिमाण करके कि 'इतना रखेंगे' उससे अधिक में इच्छा नहीं रखना सो परिग्रह परिमाणव्रत है तथा यही इच्छा परिमाण वाला व्रत भी कहा जाता है।

इस प्रकार संचित परिग्रह को निरन्तर कम-कम करते जाने का संकल्प तथा संकल्पानुसार कार्य परिग्रह परिमाण कहा जाता है।

परिग्रह परिमाण आवश्यक – परिग्रह संचय एक मानवीय मानसिक विकृति

है जिसके कारण व्यक्ति जीवन भर दुख उठाता है तथा पाँचों पापों के कार्यो में संलग्न होता है। यहाँ तक कि परिग्रही की धारणा ही बन जाती है कि–

राम की चिड़िया, राम का खेत।
खा मेरी चिड़िया, भर ले पेट।।

संग्रह की प्रवृत्ति समाज में उथल पुथल मचा देती है जिसमें अभाव का रूप क्रान्ति का रूप धारण कर लेता है। यहॉ तक कि परिग्रही व्यक्ति विक्षिप्त जैसा हो जाता है जिसे हल पल परिग्रह की ही धुन सवार रहती है। नीति भी कहती है कि–

कनक-कनक तैं सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
या खाये बौरात जग, बा पाये बौराय।।

आचार्य उमास्वामी ने मनुष्यगति के आस्रव में अल्पआरम्भ और अल्प परिग्रह का भाव प्रमुख माना है– 'अल्पारम्भ परिग्रहत्वं मानुषस्य।'[21] वहीं बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह वाले का भाव नरकायु का आस्रव है– "बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः।"[22] अब यह हमें विचार करना है कि हम परिग्रह का परिमाण करके मनुष्य बनना चाहते हैं या बहुत अधिक परिग्रह का संचय करके नरकगति के दुःख भोगना चाहते हैं। कबीर ने इसीलिए कहा कि–

पानी बाढ़ै नाव में, घर में बाढ़ै दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम।।[23]

कुछ लोग धर्म, दान, पूजा आदि के लिए धनादि परिग्रह संचय को उचित मानते हैं किन्तु 'क्राइस्ट' का कथन है कि 'पैसा बटोरकर दान करना वैसा ही है जैसा कि कीचड़ लगाकर धोना।" संस्कृत में सूक्ति है कि– "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" अर्थात् कीचड़ लगने पर धोने से अच्छा है कि उसे दूर से ही त्याग दें। उसी प्रकार परिग्रह संचय कर दान करने की अपेक्षा परिग्रह त्याग ही उचित है। गृहस्थ को तो अपनी आवश्यकता के अनुरूप परिग्रह परिमाण ही करना चाहिये।

परिग्रह संचय का ही यह दुष्परिणाम है कि एक ओर जहाँ लोग भूख से मर रहे हैं वहीं दूसरी ओर धनाढ्य वर्ग गरिष्ठ भोजन करके अपना स्वास्थ्य बिगाड़ रहे हैं। कुछ लोगों के 'लक्झरी' साधनों के लिए 'नेसेसरीज' वस्तुओं से भी लोग वंचित किये जा रहे हैं। तात्कालिक लाभ भले ही अनैतिक तरीकों से प्राप्त हो; उसे प्राप्त करने के लिए जी तोड़ मेहनत कर रहे हैं। ऐसे में यदि कोई समुचित मार्ग बचता है तो वह परिग्रह परिमाण ही है। कुंवर बैचेन ने ठीक ही कहा है–

तुम्हारे दिल की चुभन भी जरूर कम होगी।
किसी के पाँव से काँटा निकालकर देखो।।

एक बार महात्मा गांधी से किसी मारवाड़ी सेठ ने पूछा कि– गांधी जी, आप सबसे टोपी लगाने को कहते हैं; यहाँ तक कि आपके अत्यन्त आग्रह के कारण टोपी के साथ आपका नाम जुड़कर 'गांधी टोपी' हो गया है, लेकिन आप स्वयं टोपी क्यों नहीं लगाते?

यह प्रश्न सुनकर गांधी जी ने उनसे पूछा कि 'आपने यह जो पगड़ी बाँध रखी है इसमें कितनी टोपियां बन सकती हैं? मारवाड़ी सेठ ने कहा कि– "बीस"।

तब गांधी जी ने कहा कि "जब तुम्हारे जैसा एक आदमी बीस टोपियों का कपड़ा अपने सिर पर बाँध लेता है तो मुझ जैसे उन्नीस आदमियों को नंगे सिर रहना पड़ता है।" यह उत्तर सुनकर वह सेठ निरुत्तर हो गये।

वास्तव में परिग्रह परिमाण ही गृहस्थ को सामाजिक बनाता है। परिग्रह की दीवारें हमारे प्रति घृणा एवं विद्वेष को जन्म देती हैं। अली अहमद जलीली का एक शेर है कि–

नफरतों ने हर तरफ से घेर रखा है हमें,
जब ये दीवारें गिरेंगी रास्ता हो जायेगा।।

परिग्रह परिमाण के लिए समाजवाद की अवधारणा सामने आयी।

समाजवाद की अवधारणा अगर अंश है तो परिग्रह परिमाण उस अंश को पाने की दिशा में उठाया गया महत्वपूर्ण कदम है जो क्रमशः परिमित होते हुए जब अपरिग्रह की स्थिति में आता है तो पूर्ण एवं सफल लक्ष्य बन जाता है। यहाँ अर्थ की अनर्थता की नित्य भावना करने वाला प्राणी धन को स्वपरोपकार का निमित्त मात्र मानता है। सर्वप्रथम अपनी अभिलाषाओं को सन्तोष में बदलकर वह दानशीलता की ओर उन्मुख होता है। परिग्रह का परिमाण करता है और निरन्तर आत्मविकास करता हुआ परिमाण किये परिग्रह में भी ममत्व छोड़कर पूर्ण अपरिग्रही बन जाता है।[24]

संसार में शान्ति परिग्रह परिमाण से ही संभव है। किन्तु स्वार्थ और संचय की प्रवृत्ति ने समाजवाद को स्थापित ही नहीं होने दिया। आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने स्वार्थ की इस प्रवृत्ति का इस रूप में उल्लेख किया है–

स्वागत मेरा हो
मनमोहक विलासितायें
मुझे मिलें अच्छी वस्तुएं
ऐसी तामसता भरी धारणा है तुम्हारी
फिर भला बता दो हमें
आस्था कहाँ है समाजवाद में तुम्हारी?
सबसे आगे में
समाज बाद में।"[25]

परिग्रह परिमाण करके शेष सम्पदा के वितरण के विषय में आचार्य श्री की धारणा है कि–

"अब धनसंग्रह नहीं
जन संग्रह करो
और
लोभ के वशीभूत हो
समुचित वितरण करो

अन्यथा
धनहीनों में
चोरी के भाव जागते हैं, जागे हैं
चोरी मत कर, चोरी मत करो
यह कहना केवल
धर्म का नाटक है
उपरिल सभ्यता उपचार
चोर इतने पापी नहीं होते
जितने कि चोरों को पैदा करने वाले
तुम स्वयं चोर हो
चोरों को पालते हो
और चोरों के जनक भी।" [26]

शेक्सपियर ने लिखा है कि– Gold is worse pain on the man in souls doing more murders in this world than any mortal drug.

अर्थात् सोना (स्वर्ण) मनुष्य की आत्मा को अत्यधिक रूप से दुखी करता है। किसी मरणदायक औषधि की अपेक्षा सोने के कारण संसार में अधिक हत्यायें हुई हैं।

अपने यहाँ कहावत है कि 'बुभुक्षितः किन्नु करोति पापं। अर्थात् भूखा मनुष्य क्या पाप नही करता? मुट्ठी भर लोगों के हाथ में पूंजी व अन्य सामग्री संगृहीत होकर जनता को त्रस्त करती हैं; जिसका परिणाम बड़ा भयंकर होता है। भूखा व्यक्ति सत्य-असत्य ओर हिंसा–अहिंसा के भेद को भूल जाता है। एक कवि ने लिखा है कि–

भूखे फकीर ने तड़पकर कहा–
सत्य की परिभाषा बहुत छोटी है
केवल एक शब्द रोटी है।

परिग्रह परिमाण अपने लिए ही नहीं बल्कि प्राणी मात्र के उपकार के लिए

आवश्यक है। आज तो लोग परिग्रह संचय के लिए न्याय-अन्याय का भेद छोड़कर अन्य जनों के अधिकारों को दबाकर भी शोषण करते हैं। बिडम्बना तो यह भी है कि परिग्रह को पाप बताये जाने के बाद भी उसके संचयी को पुण्यात्मा कहकर अभिनन्दनीय बना दिया गया है। यहाँ तक कि जिन भगवान ने सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर दिया उन पर भी सोने-चांदी के छत्र चढ़ाये जाते हैं और उसे वैभव के रूप में महिमामंडित किया जाता है।

परिग्रह स्वयं में एक रोग है यह जिसे लग जाता है वह दिनरात इसी में लगा रहता है; किन्तु जो निष्परिग्रही होता है वह कभी बैचेन नहीं रहता। जिसके पास परिमित परिग्रह है वह चैन से रहता है, चैन से खाता है और चैन से सोता है तथा अणुव्रत रूप में पालन करे तो कर्मो की निर्जरा भी करता है अतः परिग्रह का परिमाण कर सुखी होना ही इष्ट है, उपादेय है।

सन्दर्भ

1. आचार्य ज्ञानसागर : वीरोदय महाकाव्य, 1/38-39, 2. आचार्य शुभचन्द्र : ज्ञानार्णव, 3 वृहत् हिन्दी कोश, पृ. 650, 4. आ उमास्वामी-तत्त्वार्थसूत्र 7/17, 5 आ पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि 7/17/695, 6 वही, 6/15/638, 7. राजवार्तिक 4/21/3/236, 8 वही 6/15/3/525, 9 धवला 12/4, 2, 8, 6/282/9, 10. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, 3/24, 11 समयसार-आत्मख्याति/210, 12 आ. अमृतचंद्र · पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 117, 13. वही, 116, 14. सर्वार्थसिद्धि 7/17/695, 15. आ. गुणभद्र :, 16. पुरुषार्थसिद्धयुपांय, 119, 17. ज्ञानार्णव, 16/12/178, 18 सर्वार्थसिद्धि 7/20/701, 19. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, मूल 339-340, 20. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 61, 21. तत्त्वार्थसूत्र 6/17, 22. वही, 6/15, 23. कबीर · साखी

24. स्वय का लेख- 'सामाजिक बनने की प्रथम शर्त अपरिग्रह भावना' जैनगजट, वर्ष 100, अंक-30 में प्रकाशित।

25 मूकमाटी, 460-461, 26. वही, 467-468

—एल 65, न्यू इन्दिरा नगर
बुरहानपुर (म. प्र.)

आगम की कसौटी पर प्रेमी जी

—डॉ. श्रेयांसकुमार जैन

पण्डित श्री नाथूराम 'प्रेमी' विचार एवं चिन्तन की दृष्टि से पूर्ण स्वतन्त्र थे। विचार नियन्त्रण में 'प्रेमी' जी का विश्वास नहीं रहता है। निन्दा एवं प्रशंसा उन्हें विचलित नहीं कर सकी है। वे एक ऐसे साहित्यकार थे जो चिन्तन संकीर्ण मतवादों, साम्प्रदायिक एवं सामाजिक स्थूल सीमाओं को पार कर गये थे। उनकी मान्यता थी कि चिन्तन को स्वतन्त्र करना अत्यन्त अवश्यक है। *उन्होंने समग्र भारतीय दर्शनों एवं भारतीय धर्मो का गहराई से अध्ययन किया* था। अध्ययन के साथ सामाजिक कार्यो में भी उनकी गहरी अभिरुचि थी।

'प्रेमी' जी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर मुझे विचार नहीं करना है किन्तु उनकी इतिहासकार और साहित्यकार की छवि प्रत्येक अध्येतः को लुभाती है। साहित्य व्यक्ति के जीवन का साकार रूप होता है। साहित्य केवल जड़ शब्दों का समूह नहीं है, उसमें व्यक्ति का जीवन बोलता है। साहित्यकार की जिम्मेदारी होती है कि वह अपनी साहित्य-साधना को यथार्थ से जोड़कर चले। संस्कृति की संरक्षा में ही अपने विचारों को गतिमान् करे। विचार साधक या साहित्यकार के पथ के अन्धकार को नष्ट भ्रष्ट करने वाला अलोक है। विचारों की परिपक्वता साहित्य सृजन में महत्वपूर्ण योगदान देती है। यही कारण है कि साहित्यकार की समाज और संस्कृति के संरक्षण में अहं भूमिका होती है। वह समाज और शासन पर अंकुश लगा सकता है। वह समाज की कुप्रवृत्तियों को दूर कर सकता है। वह विकास के लिए कार्य करता है न कि संस्कृति के विनाश के लिए। जहॉ पं. श्री नाथूराम प्रेमी ने आधुनिक युग की भावनाओं को मान्यता प्रदान करायी, वहीं प्राचीन परम्परा और शास्त्र पुराणों में प्रतिपादित संस्कृति को नुकसान पहुँचा और उनकी साहित्यकार की भूमिका जैन शास्त्रों की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि उन्होंने अपने अलेखों

में वर्ण संकरता और जाति संकरता दोषों की परवाह न कर अनेक आगम से प्रतिकूल लेख लिखे। उन्होंने रक्त शुद्धि पर विचार ही नहीं किया जबकि कर्मभूमि के प्रारम्भ में युगल उत्पत्ति न रहने के कारण रक्त शुद्धि बनाये रखने के लिए वर्ण व्यवस्था बनी। वर्ण और जाति निश्चित किये गये और उनके कार्यो को भी निश्चित किया गाय। युग के अन्त में प्रलयकाल के समय देव और विद्याधर कुछ जोड़ों को विजयार्ध सुरक्षित करते हैं उन्हीं में से तीर्थङ्कर और शलाका पुरुषों की परम्परा चलती है यह अनाद्य परम्परा है शास्त्रों में वर्णित अनाद्यनन्त परम्परा के विपरीत।

'प्रेमी' जी ने 'विधवा विवाह' का आगम की उपेक्षा कर समर्थन किया है। लेखन के माध्यम से ही समर्थन नहीं किया अपितु जैन समाज के मध्य इसके प्रचार-प्रसार के लिए आन्दोलन भी किये हैं। उनकी इस प्रवृत्ति के लिए स्वार्थ भावना वलवती रही है क्योंकि उनके लघुभ्राता सेठ नन्हेलाल जैन की पत्नी का असमय में निधन हो गया था। अपने भाई को विधुर नहीं देख सकने के कारण 8 दिसम्बर 1928 को एक 22 वर्षीया विधवा के साथ विधुर भाई का विवाह कराकर अपने विचारों को अमली वाना पहिनाया। आगम के पक्षधर लोगों को या कहिये धर्मभीरू जनों को नीचा दिखाने हेतु सागर (म. प्र.) के जन बहुल क्षेत्र चकराघाट पर एक सुसज्जित मण्डप बनवाया गया हजारों लोगों को एकत्रित किया गया और अनेक सुधारवादी लोगों के वक्तव्य कराये गये और अनन्तर देवरी में प्रेमी जी ने 12 दिसम्बर 1928 को एक प्रीतिभोज का भी आयोजन किया उस अवसर पर अनेक जैनेतर लोगों से समर्थन में भाषण दिलाये गये। सभापति के पद से म्युनिसिपैलिटी के अध्यक्ष पं. गोपाल राव रामले ने विधवा विवाह के समर्थन में व्याख्यान दिया और ग्राम वासियों ने उनका अभिनन्दन भी किया।

प्रेमी जी द्वारा विधवा विवाह का समर्थन चाहे लोकैषणा से किया गया हो या उनको अपना हित साधन करने हेतु करना पड़ा हो किन्तु जिनागम के अध्येता के द्वारा किया गया यह कार्य उचित नहीं है क्योंकि जैन शास्त्रों में कहीं भी उक्त कार्य का समर्थन नहीं है। निषेध के प्रमाण अवश्य मिलते हैं।

चन्द्रनखा को जब खरदूषण ने हरण कर लिया, तब रावण अत्यन्त क्रुद्ध होता है और खरदूषण को मारना चाहता है तभी मन्दोदरी कहती है–

कथञ्चिच्च हतेप्यस्मिन् कन्याहरणदूषिता।
अन्यस्मै नैव विश्राण्या केवलं विधवी भवेत्।। 36।। पद्मपुराण पर्व

यदि किसी तरह वह खरदूषण मारा भी गया तो हरण के दोष से दूषित कन्या अन्य दूसरे को नहीं दी जा सकेगी उसे तो मात्र विधवा ही रहना पड़ेगा।

आदिपुराण का प्रसंग भी ध्यातव्य है जब सुलोचना ने स्वयंवर में जयकुमार के गले में वरमाला डाल दी, तब भरत सम्राट के पुत्र अर्ककीर्ति कुछ लोगों के भड़काने से युद्ध के लिए तैयार हो गये, उसी बीच अर्ककीर्ति कहते हैं "मैं सुलोचना को भी नहीं चाहता हूँ क्योंकि सबसे ईर्ष्या करने वाला यह जयकुमार अभी मेरे बाणों से ही मर जावेगा तब उस विधवा से मुझे क्या प्रयोजन रह जावेगा।[1] रैनमन्जूषा, अनन्तमती चर्चा, सीता आदि के शीलपालन की अनुकरणीयता भव्य प्रमोद ग्रन्थ का यह कथन भी विचारणीय है–

मैं पति की झूठन भई योग न जोग न आन।
मेरी जो इच्छा करे के कागा के श्वान।।
यहाँ मुक्त होने पर विरक्ति का ही समर्थन है।

आचार्य सोमदेव ने यशस्तिलक चम्पू के 13वें अध्याय में विधवा के लिए दो मार्ग बताये हैं। एक जिनदीक्षा ग्रहण करना और दूसरा वैधव्य दीक्षा लेना। आचार्य वचन इस प्रकार है–

तत्र वैधव्य दीक्षायां देशव्रत परिग्रहः।
कण्ठसूत्र परित्यागः कर्णभूषणवर्जनम्।।
शेषभूषा निवृत्तिश्च वस्त्र खण्डान्तरीयकम्।
उत्तरीयेण वस्त्रेण मस्तकाच्छदनं तथा।।
खट्वा शय्याञ्जनालेपं हारिद्रप्लववर्जनम्।
शोकाक्रन्द निवृत्तिश्च विकथानां विवर्जनम्।।
प्रातः स्नानं तथा नित्यं सन्ध्यावन्दनं तथा।

प्राणायाम पूजनं अर्घ्यप्रदानं च यथोचितम्।।
त्रिसन्ध्यं देवतास्तोत्रं जपः शास्त्रश्रुतिः स्मृतिः।
भावना चानुप्रेक्षाणां तथात्म प्रतिभावनाः।।
पात्रदानं यथाशक्ति चैकभक्तमगृद्धितः।
ताम्बूलवर्जनं चैव सर्वमेतद्विधीयते।।

अर्थात् उस विधवा स्त्री को देशव्रत रूप अणुव्रत ग्रहण करना चाहिए। गले एवं कानों के आभूषणों का त्याग करना चाहिए। सभी प्रकार की आभूषणों का त्याग करना चाहिये। शरीर पर पहनने ओढ़ने के दो वस्त्र रखे पलंग पर नहीं सोना/आखों मे काजल न लगावे हल्दी का उवटन लगाकर स्नान नहीं करना। शोकपूर्ण रुदन न करे विकथा का त्याग करे। प्रातःकाल स्नान कर सन्ध्यवन्दन नित्य करे। प्राणामाम करे। पूजा करे अर्घ्यप्रदान करे त्रिकाल भगवान् के स्तोत्र पढ़े। जप करे शास्त्र पढ़े अनुप्रेक्षा का चिन्तवन करे, आत्म भावना भावे, प्रतिदिन पात्रदान यथाशक्ति करे। रसों को छोड़कर एकासन करे। पान खाना छोड़े और धर्मध्यान से ब्रह्मचर्य पूर्वक रहे।

यहाँ पर स्पष्ट रूप से बताया गया है कि स्त्री को पति के मर जाने के बाद कैसे रहना चाहिए? अब पति के मरने क्या करना चाहिए के उत्तर आचार्य कहते हैं–

विधवा यास्ततो नार्या जिनदीक्षा समाश्रयः।
श्रेयानुतस्विद्वैधव्य दीक्षा व गृह्यते तदा।। 198।।

जो विधवा स्त्री है, उसे शीघ्र जिनदीक्षा ग्रहण करना चाहिए। आर्यिका बनना ही श्रेयस्कर है अन्यथा जघन्य पक्ष वैधव्यदीक्षा ग्रहण करना चाहिए।

शास्त्रों में उल्लेख मिलते हैं, जो विधवाएं हुई उन्होंने जिनदीक्षा ग्रहण की है। रावण की मृत्यु होने पर मन्दरोदरी आदि 48 हजार स्त्रियों ने आर्यिका दीक्षा ग्रहण की थी।

आगम में कहीं भी दूसरे पति वाली स्त्री को सती नहीं कहा गया है यदि कहीं कहा गया हो तो उसे समर्थक बताये। इसके समर्थन से तो आगम

व्यवस्था बदल जायेगी। लोगों का कहना है कि छोटी उम्र में विधवा हो गई जीवन कैसे चलेगा, उनसे मेरा निवेदन है कि जैसा भोग के लिए प्रेरित करते हो वैसा धर्म के लिए भी तो प्रेरित किया जा सकता है।

विधवा से पुनः सन्तान उत्पन्न करना कहीं भी नहीं लिखा है। किसी कवि ने कहा भी है—

सिंहगमन सुपुरुष वचन, कदली फलै न बार।
तिरिया तैल हमीर हठ, चढ़ै न दूजी बार।।

सिंह जिस ओर से भी निकल जाता है, वापिस नहीं लौटता, साधु सज्जन पुरुष जो एक बार बोल देते हैं, उसे ही मानते हैं अपनी बात नही पलटते हैं। इसी प्रकार जिस स्त्री के एक बार विवाह के लिए तेल चढ़ गया सो चढ़ गया फिर कभी दूसरी बार नहीं चढ़ता। हमीर राजा की हठ की भी पुष्टि करने हेतु उदाहरण दिए हैं।

जैन पुराणों के अलावा वैदिक संस्कृति भी विधवा विवाह का समर्थन नहीं करती है। मनु स्मृति में विधवाविवाह का निषेध है। नैषधीय चरित में महाकवि हर्ष हंस के माध्यम से इस बात की पुष्टि करते हैं कि पशु पक्षियों में भी सच्चरित्रता की भावना होती है।[2]

विधवा विवाह का समर्थन न तो आगम ने किया न पुराण शास्त्र करते हैं किन्तु प्रेमी जी जैसे कुछ सुधारवादी मधु और चन्द्रा का उदाहरण लेकर पुष्टि करने की कोशिश करते हैं क्या एक स्त्री-पुरुष ने दोष पाप किया तो सभी को उस पाप प्रवृत्ति में प्रवृत्त होना चाहिए विधवा भुक्त होने के कारण दोष युक्त तो है ही। कुछ लोगों का कहना है कि यदि पुरुष दूसरी शादी कर सकता है, तो स्त्री क्यों नहीं कर सकती है इस पर जैनाचार्यो ने कहा है कि पुरुष स्वर्ण घट सदृश है और स्त्री मृतिका घट रूप है। पुरुष छोड़ने वाला है और स्त्री गृहीता है अतः पुरुष दोष युक्त न होकर स्त्री ही दोष युक्त होती है इसीलिए पुनर्विवाह की अधिकारिणी नहीं है।

मनुष्यों की क्रिया में शुद्ध होने पर भी यदि उनके आप्त आगम निर्दोष नहीं

है तो उन्हें उत्तम फल की प्राप्ति नहीं हो सकती है जैसे कि क्रियाएँ शुद्ध होने पर भी विजातीय लोगों से कुलीन सन्तान रूप उत्तम फल की प्राप्ति नहीं हो सकती है।[3] पद्मपुराण के एक उल्लेख से विजातीय विवाह का समर्थन किसी को भी उचित नहीं है।[4]

आगम साहित्य के अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्थाओं का वर्णन नहीं है किन्तु पुराण साहित्य उसी का अनुकरण करता है और प्रथमानुयोग के अन्दर आता है, पुराण साहित्य को भी आगम की मर्यादा स्वीकार कर शास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं। साहित्यकारों ने अपनी लेखनी को जो मर्यादा विहीन बनाया है उसकी को आधार बनाकर लिखा जा रहा है। प्रेमी जी ने विजातीय और अन्तर्जातीय विवाह का भी समर्थन किया है। वे एक विद्वान् थे, उन्हें लेखन के लिए आगम का अवलोकन अवश्य करना चाहिए था किन्तु उन्होंने निम्नलिखित आगम के सन्दर्भो की उपेक्षा कर विजातीय विवाह का समर्थन किया है।

त्रिलोकसार में मुनि को आहारदान देने वाले की शुद्धि की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जातिसंकरादि दोषों से रहित पिण्ड शुद्धि वाला व्यक्ति ही आहार दान का अधिकारी है–

दुब्भाव असुचि सूदग पुप्फवई जाईसंकरादीहिं।
कयदाणा कुवत्ते जीवा कुणरेषु जायन्ते।। 924।। त्रिलोकसार

अर्थात् जो दुर्भावना, अपवित्रता, सूतक आदि से एवं पुष्पवती स्त्री के स्पर्श से युक्त जातिसंकर आदि दोषों से सहित होते हुए भी दान देते हैं और जो कुपात्रों को दान देते हैं, वे जीव मरकर कुभोग भूमि (कुमनुष्यों) में जन्म लेते हैं।

वर्ण, वंश, गोत्र अनाद्यनन्त हैं, इसी प्रकार जाति भी हैं आचार्य सोमदेव लिखते हैं– "**जातयोऽनादयः सर्वास्तत्क्रियापि तथा विद्या।।** 18।। यशस्तिलक-चम्पू

सप्त परमस्थानों में सज्जातित्व को प्रथम स्थान दिया गया है जिसकी

परिभाषा भगवज्जिन सेनाचार्य ने इस प्रकार की है—

पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुलं परिभाष्यते।
मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलप्यते।। 85।।
विशुद्धिरुभयस्यास्य सज्जातिरनुवर्णिता।। 86।।

अर्थात् पिता के वंश की शुद्धि को कुल और माता के वंश की शुद्धि को जाति कहते हैं तथा कुल और जाति इन दोनों की विशुद्धि को सज्जाति कहते हैं और इस सज्जातिरूप सम्पदा से ही पुण्यवान मनुष्य उत्तरोत्तर उत्तम वंशों को प्राप्त होते हैं कहा भी है—

विशुद्ध कुल जात्यादि सम्पत्सज्जाति रुच्यते।
उदितोदित वंशत्वं यतोऽभ्येति पुमान् कृती।। 84।।

शुद्ध कुल और शुद्ध जाति में जो उत्पन्न हुए हैं, उन्हें ही सज्जातित्व परमस्थान प्राप्त हुआ है, व होगा।

'सज्जाति' व्यवस्था है तो जातिव्यवस्था भावना ही होगी इस विषय मे गुणभद्रआचार्य कहते हैं – "जिनमें शुक्लध्यान के लिए कारण ऐसे जाति गोत्र आदि कर्म पाये जाते हैं, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ऐसे तीन वर्ण हैं, उनसे अतिरिक्त शेष शूद्र कहे जाते हैं विदेह क्षेत्र में मोक्ष जाने के योग्य जाति का कभी विच्छेद नहीं होता क्योंकि वहाँ उस जाति के ये कारणभूत नाम और गोत्र-सहित जीवों की निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है परन्तु भरतक्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र में चतुर्थकाल में ही जाति की परम्परा चलती है अन्य कालों में नहीं। जिनागम में उक्त प्रकार से ही वर्ण विभाग बतलाया गया है।[5]

आदिपुराण पर्व सोलह में विदेह क्षेत्र में विद्यमान वर्ण-व्यवस्था का चित्रण करते हुए असि, मषि, कृषि, विद्या वाणिज्य एवं शिल्प इन छह क्रियाओं की तथा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णो की स्थिति और घर ग्राम नगर आदि की व्यवस्था इस भरत क्षेत्र कर्मभूमि में भी होना चाहिए तभी सौधर्मेन्द्र ने जिनमन्दिर आदि सहित मांगलिक रचना की। षट्शिक्षाएँ और तीन वर्णो की स्थापना की। प्रजा को अपने अपने वर्णोचित कार्य निश्चित किए गये और वह

अपरिवर्तनीय बताये।[6]

इससे स्पष्ट है कि विदेह क्षेत्र में वर्ण व्यवस्था अनादि है और भरतक्षेत्र में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित करने के कारण सादि है किन्तु इसके बिना मोक्ष की सिद्धि नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी आचार्य भक्ति में लिखते हैं 'देश, कुल जाति से शुद्ध विशुद्ध मन वचन काय से संयुक्त ऐसे हे गुरुदेव! तुम्हारे चरणकमल हमारे लिए हमेशा मंगलमयी होंवे।[7]

इस विषय को अधिक विस्तार का अवसर नहीं है। यह तो स्वतंत्र पुस्तक लिखने का विषय है अतः आचार्य सोमदेव के इस सन्देश को स्वीकार करिये धर्मभूमि में स्वभाव से ही मनुष्य कम कामी होते हैं।[8] अतः अपनी जाति की विवाहित स्त्री से ही सम्बन्ध करना चाहिए, अन्य कुजातियों की स्त्री से बन्धु वान्धवों की तथा व्रती स्त्रियों से भी सम्बन्ध नहीं करना चाहिए।

स्व. बाबू श्री बहादुर सिहं सिंघी की स्मृति में "भारतीय विद्या" शीर्षक से प्रकाशित हुए तृतीय भाग में प्रेमी जी द्वारा तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता विषय पर लिखा हुआ आलेख प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की है। वे तत्त्वार्थाधिगम भाष्य के कर्त्ता उमास्वाति को तत्त्वार्थसूत्र का कर्त्ता स्वीकार करते हैं, उनकी यह स्वीकारोक्ति प्रज्ञाचक्षु पं. सुखलाल जी द्वारा प्रतिपादित मान्यता के समर्थन में है। सिंघवी जी उमास्वाति को श्वेताम्बर परम्परा का मानते हैं किन्तु पं. नाथूराम प्रेमी यापनीय परम्परा का बताते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के कर्तृत्व के सम्बन्ध में प्रेमी जी के विचारों से ऐसा लगता है कि उन्होंने मूल ग्रन्थों का विशेष अध्ययन नहीं किया था क्योंकि दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों में तत्वार्थसूत्र के रचयिता गृद्धपिच्छ और उमास्वामी के उल्लेख ही मिलते हैं। इस ग्रन्थ को कहीं भी यापनीय सम्प्रदाय का नहीं कहा गया है।

कलिकाल सर्वज्ञ उपाधिविभूषित आचार्य वीरसेन स्वामी काल द्रव्य की चर्चा करते हुए "तह गिद्धपिच्छाइरियप्पयासिदतय सुत्ते विवर्तना परिणाम

क्रिया परत्वा परत्वे च कालस्य इदि दव्वकालो परूविदो" लिखते हैं।[9] जैनागम के अधिकारी विद्वान् आचार्य द्वारा लिखित पंक्ति स्पष्ट रूप से बता रही है कि तत्त्वार्थसूत्र गृद्धपिच्छ की रचना है। आचार्य श्री विद्यानन्दि ने गृद्धपिच्छाचार्य पर्यन्त मुनि सूत्रेण" इस पद द्वारा गृद्धपिच्छाचार्य को तत्त्वार्थसूत्र का कर्त्ता माना है।[10] हॉ आप्त परीक्षा की सोपज्ञवृत्ति में "तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामि प्रभृतिभिः" वाक्य मिलता है जिसके आधार पर तत्त्वार्थसूत्र अपर नाम मोक्ष-शास्त्र के कर्त्ता उमा स्वामी को भी कहा जा सकता है किन्तु किसी भी दिगम्बराचार्य ने उमास्वाति को स्वीकार नहीं किया। सबसे बड़ी बिडम्बना यह है कि प्रेमी जी दिगम्बर जैन परम्परा के विद्वान् होते हुए तत्त्वार्थसूत्र को यापनीय परम्परा का लिख रहे हैं। उन्होंने पूरे तत्त्वार्थसूत्र में कौन सा सूत्र ऐसा पाया जो मूलाम्नाय से विपरीत हो अथवा शिथिलता का पोषण कर रहा हो। इस मूल संहिता रूप में मान्य ग्रन्थ को यापनीय कहना प्रेमी जी के आगम के अनभ्यास को बताता है। मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि प्रेमी जी ने आगम के प्रति श्रद्धा न रखकर पं. सुखलाल सिंघवी के साथ की मित्रता का निर्वाह किया। पं. सिंघवी जी ने उमास्वाति को तत्त्वार्थसूत्र का कर्त्ता लिखा सो प्रेमी जी ने भी उसी का समर्थन किया। हाँ सिंघवी जी भी मित्रता निर्वाह में पीछे नहीं रहे, उन्होंने पहिले तो उमास्वाति को श्वेताम्बर परम्परा का सिद्ध किया बाद प्रेमी जी के साथ सहमति व्यक्त करते हुए यापनीय लिखा यापनीय सम्प्रदाय द्वारा मान्य स्त्रीमुक्ति आदि सिद्धान्त तत्त्वार्थसूत्र में देखने को नहीं मिलते अतः तत्त्वार्थसूत्र यापनीय सम्प्रदाय का बिलकुल भी नहीं माना जा सकता है। प्रेमी जी इस विषय में आगम के साथ न्याय नहीं कर पाये।

आगम के उल्लेखों को नकारना नहीं चाहिए क्योंकि एक प्रमाण से प्रकाशित अर्थज्ञान दूसरे प्रमाण के प्रकाश की अपेक्षा नहीं करता है अन्यथा प्रमाण के स्वरूप का अभाव प्राप्त हो जायेगा। आगम की प्रमाणिकता असिद्ध नहीं है क्योंकि जिसके बाधक प्रमाणों की असंभावना अच्छी तरह निश्चित है, उसको असिद्ध मानने में विरोध आता है अर्थात् बाधक प्रमाणों के अभाव में आगम की प्रमाणता का निश्चय होता ही है।

पं. प्रेमी जी ने रत्नकरण्डकश्रावकाचार को आचार्य श्री समन्तभद्र से भिन्न

किसी अन्य आचार्य की कृति माना है, उन्होंने 'अनेकान्त' वर्ष 3-4 में "क्या रत्नकरण्ड के कर्त्ता स्वामी समन्तभद्र ही हैं" इस शीर्षक से एक लेख प्रकाशित कराया था जिसमें श्री वादिराज सूरि के पार्श्वनाथ चरित से स्वामिनश्चरितंतस्य अचिन्त्यमहिमा, देवः, त्यागी एवं योगीन्द्रो तीन पद्यों से क्रमशः स्वामी, देव और योगीन्द्र इन तीन आचार्यो की स्तुति की है और क्रमशः अप्तमीमांसा देवागमस्तोत्र के कर्त्ता स्वामी समन्तभद्र, देव पद से देवनन्दी जैनेन्द्र व्याकरण के कर्त्ता और रत्नकरण्डक श्रावकाचार के कर्त्ता योगीन्द्र ऊपर वाले किसी अन्य आचार्य को स्वीकार किया है।

ऐसे ही अन्य गवेषणाओं के साथ उन्होंने अपने जैन साहित्य और इतिहास में विषयों की प्रस्तुति की हैं जो ऊहापोह की सामग्री है। प्रेमी जी एक साहित्यकार और इतिहास विज्ञ सुयोग्य मनीषी अवश्य हैं किन्तु आगम की परिधि में रहकर लेखन करने वाले न होने से उन्हें आगम का श्रद्धालु तो नहीं माना जा सकता है। हाँ, उनकी तर्कणाशील मनीषा और साहित्य की सपर्या श्रेष्ठ है, जिसका विद्वत्परम्परा सम्मान करती है।

सन्दर्भ

1 नाहं सुलोचनार्थयस्मि मत्सरी यच्छैरय।
परासुरधुनैव स्यात् किं मे विधवया त्वया।। 65।। आ. पु. पर्व 44 पृ 391

2. भदैकपुत्रः जननी जरातुरा, नवप्रसूति' वरटा तपस्विनी।
तयोद्वयो जनस्तमर्दयन अहोविद्येः त्वा करुणा न रुर्णाद्धि।।

3. आप्तागम विशुद्धत्वे क्रिया शुद्धापि देहिषु।
नाभिजातफल प्राप्त्यै विजातिएिवव जायते।। 78।। उपा. पृ. 61

4. न जातिर्गर्हिता लोके गुणाः कल्याण कारणम्।
व्रतस्थमपि चाण्डालानां चार्या ब्राह्मण विदुः।। पद्मपुराण

5. जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः।
येषु ते स्युस्त्रयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः।। 493।।
अच्छेद्यो मुक्ति योग्याया विदेहे जाति सतते'।
तद्धेतु नाम गोत्रादूया जीवाविच्छिन्न सभवात्।। 494।।

शेषयोस्तु चतुर्थे स्यात्काले तज्जाति सतति.।
एवं वर्णविभाग· स्यान्मनुष्येषु जिनागमे।। 495।। उत्तर पुराण पर्व 74

6. आदिपुराण पर्व 16 श्लोक 143, 144, पृ 362, 363

7. देसकुल जाइसुद्धा विसुद्ध मणवयणकाय सजुत्ता।
तुम्ह पाय पयोरूहमिह मंगलमत्थु मे णिच्च।।

8. धर्मभूमौ स्वभावेन मनुष्यो नियतस्मर·।
यज्जात्यैव पराजातिर्ध्युलिगस्त्रियस्त्यजेत्।। 406।। उपासकाध्ययन

9. जीवट्ठाणानुयोगद्वार पृ. 316

10. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक

—रीडर-संस्कृत विभाग
दिगम्बर जैन कॉलेज
बड़ौत (बागपत)

परमागम का बीज जो, जैनागम का प्राण।
'अनेकान्त' सत्सूर्य सो, करो जगत्-कल्याण।।
'अनेकान्त'—रवि—किरण से, तम अज्ञान विनाश।
मिट मिथ्यात्व-कुरीति सब, हो सद्धर्म प्रकाश।।
कुनय-कदाग्रह न रहे, रहे न मिथ्याचार।
तेज देख भागें सभी, दंभी-शठ-वटमार।।
सूख जायें दुर्गुण सकल, पोषण मिले अपार।
सद्भावों का लोक में, हो विकसित संसार।।

— पं. जुगल किशोर 'मुख्तार'

पचास वर्ष पूर्व

भारतीय इतिहास का जैनयुग

–डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन

इतिहास जातीय-जीवन के अतीत का सर्वाङ्गीण प्रतिबिम्ब होता है। अतीत में से ही वर्तमान का जन्म होता है। दोनों का परस्पर इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि बिना अतीत की यथार्थ जानकारी के वर्तमान का वास्तविक स्वरूप समझना कठिन ही नहीं, प्रायः असम्भव है। अतः जातीय उन्नति के हित समाज शास्त्र के प्रधान अङ्ग जातीय इतिहास का ज्ञान परमावश्यक है।

ऐतिहासिक अन्वेषण एवं अध्ययन की सुगमता के लिये इतिहासकाल विभिन्न भागों में विभक्त कर लिया जाता है। इसी कारण भारतवर्ष अथवा भारतीय जाति का इतिहास भी विविध युगों में विभक्त हुआ मिलता है।

सर्वप्रथम, लगभग तीन हजार वर्ष का वह 'शुद्ध ऐतिहासिक काल' है जिसके अन्तर्गत राज्य सत्ताओं, सामाजिक संस्थाओं, धर्म, सभ्यता, साहित्य एवं कला आदि का नियमित, काल क्रमानुसार, बहुत कुछ निश्चित इतिहास (Regular History) उपलब्ध है।

शुद्ध ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ काल से पूर्व का कई सहस्र वर्ष का अनिश्चित समय ऐसा है जिसके अन्तर्गत होने वाले अनेक प्रसिद्ध पुरुषों, महत्वपूर्ण घटनाओं, धर्म, सभ्यता आदि के विषय में यद्यपि जातीय अनुश्रुति, पुरातत्व, जाति विज्ञान, मानुषमिति कपालमिति, भू विज्ञान इत्यादि के द्वारा अनेक ज्ञातव्य बातों का ज्ञान तो प्राप्त हो जाता है, किन्तु कोई नियमितता और काल क्रम की निश्चितता नहीं है। उस काल-सम्बन्धी इतिहास धुंधला, सन्दिग्ध तथा अनिश्चित कोटि का होने से, 'अशुद्ध अथवा अनियमित इतिहास' (Proto History) कहलाता है।

उससे भी पूर्व का काल शुद्ध प्रागैतिहासिक (Prehistoric) है और इतिहास की परिधि के बाहिर है।

शुद्ध ऐतिहासिक काल के भी तीन विभाग किये जाते हैं-

(1) प्राचीन युग, जिसका वर्णन बौद्ध-हिन्दुयुग, अथवा केवल बौद्धयुग करके भी किया जाता है। यह युग नियमित इतिहास के प्रारम्भ काल से लगाकर मुसलमानों द्वारा भारत विजय तक चलता है (ई0 सन् की 12वीं शताब्दी तक)।

(2) मध्य युग- जिसे मुस्लिम युग भी कहते हैं, प्राचीन युग की समाप्ति से प्रारम्भ होकर अङ्गरेजों की भारत विजय तक चलता है। (18वीं शताबदी के मध्य तक)।

(3) अर्वाचीन युग अथवा आंग्लयुग अङ्गरेजों की भारत विजय के साथ प्रारंभ होता है।

साधारणतया, भारतीय इतिहास की पाठ्य पुस्तकों में सर्व प्रथम प्रागैतिहासिक कालीन पूर्व पाषाण युग, उत्तर पाषाणयुग, ताम्रयुग, लौहयुग, द्राविड़ जाति का भारतप्रवेश तथा उसकी सभ्यता, आर्यो का भारतप्रवेश और वैदिक सभ्यता आदि का अति संक्षिप्त वर्णन करने के उपरान्त रामायण तथा महाभारत के आधार पर कल्पित पौराणिक युग अथवा 'महाकाव्य-काल' (Epic Age) का वर्णन होता है। और उसके ठीक बाद भारतवर्ष के नियमित इतिहास का प्रारंभ बौद्धयुग के साथ-साथ कर दिया जाता है। महात्मा बुद्ध के समय की राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थिति, उनका जीवन-चरित्र, उपदेश और प्रभाव मगध-साम्राज्य का उत्कर्ष सिकन्दर महान् का आक्रमण, सम्राट् अशोक के द्वारा बौद्धधर्मप्रचार, मगधराज्य की अवनति, शुङ्ग कन्व तथा गुप्त राजों के शासनकाल में आंशिक ब्राह्मणपुनरुद्वार और शक हूण आक्रान्ताओं का वृतान्त देते हुए ई. सन् की 7वीं शताब्दी में बौद्ध राजा हर्पवर्धन के साथ बौद्धयुग (Bubdhistic Period) की समाप्ति हो जाती है। तदुपरान्त राजपूत राज्यों का उदय तथा संक्षिप्त इतिवृत्त बतलाते हुए 12वीं शताब्दी के अन्त में मुहम्मद

गौरी द्वारा भारत विजय के साथ साथ भारतीय इतिहास का प्राचीन युग समाप्त हो जाता है।

भारतवर्ष के अधिकांश इतिहास-ग्रन्थों का यही ढाचा है। इसका श्रीगणेश 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में एलफिन्सटन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने किया था और उनका अनुकरण भारतीय विद्वान् आज तक करते आ रहे हैं।

किन्तु 20वीं शताब्दी के विकसित ज्ञान, बढ़े हुए अध्ययन तथा नवीन खोजों के आधार पर इस ढांचे में बहुत कुछ हेर फेर हुआ है। प्रागैतिहासिक काल के विशेषज्ञों का मत है कि भारतवर्ष में मनुष्य का अस्तित्व अन्य देशों की अपेक्षा सबसे पहिले से पाया जाता है।[1] आर्यों के भारत प्रवेश से पूर्व कम से कम एक हजार वर्ष पूर्व-द्राविड़ जाति पढ़ौसी देशों से आकर इस देश में बसी थी और द्राविड़ों के आने से भी पहिले मानव, यक्ष, ऋक्ष, नाग, विद्याधर आदि मनुष्य-जातियां इस देश में बसी हुई थीं। उनकी उन्नत नागरिक सभ्यता तथा सुविकसित धार्मिक विचारों के निर्देश हड़प्पा, मोहनजोदडो प्रभृति पुरातत्व तथा प्राचीन भारतीय अनुश्रुति में पर्याप्त मिलते हैं।

ईस्वी पूर्व तीन से चार हजार वर्षो के बीच आर्य लोगों ने पश्चिमोत्तर प्रान्तों से भारत में प्रवेश किया। यहां बसने के लगभग एक हजार वर्ष बाद वेदों की रचना की, उसके कुछ समय बाद रामायण वर्णित घटनायें घटीं, और सन् ईस्वी पूर्व 1500 के लगभग प्रसिद्ध महाभारत युद्ध हुआ। यह युद्ध वैदिक सभ्यता और वैदिक आर्य-राज्यसत्ताओं के ह्रास का सूचक था।

भारतवर्ष के नियमित इतिहास का, उसके प्राचीन युग का वास्तविक प्रारंभ महाभारत युद्ध के उपरान्त हो जाता है।[2] युधिष्ठर वंशजों का इतिहास, उत्तर वैदिक साहित्य का निर्माण, ब्रह्मवादी जन की उपनिषद विचारधारा, सोलह महजन पदों का उदय और परस्पर द्वन्द, अन्त में मगध की विजय, हमें बुद्धजन्म के समय तक पहुँचा देती है। इससे आगे का इतिहास पूर्ववत् चलता है।

इस प्रकार ईस्वी पूर्व 1400 से सन् ईस्वी 1200 तक का लगभग 2600 वर्ष का लम्बा काल भारतीय इतिहास का प्राचीन युग माना जाता है। अनेक

विद्वान् इसके आदि के 800 व अन्त के 400 वर्षो को प्रधानतया हिन्दु तथा बीच के लगभग चौदह सौ वर्षो को प्रधानतया बौद्धरूपी देखते हैं। कुछ एक तो सारे प्राचीन युग को मुख्यतया बौद्धदृष्टि से ही निरूपण करते हैं।

यहाँ प्रश्न होता है कि सभ्यता एवं संस्कृति केवल अथवा अधिकांश में बौद्धमयी ही थी? क्या उस युग में जैन संस्कृति कोई सत्ता ही न थी, उसका कोई प्रभाव क्या कभी भी नहीं रहा? क्या भारतीय इतिहास में कभी कोई 'जैनयुग' नहीं हुआ? क्या वास्तव में प्राचीन भारतीय इतिहास के उक्त बहुभाग को 'बौद्धयुग' का नाम देना संगत तथा ऐतिहासिक सत्य है?

इन प्रश्नों का उत्तर खोजने से पूर्व एक और प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐतिहासिक युगविभागों को मात्र प्राचीन, मध्य, अर्वाचीन-युग ही न कहकर हिन्दु, बौद्ध, मुसलमान, आंग्ल आदि संस्कृति अथवा धर्मसूचक नाम क्यों दिये जाते हैं?

वास्तव में जिस युग में जिस संस्कृति की सर्वाधिक महत्ता प्रभाव एवं व्यापकता रही हो, प्रसिद्ध प्रसिद्ध व्यक्तियों एवं प्रमुख राज्यवंशों से जिसे प्रोत्साहन, सहायता एवं आश्रय मिला हो, जनसाधारण के जीवन में जो सर्वाधिक ओतप्रोत रही हो, जातीय साहित्य, कलाओं, राजनीति, समाज-व्यवस्था, जनता के रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार, रीति-रिवाजों पर जिस संस्कृति ने विवक्षित युग में सर्वाधिक प्रभाव डाला हो उसी संस्कृति का निर्देशपरक नाम उक्त ऐतिहासिक युग को दे दिया जाता है और वैसा करना युक्तियुक्त भी है।

दूसरी बात यह है कि भारतवर्ष सदैव से एक धर्मप्राण देश रहा है। जितनी संस्कृतियां यहाँ जनमीं और पनपीं उनमें से प्रत्येक का किसी न किसी धर्मविशेष के साथ सम्बन्ध रहा है। धर्म और संस्कृति का संबंध यहां अविनाभावी था, इसी कारण भिन्न भिन्न धर्मो के नामों से ही भिन्न भिन्न संस्कृतियां प्रसिद्ध हुई, यथा व्रात्य, श्रमण अथवा जैन, बौद्ध, हिन्दु-वैदिक अथवा पौराणिक, मुस्लिम इत्यादि।

अब देखना यह है कि प्राचीन भारत के उस अढ़ाई सहस्त्र वर्ष के लम्बे काल में किस संस्कृति तथा धर्म का इस देश में सर्वाधिक व्यापक प्रभाव एवं प्रसार रहा और उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाण कहां तक उस बात की पुष्टि करते हैं?

भारतवर्ष विन्ध्य पर्वतमेखला द्वारा उत्तरी भारत तथा दक्षिणी भारत ऐसे दो विभागों में विभक्त है। इन दोनों प्रदेशों का इतिहास प्राचीनकाल के अधिकांश एक दूसरे से प्रायः पृथक तथा स्वतन्त्र ही चला है। अस्तुः दोनों प्रान्तों का पृथक्-पृथक् विवेचन ही अधिक उपयुक्त होगा।

यह तो प्रायः निश्चित है कि भारतीय इतिहास के प्राचीन युग में इस देश में हिन्दु, बौद्ध तथा जैन यह तीन ही धर्म विशेष रूप से प्रचलित थे। और इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि बौद्ध धर्म की उत्पत्ति ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी में महात्मा बुद्ध द्वारा हुई थी। उससे पूर्व स्वयं बौद्ध अनुश्रुति एवं साहित्य के अनुसार इस धर्म का कोई अस्तित्व न था। कोई स्वतन्त्र प्रमाण भी इस मत के विरोध में उपलब्ध नहीं है।

हिन्दु धर्म, जिसका पूर्वरूप वैदिक था तथा उत्तर रूप पौराणिक हिन्दु धर्म हुआ, सन् ईस्वी पूर्व लगभग 3 से 4 हजार वर्ष के बीच भारत में प्रविष्ट आर्य जाति के धर्म और संस्कृति से सम्बन्धित था। बौद्ध धर्म की उत्पत्ति के बहुत पहिले से वह इस देश में विद्यमान था।

अब रहा जैनधर्म। गत पचास वर्ष की खोजों तथा अध्ययन के आधार पर आज प्रायः सर्व ही पाश्चात्य एवं पौर्वात्य प्राच्यविद्याविशारद इस विषय में एकमत हैं कि जैनधर्म बौद्धधर्म से सर्वथा भिन्न, उससे अति प्राचीन, एक स्वतन्त्र धर्म है। वैदिक धर्म के साथ-साथ वह इस देश में नियमित इतिहासकाल के प्रारंभ के बहुत समय पूर्व से प्रचलित रहा है और संभवतः आर्यो के भारत प्रवेश से पूर्व भी इस देश में प्रचलित था। वह शुद्ध भारतीय धर्मो में जो आज तक प्रचलित हैं, सबसे प्राचीन है*।

इस प्रकार, महाभारत युद्ध के उपरान्त अर्थात् भारतीय इतिहास के

प्राचीन युग के प्रारम्भ में इस देश में केवल दो धर्म—वैदिक और जैन ही विशेषतः प्रचलित थे, तथा बौद्ध धर्म का उस समय कोई अस्तित्व न था।

महाभारत से ठीक पूर्व का समय उत्तरी भारत में पश्चिमोत्तर वैदिक, याज्ञिक अथवा ब्राह्मण संस्कृति के चरमोत्कर्ष का युग था, किन्तु महाभारत के विनाशकारी युद्ध ने समस्त वैदिक राज्यों को परस्पर में लड़ाकर शक्ति एवं श्रीहीन कर दिया। एक प्रबल क्रान्ति हुई, सैकड़ों, सम्भवतः सहस्त्रों वर्षो से दबाई हुई ब्रात्य-सत्ता देश में सर्वत्र सिर उठाने लगी। नवागत वैदिक आर्यो से विजित, दलित, पीड़ित व्रात्य क्षत्रियों की, नाग यक्ष विद्याधर आदि प्राचीन भारतीय जातियों की सत्ता लुप्त नहीं हो गई थी। जनसाधारण, यथा छोटे मोटे राज्यों, गणों और संघों के रूप में वह इधर उधर बिखरी पड़ी थी, इस समय अवसर पाकर उबल उठी, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि ईसा की 17वीं 18वीं शताब्दी में अकस्मात मराठों, राजपूतों, सिक्खों, जाटों आदि रूप में भड़क उठने वाली चिर सुषुप्त हिन्दु राष्ट्र शक्ति के सन्मुख भारत व्यापी दीखने वाली महा ऐश्वर्यशाली प्रबल मुस्लिम शक्ति बिखर का ढेर हो गई उसी प्रकार सन् ईस्वी पूर्व दूसरे सहस्राब्द के अन्त में तत्कालीन वैदिक आर्य सत्ता भी नाग आदि प्राचीन भारतीय व्रात्य क्षत्रियों की चिरदलित एवं उपेक्षित शक्ति के पुनस्थान से अस्त-व्यस्त हो गई। और लगभग डेढ़ सहस्र वर्षो तक एक सामान्य गौण सत्ता के रूप में ही रह सकी। उसके उपरान्त, इस बीच में जब वह प्राचीन जातियों में भली भांति सम्मिश्रित होकर, अपने धर्म तथा आचार-विचारों में देश कालानुसार सुधार करके अर्थात् व्रात्य धर्म-विरोधी याज्ञिक हिंसा आदि प्रथाओं का त्याग कर अपनी संस्कृति का नवसंस्कार करने में सफल हो सकी तभी गुप्तराज्य काल में (ईसा की 3री-4थी शताब्दी में) उसका पुनरुद्धार हुआ, किन्तु प्राचीन वैदिक रूप में नहीं, नवीन हिन्दु पौराणिक रूप में। उस पूर्वरूप तथा इस उत्तररूप मे प्रत्यक्ष ही आकाश-पाताल का अन्तर था।

जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है, महाभारत युद्ध के पश्चात् ही पश्चिमोत्तर प्रान्त में तक्षशिला तथा पंजाब में 'उरगयन' (उद्यानपुरी) के

नागराजों ने अवसर पाकर वैदिक आर्यो के केन्द्र तथा शिरमौर कुरु-पाञ्चाल देशों पर प्रबल आक्रमण करने प्रारंभ कर दिये। युधिष्ठिर के उत्तराधिकारी राजा परीक्षित को नागों के हाथ अपने प्राण खोने पड़े, परीक्षित पुत्र जन्मेजय का सारा जीवन नागों के साथ लड़ते बीता और अन्त में उनके वंशज निचक्षु को तथा अन्य कुरु-पाञ्चाल-देशों के नागराजों को स्वदेश छोड़कर पूर्वस्थ कौशाम्बी आदि में शरण लेनी पड़ी[3]। परिणामस्वरूप हस्तिनागपुर, अहिच्छेत्र, मथुरा, पद्मावती, भोगवती, नागपुर आदि में नागराज्य स्थापित हो गये। सिंध में पातालपुरी (पाटल) के नग तथा दक्षिणी पंजाब में सम्भुत्तर महाजनपद के साम्भवव्रात्य प्रबल हो उठे। पूर्वस्थ अंग, बंग, विदेह, कलिंग, काशी आदि देशों में भी नाग, नागवंशज (शिशुनाग), तथा लिच्छवि, वज्जी, भल्ल, मल्ल, मोरिय नात आदि व्रात्य-सत्ताएँ प्रबल हो उठीं।

व्रात्य श्रमणों के संसर्ग और प्रभावंश के शल, वत्स, विदेह आदि देशों के वैदिक आर्य भी याज्ञिक हिंसा एवं वेदों के लौकिकवाद (Matterialism) को छोड़ अध्यात्म के रंग में रंग गये। आत्मा में लीन, संसार-देह-भोगों से विरक्त विदेह व्रात्यों के सम्पर्क में ब्रह्मवादी, यज्ञविरोधी, अहिंसाप्रेमी जनक लोग भी विदेह कहलाने लगे। इस धार्मिक सामञ्जस्य एवं उदारता के कारण कुछ काल तक विदेह के जनक राजे, तत्कालीन राजनैतिक क्षेत्र में प्रमुख रहे, किन्तु पश्चिम के वैदिक आर्य उनसे भी व्रात्यों की भांति घृणा करने लगे, उन्हें भी अपने से वैसा ही हीन समझने लगे। उधर व्रत्य क्षत्रियों के प्रबल गणतन्त्र तथा नागों के कितने ही राज्यतन्त्र स्थान स्थान में स्थापित हो रहे थे। काशी में उरगवंश की स्थापना हुई। काशी के उरगवंशी जैन चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने समस्त तत्कालीन राज्यों से अपना आधिपत्य स्वीकार कराया[4]। उनके वंशज काशीनरेश अश्वसेन की पट्टरानी वामा देवी ने सन् ई. पूर्व 877 में 23वें जैन तीर्थङ्कर भगवान पार्श्वनाथ को जन्म दिया। भगवान पार्श्व की ऐतिहासिकता आज निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुकी है[5]। वह युग नागयुग था। भगवान पार्श्व नागवंश (उरगवंश) में ही हुआ था। उनके अनुयायी तथा भक्तों में भी नागजाति का ही विशेष स्थान था। उनका लाँछन (चिन्ह विशेष) भी नाग ही था। उन में प्राचीन से प्राचीन प्रतिमाएँ नागछत्रयुक्त ही मिलती हैं। जोदड़ों

तथा मथुरा के पुरातत्व में अनेक नागकुमार व नागकुमारियाँ योगीराज पार्श्व जिनकी भक्ति करती दीख रहती हैं। भगवान पार्श्व के धर्म प्रचार से रही सही याज्ञिक हिंसा भी समाप्त हो गई। याज्ञिक, देवतावादी वैदिकधर्म तथा अहिंसाप्रधान आत्मवादी जैनधर्म के बीच सामञ्जस्य और समन्वय बैठाने के प्रयत्न होने लगे। अनेक दर्शन तथा मत-मतान्तर पैदा होने लगे।

ई. पूर्व 777 में बिहार प्रान्त के सम्मेदशिखर से भगवान पार्श्व ने निर्वाण लाभ लिया। वह इस जैन युग के द्वितीय युगप्रवर्तक थे (प्रथम युगप्रवर्तक महाभारत कालीन 22वें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि थे) और जैनधर्म के पुनरुद्धारक थे। उनके प्रचार से जैन धर्म का प्रसार अधिकाधिक विस्तृत हो गया था। किन्तु इस पुनरुद्धार कार्य में वह जैन संघ की पूर्ण सुदृढ़ व्यवस्था न कर पाये थे। उनके पश्चात अनेक नवोदित मत-मतान्तरों के कारण जैन दार्शनिक सिद्धान्त तथा आचार-नियम भी अच्छे व्यवस्थित एवं सुनिश्चित रूप में न रह गये थे। स्वयं उनकी शिष्य-परम्परा में बुद्धकीर्ति, मौद्गलायन, मक्खलिगोशाल, केशीपुत्र आदि विद्वानों मे सैद्धान्तिक मतभेद होने लगा था, उन विद्वानों ने अपने-अपने मन्तव्यों का प्रचार भी स्वतन्त्र धर्मो के रूप में करना प्रारम्भ कर दिया था। ऐसे समय में एक अन्य युगप्रवर्तक महापुरुष की आवश्यकता थी। अस्तु, ई. पूर्व 600 में अन्तिम तीर्थकर भगवान महावीर का जन्म हुआ। 30 वर्ष की आयु तक गृहस्थ में रहकर 12 वर्ष पर्यन्त उन्होंने दुद्धर तपश्चरण और योगसाधन किया। तदुपरान्त केवलज्ञान (सर्वज्ञत्व) को प्राप्त कर नातपुत्त निर्ग्रन्थ महावीर जिनेन्द्र ने 30 वर्ष पर्यन्त सर्वत्र देश-देशान्तरों में विहार कर धर्मोपदेश दिया। जिस प्रान्त में उनका सर्वाधिक विहार हुआ वह विहार के ही नाम से प्रसिद्ध हो गया। ई. पूर्व. 527 में भगवान ने 'पावा' से निर्वाण प्राप्त किया।

उन्होंने मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकारूप चतुर्दिक संघ की स्थापना की, आचार नियमों से संघ की सुदृढ़ व्यवस्था कर दी। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह पांच प्रकार व्रतों को यथाशक्य मन, वचन काय से पालन करते हुए क्रोधमान मायालोभादि कषायों का दमन करते हुए सम्यग्दर्शन,

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्ररूप रत्नत्रय की प्राप्ति ही अक्षय सुख के स्थान मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग प्रतिपादन किया। वस्तुस्वरूप के यथार्थ परिज्ञान के हित अनेकान्तात्मक स्याद्वाद, आत्मस्वातन्त्र्य के हित साम्यवाद, पुरुषार्थ का महत्व हृदयङ्गत कराने के हित कर्मवाद तथा स्वपर कल्याण के लिये परमावश्यक अहिंसावाद का सदुपदेश दिया। उनके उपदेश का प्रभाव सर्वव्यापक हुआ, आबालवृद्ध, स्त्री-पुरुष, ऊँच-नीच, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, आर्य, अनार्य, सब ही उनके अनुयायी थे। उनके प्रधान शिष्य ब्राह्मण इन्द्रभूति गौतम आदि गणधरों ने उनके उपदेशित सिद्धान्तों को द्वादशाङ्गश्रुत के रूप में रचनाबद्ध किया और तदुपरान्त विशाल जैनसंघों द्वारा सहस्राब्दियों पर्यन्त इस देश के कोने-कोने में ही नहीं दूसरे प्रदेशों में भी भगवान महावीर के कल्याणमयी अहिंसाधर्म का स्रोत वहता रहा है।

भगवान महावीर से पूर्व की राजनैतिक परिस्थिति में राज्यों के आठ पड़ौसी जोड़े अर्थात् बौद्ध अंगुत्तरनिकाय एवं महावंश के सोलह महाजन पदों का जिक्र किया जाता है। अङ्ग, मगध, काशी, कोशल, वज्जि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पाञ्चाल, मत्स्य शूरसेन, अश्मक, अवन्ति, गान्धार कम्बोज—बौद्ध अनुश्रुति के तत्कालीन सोलह महाजनपद हैं। हिन्दु अनुश्रुति (ऐतिहासिक पुराणों) मे भी उस समय के बारह प्रसिद्ध राजाओं का वर्णन किया है[6]। हिन्दु अनुश्रुति के प्रायः सब ही राज्य भारतीय संयुक्तप्रान्त, विहार तथा मध्यप्रान्त के अन्तर्गत आ जाते हैं। दूसरे, वे किसी एक ही काल के सूचक नहीं वरन् महाभारत के जरासन्ध से लगाकर महावीर काल के पश्चात् तक के राज्य उसमें उल्लिखित हैं। ये सर्व ही राज्य केवल वैदिक आर्यो से संबंधित हैं, अवैदिक, व्रात्य, नाग, यक्ष, अनार्य राज्यों और प्रदेशों का साथ में कोई उल्लेख नहीं। इससे विदित होता है मानों पूरे दक्षिण भारत में उस समय कोई भी राज्य नहीं था। लगभग यही दशा बौद्ध अनुश्रुति की है। प्रथम तो बौद्ध अनुश्रुति ई. सन् की 6ठी 7वीं शताब्दी में सिंहल, बर्मा, तिब्बत, चीन आदि भारतेतर प्रदेशों में विदेशियों द्वारा संकलित हुई। दूसरे, उसमें उल्लिखित महाजनपद भी पश्चिमोत्तर प्रान्त के गांधार, कम्बोज व मध्य भारत के अश्मक, अवन्ति एवं चेदि को छोड़ सर्व ही वर्तमान संयुक्तप्रन्त तथा विहार के अन्तर्गत हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि बाद को जब बौद्ध अनुश्रुति संकलित हुई उनके संकलन कर्त्ताओं ने हिन्दु अनुश्रुति के प्रसिद्ध राज्यों से जिनसे भी किसी समय बौद्धधर्म अथवा बौद्ध कथानकों का थोड़ा बहुत संबंध पाया, उन सब प्रदेशों से यह सोलह महाजन पद धड़ लिये।

इसके विपरीत जैन अनुश्रुति में, जो उक्त दोनों अनुश्रुतियों से कम प्राचीन नहीं वरन किन्हीं अंशों में अधिक प्राचीन है, शुद्ध भारतीय अनुश्रुति है और जिसका संकलन भी उन दोनों से पहिले होना प्रारम्भ हो गया था, भगवान महावीर के पूर्व के सोलह राज्य निम्नप्रकार वर्णन किये हैं—

अङ्ग, बङ्ग, मगह (मगध), मलय (चेदी), मालव, अच्छ (अश्मक), वच्छ (वत्स), कच्छ (गुजरात काठियावाड़), पाढ़ (पांड्य), लाढ़ (राधा), आवाह (पश्मिोत्तर प्रान्त) सम्भुत्तर, वज्जि, मल्ल, काशी, कोशल [7]।

प्रत्यक्ष ही जैन अनुश्रुति के इन महावीर-कालीन प्रसिद्ध सोलह राज्यों में प्रायः समस्त भारतवर्ष के हिन्दुकुश से कुमारी अन्तरीप, तथा बंगाल से काठियावाड़ तक के सर्व ही आर्य अनार्य राज्य आ गये, जिनका कि अस्तित्व उक्त समय के इतिहास में स्पष्ट मिलता है।

अङ्ग की राजधानी चम्पा थी। यह राज्य बङ्गाल और मगध के बीच में स्थित था इसके राज्य वंश तथा जनता में जैनधर्म की प्रवृत्ति अन्त तक बनी रही थी। राजधानी चम्पापुरी 12वें जैन तीर्थंकर वासुपूज्य की जन्मभूमि थी। ई. पू. छठी शताब्दी के मध्य में मगध के श्रेणिक (बिम्बसार) ने अङ्ग को विजय कर अपने राज्य में मिला लिया था।

बङ्गदेश में उस समय नाग, यक्ष आदि प्राचीन जातियों के छोटे 2 राज्य एक संघ में गुंथे हुए थे, किन्तु इनकी स्थिति स्वतंत्र रहते हुए भी गौण ही रही।

मगह अथवा मगध बाद को सर्व प्रसिद्ध एवं सर्वोपरि राज्य हो गया। राजधानी पञ्चशैलपुर (गिरिब्रज अथवा राजगृही) थी। काशी राज्य के ह्रास के साथ साथ इस देश में नाग क्षत्रियों की एक शाखा शिशुनाग वंश की स्थापना

हुई (ई. पू. 7वीं शताब्दी के प्रारंभ में) इस वंश के श्रेणिक (बिम्बसार), कुणिक, अजातशत्रु, उदयी आदि राजाओं के शासनकाल में शनैः शनैः अङ्ग, काशी, वज्जि, वत्स, कोशल, अवन्ति आदि राज्यों को विजय कर भारतवर्ष के प्रथम साम्राज्य-मगध साम्राज्य का उत्कर्ष एवं विस्तार होता चला गया। इस वंश के प्रायः सर्व ही राजे जैन थे। बिम्बसार प्रारंभ में महात्मा बुद्ध के उपदेश से प्रभावित हुआ था अवश्य, किन्तु जब ई0 पूर्व 558 में उसकी राजधानी से लगे हुए विपुलाचल पर्वत से भगवान महावीर की प्रथम देशना हुई तो वह उनका अनन्य भक्त हो गया। वह भगवान का प्रथम और प्रमुख गृहस्थ श्रोता था। उसके पुत्र अजातशत्रु व अभयकुमार तथा अन्य वंशज भी जैन धर्मानुयायी ही रहे।

शिशुनाग वंश के पश्चात् मगध में नन्दवंश का शासन रहा। प्रथम शासक सम्राट नन्दिवर्धन था। उसने राजगृही में प्रथमजिन भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा कलिङ्ग देश से लाकर स्थापित की थी।[8] उत्तरनन्द भी जैनधर्मानुयायी थे, उनका मन्त्री शकटाल जैनी था[9]। शकटाल के पुत्र ही प्रसिद्ध जैनाचार्य स्थूलभद्र थे।

नन्दवंश का उच्छेद कर सम्राट चन्द्रगुप्त ने मगध में मौर्यवंश की स्थापना की वह सर्वसम्मति से पक्का जैन सम्राट था। अन्तिम श्रुतकेवलि भद्रबाहु स्वामी उसके धर्मगुरु थे। कुछ समय राज्यभोग करने के पश्चात् द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष के समय सम्राट चन्द्रगुप्त गुरु तथा उनके संघ के साथ दक्षिण को चला गया था। वहाँ वर्तमान मैसूर राज्य के अन्तर्गत श्रवणबेलगोल के निकट चन्द्रगिरि पर्वत पर मुनिरूप में तपश्चरण कर अन्त में समाधिमरण पूर्वक देह त्यागी थीं।[10] गिरनार, शत्रुंजय आदि तीर्थ यात्रा के समय उक्त पर्वत के नीचे उसने यात्रियों के लाभार्थ प्रसिद्ध सुदर्शन झील का निर्माण कराया था। चन्द्रगुप्त का उत्तराधिकारी, बिन्दुसार तथा उसका प्रसिद्ध मन्त्री चाणक्य भी जैन ही थे।[11] राजनीति और समाजशास्त्र के इस प्रसिद्ध प्रकाण्ड आचार्य के जीवनसंबन्धी जितना वर्णन जैन अनुश्रुति में मिलता है अन्यत्र नहीं मिलता। मौर्य वंश के तृतीय सम्राट महाराज अशोक के धर्म का अभी कुछ निश्चित

निर्णय नहीं हो पाया। सामान्य धारणा उसके बौद्ध होने की है किन्तु डा. टामस[12] आदि अनेक इतिहासज्ञ विद्वानों का मत है कि वह जैन ही था और यदि उसने बौद्धधर्म अङ्गीकार भी किया तो अपनी अन्तिम अवस्था में। वास्तव में स्वयं बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने अपने शासनकाल में बौद्धों पर बड़े अत्याचार किये थे। उस धर्म के प्रति अशोक की उपेक्षा का ही यह परिणाम हुआ कि तत्कालीन बौद्धधर्माध्यक्षो ने बौद्धों को भारतेतर प्रदेशों में प्रयाण कर जाने का आदेश दिया।

अशोक का उत्तराधिकारी सम्प्रति तो निश्चय कट्टर जैन धर्मानुयायी था और जैनधर्म के प्रचार और प्रसार में उसने वह सब प्रयत्न किये जिनका श्रेय भ्रम से बौद्धधर्म के लिये सम्राट अशोक को दिया जाता है। सम्प्रति के वंशज मगध के शालिशुक, देवधर्म आदि, अवन्तिका वृहद्रथ, गांधार के वीरसेन, सुभगसेन, काश्मीर के जालक–सर्व जैन थे।

ई. पूर्व की 3री शताब्दी के अन्त में मगध में क्रान्ति हुई। मौर्य वंश का उच्छेद कर ब्राह्मण शुङ्गवंश का और तत्पश्चात् कन्व वंश का राज्य कोई सौ सवासौ वर्ष रहा। यह दोनों वंश ब्राह्मण धर्मानुयायी थे। किन्तु कन्व वंश के पश्चात् फिर मगध वैशाली के जैन लिच्छवियों के अधिकार में आ गया। ई. सन् की 4थीं शताब्दी तक उन्हीं के अधिकार में रहा और अन्त में एक वैवाहिक संबंध के कारण लिच्छवियों की ही सहायता से गुप्तवंशी सम्राट हिन्दु-पुनरुद्धार के प्रवर्तक थे।

मलय अथवा चेदिका विस्तार मध्यभारत से लगा कर कलिङ्ग तक था। चेदिवंश की एक शाखा वर्तमान बुन्देलखंड आदि प्रान्तों में, जिसे मध्यकलिङ्ग भी कहा जाता था, राज्य करती थी। दूसरी शाखा कलिङ्ग (उड़ीसा) में। कलिङ्ग में बहुत प्राचीनकाल से जैनधर्म की प्रवृत्ति थी। वीर-निर्वाण संवत् 103 में (ई. पूर्व 424) मगधसम्राट नन्दिवर्धन कलिङ्ग कों विजयकर वहाँ से प्रथम जिन की मूर्ति मगध में ले आया था। किन्तु उत्तर नन्दों के समय कलिङ्ग फिर स्वतन्त्र हो गया था। बिन्दुसार के शासनकाल में कलिङ्ग में फिर एक क्रान्ति हुई प्रतीत होती है। प्राचीन चेदिवंश के स्थान में किसी आततायी और उसके वंशजों का

शासन रहा। सम्राट सम्प्रति के अन्तिम दिनों में वहाँ चेदिवंश की पुनः स्थापना हुई। इस वंश को प्रसिद्ध सम्राट महामेघवाहन खारवेल था। समस्त भारत को इसने अपने आधीन कर लिया। मगध को भी विजय किया, पुष्यमित्र शुङ्ग, उसके सामने नतमस्तक हुआ युनानी दमित्र को उसने देश से बाहिर खेदड़ भगाया, सातकर्णी आन्ध्र, भोजक, राष्ट्रिक आदि सर्व राजे उसके आधीन थे। खारवेल जैनधर्म का दृढ़ अनुयायी था। इस धर्म के प्रचार प्रभावना के लिये उसने सतत प्रयत्न किये। जैन मगध-साम्राज्य के उपरान्त जैन, कलिङ्गसाम्राज्य हुआ। इस प्रकार उत्तरीभारत में सन् ई. पूर्व की 2री शताब्दी के मध्य तक जैनधर्म की ही प्रधानता रही।[13]

मालव अथवा अवन्ति में महावीर काल में प्रद्योतवंश का राज्य था। वहां का प्रसिद्ध राजा चंडप्रद्योत तथा उसका पुत्र पालक जैनधर्मानुयायी थे। नन्दिवर्धन ने अवन्ति को विजय कर अपने राज्य का सूबा बनाया, इसका उत्कर्ष मगधसाम्राज्य के अस्त होने के पश्चात् वरन् खारबेल की मृत्यु के उपरान्त प्रारंभ हुआ। खारवेल के पश्चात् उसके ही एक वंशज ने अवन्ति में जो खारवेल के राज्य का एक सूबा थी, स्वतन्त्र राज्य स्थापन कर लिया। अब उत्तर भारत की केन्द्रीय शक्ति मगध न रह गया था वरन् अवन्ति हो गई थी। अस्तु; तत्कालीन महाराष्ट्र के आन्ध्र, पद्मावती भोगवती के नाग, गुजरात के शक छत्रप सर्व ही अवन्ति पर दाँत लगाये रहते थे। तथापि लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक वहां जैन गर्दभिल्ल वंश का ही राज्य रहा। प्रसिद्ध सम्राट् प्रथमविक्रमादित्य, इसी गर्दभिल्ल वंश के थे। उनके पिता के अनाचारों के कारण उनके जन्म से पूर्व ही नवागत शकों का अवन्ति पर अधिकार हो गया था, किन्तु होश संभालने पर उन्होंने शको को देश से निकाल बाहर किया। उनका शासन सर्व प्रकार से कल्याणप्रद तथा आदर्श रहा। जैनाचार्य कालक सूरि के प्रभाव से वह दृढ़ जैनधर्म भक्त हो गये थे। उन्हीं की स्मृति में प्रचलित विक्रम संवत् चला। इस संवत् के सबसे प्राचीन और सबसे अधिक उपयोग जैन साहित्य एवं पुरातत्व में ही मिलते हैं।

सम्राट् विक्रम के पश्चात् कुछ समय तक गुजरात के शकों का अवन्ति पर

अधिकार रहा। रुद्रसिंह, रुद्रदामन, जयदामन, नहपान आदि ये शक छत्रप भी जैन ही थे। इन शकों का उच्छेद अवन्ति से आन्ध्र राजों ने किया और यह आन्ध्र राजे भी अनार्य तथा जैन-धर्मानुयायी ही थे। दूसरी शताब्दी ईसवी में आन्ध्र वंश के अस्त तथा 4थी शताब्दी में गुप्त वंश के उदय के बीच महारथी नामक नाग एवं वकातक सदार प्रबल रहे उन्हीं का आधिपत्य अधिकांश मध्य तथा दक्षिण भारत पर रहा। ये नाग राजे प्रायः सर्व ही जैनधर्मानुयायी थे। उनकी नागभाषा (प्राकृत व अपभ्रंश) जैन साहित्य की ही मुख्य भाषा थी। उक्त नागयुग में जैन विद्वानों ने नागरी लिपि का अविष्कार किया, जैन शिल्पकारों ने जैन मन्दिरों में नागर शैली का प्रचार किया।

अच्छ अथवा अश्मक दक्षिण भारत के उत्तरपूर्व का प्रदेश था। इसकी राजधानी पोदनपुर जैनों का एक पवित्र स्थान अति प्राचीनकाल से रहा है। सम्राट खारवेल की मृत्यु के पश्चात् कलिङ्क वंश की ही एक शाखा का यहां राज्य रहा। इसी कारण यह प्रान्त त्रिकलिङ्ग का दक्षिण कलिङ्ग कहलाया। नागयुग में यह प्रसिद्धं फणिमण्डल के अन्तर्गत था और आचार्यप्रवर, सिंहनन्दि, सर्वनन्दि, समन्तभद्र, पूज्यपाद आदि का कार्यक्षेत्र था। वाद को यह प्रान्त पहले पल्लव फिर गङ्गवाड़ी के जैन गङ्गराज्य में सम्मिलित हो गया।

वच्छ अर्थात् वत्स देश की राजधानी कौशाम्बी थी। नागों के प्रबल आक्रमणों के कारण पांडवों के वंशज निचक्षु आदि ने इस देश में अपना राज्य स्थापित किया था। किन्तु पड़ौसी व्रात्यों संसर्ग में वत्स देश के कुरुवंशी वैदिक आर्य भी व्रात्संस्कृति में रंगे गये और उन्होंने जैनधर्म अङ्गीकार कर लिया। महावीरकाल में स्वप्नवासवदत्ता की प्रसिद्धि वाला वत्सराज उदयन जैनधर्म का भक्त था। किन्तु उसके एक दो पीढ़ी बाद ही मगध के शिशुनाग सम्राटों ने वत्स को विजय कर अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया।

कच्छ अर्थात् काठियावाड़ प्रान्त में उस समय वर्तमान गुजरात तथा बम्बई प्रेजीडेन्सी का बहुभाग था। महाभारत काल में मथुरा के यदुवंशी राजा समुद्रविजय ने द्वारका में अपना राज्य स्थापन किया था। उनके पश्चात् उनके भतीजे नारायण कृष्ण राज्य के उत्तराधिकारी हुए। कृष्ण महाराज के ताऊजाद

भाई 22वें जैनतीर्थङ्कर अरिष्टनेमि थे। कृष्ण की ऐतिहासिक निर्विवाद है तब कोई कारण नहीं कि अरिष्टनेमि को भी एक ऐतिहासिक व्यक्ति न माना जाए? दूसरे, उनका स्वतन्त्र अस्तित्व वैदिक तथा हिन्दु पौराणिक साहित्य से भी सिद्ध है। जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है वह काल उत्तरीभारत में वैदिक सभ्यता के चरमोत्कर्ष का था। यज्ञादि में ही नहीं, विवाहादि उत्सवों के अवसर खान पान के लिए भी विपुल पशुहिंसा होती थी। अपने विवाह के उपलक्ष में वैसी हिंसा का आयोजन देख ब्रह्मचारी कुमार नेमिनाथ को वैराग्य हो गया, जूनागढ़ (श्वसुरालय) के निकट विवाह का संकल्प त्याग घर छोड़ गिरनार पर्वत पर जाकर तपश्चरण करने लगे। केवलज्ञान प्राप्त कर जनता में अहिंसा धर्म का प्रचार किया, मध्यभारत एवं दक्षिणपथ में जैनधर्म का पुनरुद्धार किया। और उस प्रान्त में उस समय से जैनधर्म अस्खलित रूप में ईस्वी सन् की 6ठी 7वीं शताब्दी तक तो सारे ही दक्षिण में तथा कुछ एक प्रान्तों में 13वीं 14वीं शताब्दी तक प्रधानरूप से चलता रहा। इस प्रान्त (कच्छ) में कुछ काल तक तो जैनधर्म प्रधान यदुवंश का राज्य चला तदुपरान्त पार्श्वनाथ के समय पाटल (सिन्ध) के नागों का आधिपत्य हो गया। तदुपरान्त सिन्धु सौवीर के व्रात्य, तथा मालवे के मल्ल व्रात्यों का अधिकार रहा। मौर्य राजाओं ने अपनी विजयपताका उस प्रान्त तक पहुँचा दी थी। किन्तु मौर्यो के पश्चात् सिन्धु की ओर से आने वाले शक छत्रपों का यहाँ राज्य रहा। कुछ काल आन्ध्रों के आधीन यह देश रहा। अन्त में सोलंकियों के समय इसका विशेष उत्कर्ष हुआ। इस प्रान्त में महाभारत के समय से लगाकर 15वीं 16वीं शताब्दी ईस्वी तक जैनधर्म की प्रधानता बनी रही। अनेक जैन तीर्थ विपुल जैन पुरातत्व इस प्रान्त में हैं। अनेक विद्वान् दिगम्बर श्वेताम्बर जैनाचार्यो ने इस प्रान्त में विशाल जैन-साहित्य का निर्माण किया। आज भी वहाँ जैनों की संख्या पर्याप्त और उनकी समृद्धि सर्वाधिक है।

पाढ़ अर्थात् पांड्य सुदूर दक्षिण का प्रसिद्ध तामिल राज्य था। अति प्राचीनकाल से इस अनार्य राज्य की स्थिति थी, जैनधर्म की प्रवृत्ति भी इस राज्य में प्राचीनतम काल से चली आती थी। महावीर काल में यह राज्य समस्त तामिल प्रान्त में सर्वोपरि था, चेर, चोल, केरलपुत्र, सत्यपुत्र, आदि

अन्य तामिल राज्य तथा लंका आदि द्वीप इसके आधीन थे और ईस्वी सन् के प्रारंभ तक वैसे ही चलते रहे। पांड्य राज्य की राजधानी मदुरा दक्षिण में जैनों का सबसे बड़ा केन्द्र था तामिल के प्रसिद्ध संगम साहित्य का अधिकांश जैन पांड्य राजाओं की छत्रछाया में प्रकॉड विद्वानों द्वारा ही निर्मित हुआ था। जैन मौर्यसम्राट तथा कलिङ्ग नरेश जैन खारवेल से पांड्य नरेशों का मैत्री संबंध था। लंका आदि द्वीपों में भी ई. पूर्व की छठी शताबदी के स्तूप आदि जैन अवशेष मिले हैं। अशोक के समय से लंका में अवश्य ही बौद्ध धर्म का प्रचार होना प्रारंभ हो गया, किन्तु तामिल राज्यों में सन् ई. 6ठी 7वीं शताब्दी तक जैनधर्म की प्रवृत्ति रही। उसके उपरान्त शैव तथा वैष्णव धर्मो के नवप्रचार के कारण तथा तत्संबंधित राज्यवंशों के धर्म परिवर्तन के कारण जैनधर्म की प्रगति को आघात पहुँचा और वहाँ उसका ह्रास प्रारंभ हो गया।

लाढ़ मध्योत्तर दक्षिण भारत का राज्य था। यहॉ महावीरकाल में राष्ट्रिक, भोजक, आन्ध्र आदि अनार्य राज्यों की सत्ता थी। उसके पूर्व वहाँ यक्ष, विद्याध ार आदि जैन अनार्य राज्य थे, ई. पू. प्रथम शताबदी में ही आन्ध्र राज्य सर्वोपरि हो गया और उसने अन्य पड़ौसी सत्ताओं को अपने में गर्भित कर साम्राज्य का रूप ले लिया। ये सर्व राज्य और इनकी प्रजा अधिकतर अन्त तक व्रात्य संस्कृति की पालक और जैनधर्मानुयायी ही रही।

आबाह पश्चिमोत्तर प्रान्त था। बौद्ध अनुश्रुति के गांधार, कम्बोज और जैन अनुश्रुति के तक्षशिला तथा उरगयन नामक नाग गणराज्यों का यह एक संघ था। ये नाग लोग वैदिक आर्य-संस्कृति के विरोधी और व्रात्य-संस्कृति के पोषक थे।

सम्भुत्तर महाजनपद मध्य पञ्जाब का प्रसिद्ध व्रात्य क्षत्रियों का राज्य था। सैन्धवान के साम्भव लोग भगवान संभवनाथ (3रें तीर्थकर, जिनका चिन्हविशेष 'अश्व' था) के अनुयायी थे। इस राज्य की सत्ता सिकन्दर महान के आक्रमण के समय भी थी। सिकन्दर ने भडङ्कर युद्ध के पश्चात् इस राज्य पर एक अस्थायी विजय प्राप्त की थी[14]।

पूर्व का वज्जिसंघ तो व्रात्य क्षत्रियों का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। महावीर

काल में इसके नायक वैशाली के राजा चेटक थे। वज्जिसंघ के ही अन्तर्गत कुंडलपुर के ज्ञातृवंशी लिच्छवि-नरेश सिद्धार्थ के ही पुत्र भगवान महावीर थे। वैशाली के राजा चेटक उनके नाना थे। चेटक की एक कन्या मगधराज श्रेणिक को, दूसरी वत्सराज उदयन को और तीसरी कोशल के राज्य वंश में वियाही थी। इन सर्व राज्यों, गणों और वहां की जनता पर भगवान महावीर का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा था, वे सब उनके परमभक्त अनुयायी थे। यह वज्जिसंघ गणतन्त्र का आदर्श था।

नवोदित मगध साम्राज्य की साम्राज्याभिलिप्सा के कारण वज्जिसंघ और मगधराज्य में द्वन्द चलता रहा, अंत में अजातशत्रु ने वैशाली विजय कर वज्जिसंघ को छिन्न-भिन्न कर दिया, किन्तु भले ही गौण रूप में, लिच्छवियों का अस्तित्व सन् ई. 6-7वीं शताब्दी तक बना रहा।

मल्ल भी वज्जिसंघ की ही एक पड़ौसी व्रात्य जाति का गणतन्त्र था। पावा इनका प्रधान नगर था। वहीं भगवान महावीर का निर्वाण हुआ।

काशी के संबंध में ऊपर कहा ही जा चुका है। भगवान महावीर के जन्म के पूर्व ही वह कोशलराज्य में सम्मिलित हो गया था। अजातशत्रु ने कौशल से उसे छीनकर मगध में मिला लिया था।

कौशल में प्राचीन सूर्यवंशी राजों का ही राज्य चला आता था, महावीर काल में वहां का राजा प्रसिद्ध प्रसेनजित था, जो भगवान महावीर का भक्त था। उसके उपरान्त कोशल भी मगध-राज्य में सम्मिलित हो गया।

दक्षिण में ईस्वी सन् के प्रारंभकाल से ही अनेक राज्य-नाग, पल्लव, गङ्ग, चालुक्य, होयसल, राष्ट्रकूट आदि स्थापित होने लगे थे। उन सबमें ही प्रारंभ से जैनधर्म की ही प्रवृत्ति रही। किन्तु सन् ई. 5वीं शताब्दी के उपरान्त शैव वैष्णव धर्मो के बढ़ते हुए प्रचार के आगे तत्संबंधी राज्यवंशों के आगे पीछे धर्मपरिवर्तन के कारण धीरे धीरे वहाँ जैनधर्म का ह्रास होता चला गया। तथापि मध्य युग के मध्य तक दक्षिण प्रान्त में जैन धर्म की ही सर्वाधिक प्रधानता रही।

इस प्रकार भारतीय इतिहास के प्राचीन युग में महाभारत के उपरान्त उत्तरभारत में लगभग 3री शताब्दी ई. तक तथा कितने ही प्रान्तों में 13वीं 14वीं शताब्दी ईस्वी तक जैनधर्म की ही प्रधानता रही, राज्यवंशों, प्रसिद्ध राजाओं तथा जनसाधारण सभी की दृष्टि से।

इस सांस्कृतिक प्रधानता का परिणाम भी प्रत्यक्ष हुआ। वैदिक संस्कृति तथा उससे उद्भूत पौराणिक धर्मो से याज्ञिक हिंसा सदैव के लिये विदा ले गई। खानपान में सुरा और मांस का यदि नितान्त लोप नहीं हो गया तो वह घृणित और त्याज्य अवश्य समझे जाने लगे। बौद्धों ने जीव हिंसा का तो विरोध किया किन्तु मांस मदिरा के भक्षणपान का समर्थन और प्रचार करने में कोई कसर नहीं की तथापि जैनधर्म के ही प्रभाव से वह वस्तुएँ अभक्ष्य ही हो गई।

जुआ, पशुयुद्ध, स्त्रीपुरुष के बीच धार्मिक बंधन की शिथिलता, तजन्य व्यभिचार एवं विषयाधिक्य आदि आर्यो और बौद्धों के प्रिय व्यसन कुव्यसन कहलाने लगे। अनेकान्त दृष्टि के प्रचार से धार्मिक उदारता सहिष्णुता, मतस्वातन्त्र्य आदि को पुष्टि मिली। जाति और कुल धर्मसाधन में बाधक नहीं रहे। आत्मवाद ने जड़वाद का बहिष्कार कर दिया। और कर्मसिद्धान्त ने दैव के ऊपर भरोसा कर हाथ पर हाथ रख बैठ रहना भुला दिया। देव-पूजा और भक्ति के द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर इहलौकिक फल की प्राप्ति के प्रयत्न के स्थान में आत्मसाधना करना सिखाया। जड़वाद का स्थान अध्यात्मवाद ने ले लिया, रूढ़िवाद का युक्तिवाद और विवेक ने। ज्ञान, भक्ति और सदाचार की त्रिवेणी बहा दी।

इसके अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, तामिल, तैलेगु, कन्नड़, हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि विभिन्न भाषाओं में विविध विषयक विपुल सुन्दर एवं उच्च कोटि का साहित्य जैनविद्वानों द्वारा जैन राजाओं और श्रेष्टियों के प्रोत्साहन से जितना और जैसा इस जैनयुग में रचा गया अन्य किसी दूसरे युग में किसी दूसरी संस्कृति द्वारा नहीं। तत्वज्ञान, दर्शन, आचारशास्त्र, इतिहास, नीति, समाजशास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष, गणित, मन्त्रशास्त्र, न्यायशास्त्र, कथा-साहित्य,

काव्य, नाटक, चम्पु, तर्क, छन्द, अलङ्कार, व्याकरण, संगीत, शिल्पशास्त्र—स्यात् ही कोई विषय ऐसा बचा हो जिस पर जैनविद्वानों ने सफलतापूर्वक कलम चला कर भारती के भंडार को समृद्ध एवं अलंकृत न किया हो। स्थापत्य, मूर्त्ति, चित्र, नाटक, संगीत, काव्य सर्व प्रकार की ललित कलाओं में जैनों ने नायकत्व किया। इस सबके प्रमाण उपलब्ध जैनसाहित्य और पुरातत्व में पर्याप्त मिलते हैं।

भाषाओं और लिपि के विकास में सर्वाधिक भाग जैनों ने ही लिया और इसी जैनयुग में। ब्राह्मीलिपिका आविष्कार कहा जाता है भगवान ऋषभदेव ने किया था, किन्तु वह हमारे युग से पूर्व की बात है, तथापि ब्राह्मी लिपि का सर्व-प्रथम उपयोग अधिकतर जैनों द्वारा ही हुआ मिलता है। मोहनजोदड़ो के मुद्रालेखों के अतिरिक्त ई. पूर्व 5वीं शताब्दी का बड़ली अभिलेख, मौर्यकालीन गुइभिलेख, शिलाभिलेख, स्तंभ लेखादि, खारबेल के अभिलेख, गुजरात यथा दक्षिण के अभिलेख इसके साक्षी हैं। देश के कोने कोने में और प्रधान एवं महत्वपूर्ण स्थानों में जैनतीर्थ उसी प्राचीन काल ले चले आते हैं। ब्राह्मी से नागरी लिपि का विकास जैन विद्वानों द्वारा ही हुआ। स्थापत्य-कला की नागरशैली के अधिष्ठाता भी वही थे। चित्रकला का शुद्ध भारतीय प्रारंभ भी इन्होंने किया। स्तूप, गुफायें, चैत्य, मन्दिर, मूर्ति इत्यादि के प्रथम जन्मदाता इस जैन युग के जैन ही थे।

समाज व्यवस्था तथा आधुनिक जातियों की पूर्वज व्यवसायिक श्रेणियों और निगमों का संगठन एवं निर्माण जैन युग में जैन नीतिशास्त्र के आचार्यो तथा जैन गृहस्थ व्यवसायियों द्वारा ही हुआ।

जैन व्यापारियों तथा श्रमणाचार्यो द्वारा भारत का प्रकाश भारतेतर देशों तक फैला, वृहद् भारत के निर्माण में इनका पूरा पूरा हाथ था।

देश के कोने कोने में उस युग सम्बन्धी जैन स्मारक आज भी उपलब्ध हैं, और चाहे अल्प अल्प संख्या में ही हो देश के प्रत्येक भाग में जैनों का अस्तित्व है।

वास्तव में बौद्धधर्म की स्थिति तो उस युग में जहाँ तक भारतवर्ष का

संबंध है प्रायः नगण्य ही थी। गौतमबुद्ध का स्वयं तत्कालीन राज्य-वंशो पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, उनके जीवनकाल में ही उनके पिता का राज्य, राजधानी तथा शाक्यवंश प्रायः नष्ट हो गया था। सिकन्दर और मेगस्थनीज के समय बौद्ध सम्प्रदाय कुछ एक "झगड़ालु व्यक्तियों" का सामान्य सा सम्प्रदाय मात्र था। अशोक के समय तक बौद्ध तीर्थो पर राज्य की ओर से यात्री कर लगा हुआ था[15]। इस सम्प्रदाय के प्रति शासन की कठोरता और उपेक्षा के कारण उस समय के बौद्धधर्माध्यक्ष तिस्मने बौद्धभिक्षुओं को देशान्तर में सो भी उज्जड़ु, असभ्य सुदूर प्रदेशों में जाकर निवास करने और धर्म प्रचार करने की आज्ञा दी। इस देश में तो मात्र कुछ कट्टर बौद्धभिक्षुओं ने जैसे तैसे अपना अस्तित्व बनाये रखा और जब जब राज्यक्रान्तियों अथवा सामाजिक उथल-पुथल के कारण उन्हें सुयोग मिला, उन्होंने अपना धार्मिक स्वार्थसाधन किया, किन्तु विशेष सफल फिर भी न हो सके और इसी युग में सन् ई. 7वीं 8वीं शताब्दी तक इस देश से उनका नाम शेष हो गया। सीमान्त प्रदेशों में तथा बाह्यदेशों मे अवश्य ही वह शक, हूण, मङ्गांल आदि विदेशी आक्रान्ताओं को प्रभावित कर अपनी शक्ति बढ़ाने के प्रयत्न में लगे रहे। सिंहल, पूर्वाभिद्वीपसमूह, स्वर्ण-द्वीप (मलाया), ब्रह्मा, चीन, जापान, तिब्बत मङ्गोलिया आदि में अवश्य ही अत्याधिक सफल हुए, ठीक उसी तरह जैसे 15वीं 16वीं शताब्दि में इंग्लैण्ड से बहिष्कृत, राज्य और प्रजा दोनों द्वारा पीड़ित थोड़े से धर्मयात्री (Pilgrim Enthers) आज अमरीका जैसा महाशक्तिशाली राष्ट्र निर्माण करने में सफल हो गये।

जैनों की आज की राजनैतिक, सामाजिक स्थिति, अल्प संख्या, अपने महत्व को स्वयं न समझने तथा अपने प्राचीन साहित्य के अमूल्य रत्नों को प्रकाशित न कर ताले में बन्द भंडारों में कीड़ों का ग्रास बनाने, पुरातत्वसंबंधी अमूल्य निधि को न पहचानने और जानने का यत्न न करने आदि से उनके इस युग में प्राप्त महत्व तथा प्रधानता का अनुमान करना तनिक कठिन है। किन्तु निष्पक्ष इतिहास प्रेमी को अब भी इस लेख में विवेचित तथ्यों की साक्षी में पर्याप्त प्रबल प्रमाण मिल सकते हैं और मिलते हैं। किसी जाति की वर्तमान हीन अवस्था से यह निष्कर्ष निकालना कि यह

सदैव से वैसी ही रही होगी युक्तियुक्त नहीं है। महात्मा ईसा के पश्चात् भी कई सौ वर्ष पर्यन्त क्या युरोप में इसाइयों की वहीं अवस्था थी जो आज है? हजरत महम्मद के बहुत पीछे तक क्या मुसलमानों की संख्या और प्रभुत्व उतना था, जितना कि पीछे हो गया?

विद्याधर, ऋक्ष, यक्ष, नाग आदि वह अनार्य जातियां जिनकी उच्च नागरिक सभ्यता ने नवागत वैदिक आर्यो को चकाचौंध कर दिया था आज कहां हैं? मोहनजोदड़ो सभ्यता के संरक्षकों का क्या आज कहीं कोई अस्तित्त्व है?

अस्तु, भारतवर्ष के इतिहास का प्राचीनयुग, कम से कम उसका बहुभाग जैन संस्कृति की प्रधानता एवं प्रभुत्व का युग था, राजा-प्रजा अधिकांश देशवासी जैनधर्मानुयायी थे। सभ्यता के विविध अङ्गों की पुष्टि और वृद्धि विविधवर्गीय जैनों ने उस युग में की थी। उस युग में लगी जैन संस्कृति की भारतीय समाज पर अमिट छाप आज भी लक्षित की जा सकती है। भारतीय सभ्यता को ही नहीं विश्व सभ्यता को उस युग में जैन संस्कृति ने अमूल्य भेंट प्रदान की है। उस युग में निर्मित विविध विषयक जैन साहित्य तथा कलात्मक रचनाएँ भारत की राष्ट्रीय निधि के अमूल्य रत्न हैं।

अतः वह युग यदि किसी सांस्कृतिक नाम से पुकारा जा सकता है तो वह जैन संस्कृति के नाम से ही। भारतीय इतिहास का वह लगभग 2000 वर्ष का युग सच्चा यथार्थ जैनयुग था, न बौद्ध न हिन्दु।

सन्दर्भ

1 Pre-Historic India P C Mitra, P 106, 2 Pargitor-Anci altIndian Historical tradition, Dr K. P Jayaswal, handarkar & c.

2 Studies in South Indian Jainism Pt. I P 12, by M S Rama Swami Ayangar & B Sheshagiri Rao & Introto Heart of Jainism P XIV—Mrs Sinclair

3 भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ 286 जयचन्द विद्या तथा A Political History of Ancient India P. 16–Dr H Ray Choudhry.

4 Political History of Ancient India P 47–Dr. H C Raychoudhry

5 Intro to Jaina Bibliography–Dr Guerinor, Camb History of India (The History of the Jain) fol I, P 152-160, Intro to Uthradyayan P 21–Charpenter

6 भा इ की रूपरेखा पृ 287–जयचन्द्र विद्यालङ्कार।

7 Political Hist of Ancient India P 46–Dr H C Raychoudhry and भगवतीसूत्र

8 Kharvel's Inscriptions in the Orissa Caves

9 Ancient India P 27–by Dr T L Shah

10 Early Hist of India–V Smith, Asoka P 13–Dr R K Mukerjeee, etc

11 Dr H Jacobi–Intro to Jain Sutras P 62

12 The Early Faith of Asoka–Dr E, Thomas

13 Kharvel's Inscriptions of the Orissa Caves

14 Ancient India Its invasion by Alexander the Great–Mc. crindle

15 यह कर अशोक ने माफ किया बताया जाता है– देखो अशोक के गौण शिलालेख।

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेमसि रज्जदि।
जेण मेत्ती पभावेज्ज तण्णाणं जिणसासणे।।

– 'जिसके कारण राग-द्वेष-काम-क्रोधादिक से विरक्तता प्राप्त हो, जिसके प्रताप से यह जीव अपने कल्याण के मार्ग में लग जाय और जिसके प्रभाव से सर्व प्राणियों में इसका मैत्री भाव व्याप्त हो जाए वही ज्ञान जिनशासन को मान्य अथवा उसके द्वारा अभिवंदनीय है।'

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक	:	मूल जैन-संस्कृति : अपरिग्रह
लेखक	:	पं. पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक	:	वीर सेवा मन्दिर, 21 अनसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
पृष्ठ	:	48
संस्करण	:	तीसरा
मूल्य	:	स्वाध्याय

पुस्तक का 2005 में प्रकाशित तीसरा संस्करण हमारे हाथ में है। लेखक बहुश्रुत विद्वान् तथा दिगम्बर जैन आम्नाय के प्रति निष्ठावान् हैं। उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द से लेकर पश्चात्वर्ती अनेक महान् मनीषी आचार्यो के धवला आदि अनेक ग्रन्थों का आलोडन, मन्थन करके सिद्ध किया है कि जैन-संस्कृति अपरिग्रहमूलक है। पाँच व्रतों में सबसे महत्त्वपूर्ण सर्वोच्च व्रत अपरिग्रह ही जैनधर्म या संस्कृति की पहचान या लक्षण है। पॉच व्रतों के क्रम में अपरिग्रह पाँचवा अवश्य है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वह गौण या निम्नस्तर पर है। इसे यों भी समझ सकते हैं कि प्राथमिक शाला का छात्र धीरे-धीरे ऊपर उठकर अंतिम सीढ़ी पर पहुँचता है, सर्वोच्च उपाधि ग्रहण करता है, तो प्राथमिकता अपने आप गौण या अनुपयोगी हो जाती है। इस प्रकार जैन संस्कृति या दिगम्बरत्व का मूल आधार सम्पूर्णतया अकिंचन स्थिति तक का अपरिग्रह ही है और वही उसका लक्षण या चिन्ह है।

आगम सम्मत गाथाओं तथा सूत्रों के अनुसार विद्वान् लेखक ने यह भी स्पष्ट किया है कि पापों या दोषों से विरति ही व्रत है। अहिंसा-सत्य-अचौर्य-शील का व्रत कैसे लिया जा सकता है? ये तो सामाजिक जीवन तथा सदाचार के नैतिक मूल्य हैं जो व्यक्ति की शक्ति, सामर्थ्य, भावना तथा संस्कारों पर निर्भर

हैं। अतः हिंसा आदि पापों से विरत होना ही व्रत है और सुसंगत है। व्रत ग्रहण करने की परम्परा या धारणा शास्त्र सम्मत प्रतीत नहीं होती। दस धर्म, बारह भावनाएँ, सप्त व्यसनों का त्याग, सुभाषित, उपदेश आदि के विधान तो नैतिक अर्थात् सामाजिक सदाचार परक हैं।

यह भी ध्यान में रखने की बात है कि अहिंसा-सत्य आदि धर्म तो हैं, पर सिद्धान्त नहीं हैं—व्यक्ति और समष्टि सापेक्ष ही हैं। देश-काल-भाव-परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनशील हैं। लेखक ने सभी प्रकार की साधनाओं तथा क्रियाओं का मूल केन्द्र अपरिग्रह ही तर्कशुद्ध शैली में प्रतिपादित किया है।

जब जैन संस्कृति का मूल आधार अपरिग्रह है, तब अपरिग्रह को एक किनारे रखकर परिग्रह के प्रति इतना अधिक आकर्षण और लगाव कैसे बढ़ता गया? और सुख भोग की दृष्टि से अहिंसा आदि नैतिक गुणों को परमधर्म मानकर संग्रह प्रियता को पुण्य का परिणाम मान लिया गया? लेखक कहते हैं "हमारी भूल रही है कि हम अन्य व्रत आदि क्रियाओं को जैनत्व का रूप देने में आसक्त रहे हैं और अपरिग्रह की आसक्ति से नाता तोड़े हुए हैं।... वर्तमान में अहिंसा-सत्य-अचौर्य और ब्रह्मचर्य की जैसी धुंधली परिपाटी प्रचलित है, उसमें यदि सुधार आ जाए तो लौकिक मानव बना जा सकता है।"

तप-त्याग एवं अपरिग्रह की अवधारणा निवृत्तिमूलक चिन्तन की देन है। प्रवृत्ति-निवृत्ति, निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार, आत्मा-अनात्मा, सम्यक्-मिथ्या, कर्म-अकर्म, शुद्ध-अशुद्ध, सत्य-मिथ्या आदि के द्वन्द्वों से हमें दार्शनिकों तथा चिन्तनशील मनीषियों ने बौद्धिक व्यायाम द्वारा उलझन में या असमंजस में डाल दिया है। परिणाम ये है कि सत्ता-सम्पत्ति और शस्त्र की आकांक्षा और होड़ तो बढ़ गयी, पर हमारा मानस संवदेन शून्य हो गया मानवीय निष्ठा लुप्त हो गयी और संग्रह के बल पर 'समाज और देश' व जाति सम्प्रदाय, धर्म, अध्यात्म, भाषा, क्रियाकांड आदि के घेरों में अंह को पुष्ट करते हुए ऐसा सिद्धान्त गढ़ लिया कि संसार में सारा सुख-दुःख कर्माधीन है। कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता सब क्रमबद्ध पर्याय के अनुसार भोगना पड़ता है।

सर्वज्ञवाद ने तो हमारी प्रगति ही अवरुद्ध कर दी! मै सोचता हूँ कि क्या कभी किसी तीर्थंकर तथागत या अवतार ने कहा था कि मेरे बाद ऐसा कोई नहीं होगा? और क्या वे स्वयं अपने आपको सर्वज्ञाता कह सकते थे? पर यदि हम अपनी बुद्धि और विचारशक्ति को ग्रंथों में आबद्ध कर लें तो विकास कैसे संभव है?

यह सही है कि बहुश्रुत लेखक ने धर्मनिष्ठा तथा सत्यनिष्ठा के आधार पर अपने विचार प्रकट किये हैं, किन्तु वे यह भी जानते हैं कि आज विश्व की अनेक मुखी परिस्थितियों ने इतनी करवट ले ली है कि भारत में सोया हुआ व्यक्ति अमेरिका में करवट बदलकर जागता है। सारा विश्व समृद्धि और शक्ति-संचय की ओर दौड़ रहा है। सुदूर ग्रहों पर भी सत्तासीन होने के प्रयास चल रहे हैं। धर्म, सिद्धान्त और परम्पराएँ विज्ञान की खोजों और उपलब्धियों के आगे महत्त्वहीन या अनुपयोगी साबित हो रही हैं। अध्यात्मक तथा तप-त्याग की, कायक्लेश की साधना में रत साधुवर्ग भी मन ही मन आकांक्षी है कि स्वर्ग का सुख भोगने को मिले! विज्ञान की खोजों ने हमारे सारे सिद्धान्तों पर पुनर्विचार करने की प्रेरणा दी है। स्वर्ग-मोक्ष, कर्म-सिद्धान्त, आयुर्विज्ञान सब बीते युग की बातें रह गयी हैं।

यह माना कि अपरिग्रह या आंकिचन्य की अवधारणा व्यक्ति के आत्मकल्याण की दृष्टि से, सन्तोष धारण करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, पर क्या इससे राष्ट्रीय समृद्धि और शक्ति में सहायता मिल सकती है? 'छोड़ सकल जग दंद-फंद निज आतम ध्यावो' के उपदेश को आज किस आसन पर बैठा सकते हैं। मनुष्य आज जिस विश्व में सांस ले रहा है, उसके सपने दूसरे ही है। हमें सोचना होगा कि आखिर इन त्यागपूर्ण उपदेशों और आचार-विचारों के कारण देश की गरीबी, आंकाक्षा, बेकारी, अस्वास्थ्य में विगत हजारों वर्षो में कितनी कमी आयी? और क्या आ सकती है। कहीं न कहीं हमारी समाज रचना में, धर्म चिन्तन में चूक रही है। हमें ग्रंथ, पंथ और संत की घेरे बंदी से बाहर निकलकर अपनी स्वायत्त बुद्धि निष्ठा का उपयोग करना ही होगा। अध्यात्म को समाज सेवा परक रूप देना होगा।

पुस्तक छोटी सी है, विचार प्रेरणा दायी हैं, संस्कृति के मूल तत्व को समझने मे सहायक है। लेकिन यदि वे सीधी-सरल भाषा में अपने विचार रखते तो आम पाठक को अधिक सुविधा होती। मैं ऐसे दो चार वाक्य या अंश उद्धृत कर सकता था, जो कि मेरी समझ मे भी नहीं आ रहे थे। सरल भाषा का अपना महत्त्व है, यह सभी जानते है। प्रिय भाई डा. कमलेशकुमार के द्वारा पुस्तक पढ़ने को मिली, अतः यह लिखने का श्रेय उन्हीं को जाता है।

समीक्षक —जमनालाल जैन
सारनाथ (वाराणसी)

स्वदोष-शान्त्या विहिताऽऽत्मशान्तिः
शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम्।
भूयाद्भव-क्लेश-भयोपशान्त्यै
शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः।।

— 'जिन्होंने अपने दोषों की शान्ति करके अर्थात् पूर्ण निवृत्ति करके पूर्ण सुखस्वरूपा स्वाभाविक स्थिति प्राप्त की है, और (इसलिये) जो शरणगतों के लिये शान्ति के विधाता हैं वे भगवान शान्तिजिन मेरे शरण्य हैं—शरणभूत हैं। अतः मेरे संसार परिभ्रमण की, क्लेशों की और भयों की उपशान्ति के लिये निमित्तभूत होवें।'

आदर्श सम्पादक : श्री अजित प्रसाद

— संजीव 'ललित'

पलकों से तूफान उठाया जा सकता है।
मौन रहके भी शोर मचाया जा सकता है।।

पत्रकारिता के माध्यम से समाज जागृति की मौन क्रांति का शंखनाद करने वाले **'शोधादर्श'** के सम्पादक **श्री अजित प्रसाद** जी अब हमारे बीच नहीं रहे यह विचार केवल उन लोगों का हो सकता है जो उन्हें औदारिक शरीर मात्र से जानते थे। मेरे अनुसार वे अब भी हैं और उनके द्वारा धर्म प्रभावना, समाज *जागृति के लिए दिए गए विचारों से वह सदैव यशस्वी शरीर से जीवित रहेंगे।*

1 जनवरी 1918 को मेरठ में बाबू पारसदास जी के घर जन्मे श्री अजित प्रसाद जी ने संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य की अभूतपूर्व सेवा की है। आप 1938 में उ. प्र. की लोक सेवा आयोग द्वारा प्रथम बैच में सचिवालय सेवा परीक्षा में उत्तीर्ण हुए।

आपके अग्रज भ्राता इतिहास मनीषी डॉ. ज्योति प्रसाद जैन की वात्सल्य पूर्ण शिक्षा ने आपके पत्रकारिता के गुणों को विकसित करने में उर्वरक का काम किया। जिससे आप एक सुलझे हुए पत्रकार बन गये। डॉ. ज्योतिप्रसाद जी के पश्चात् 'शोधादर्श' पत्रिका को आपने अपनी लगन, कठिन परिश्रम एवं सेवाभाव से आज तक नामानुरूप शोध के लिए आदर्श बनाए रखा। सम्पूर्ण साहित्यक क्षेत्र व जैन समाज आपकी इस सेवा से चिरकाल गौरवान्वित एवं लाभान्वित हुआ है। पत्रिका के सम्पादन दायित्व को बखूबी निभाते हुए अनुसंधान के नए-नए आयाम खोजना आपकी विशेषता रही।

अपने विचारों की तर्क पूर्ण एवं आगम के परिप्रेक्ष्य में विवेचना आप जिस निर्भयता से करते रहे वैसे निर्भीक, सजग सम्पादक अब समाज में उंगलियों

पर गिनने लायक बचे हैं। आपने मान-अपमान आदि की परवाह न करते हुए समाज मार्ग च्युत न हो जाए इसके लिए अंतिम श्वास तक प्रयत्न किया।

मैंने अजित प्रसाद जी को साक्षात देखा तो नहीं पर पं. पद्मचन्द्र जी शास्त्री एवं श्री महावीर प्रसाद जी सर्राफ 'शाकाहार प्रचारक' को लिखे गए उनके पत्र पढ़ने का सौभाग्य मुझे गत वर्षो से मिलता रहा है। वीर सेवा मंदिर में कार्यरत होने से श्री अजितप्रसाद जी के पत्र पंडित पद्मचन्द्र जी को पढ़कर सुनाता रहा हूँ तथा श्री महावीर प्रसाद जी भी आपका पत्र आने पर दूरभाष या पत्र के माध्यम से सूचित कर देते थे। आपने पंडित पद्मचन्द्र जी के अनेकान्त 55/3 में छपे 'भरतक्षेत्र के सीमन्धर आचार्य कुन्दकुन्द' लेख की समीक्षा करते हुए पत्र में लिखा था कि—

"आपने सीमन्धर शब्द की व्याख्या एवं श्री कुन्दकुन्द के विदेह गमन की अनुश्रुति का खंडन बड़े सुन्दर ढंग से किया है। पर मेरी मान्यता है कि कुन्दकुन्द पद्मनन्दि से भिन्न आचार्य थे।" आपके पत्रों में विशेषता यह रहती थी कि आप अपने एवं जिसको पत्र लिखा है उसके बारे में बहुत कम लिखकर दिगम्बर आगम के साथ हो रही अवमानना एवं समाज के जैनत्व से गिरते स्तर पर चिंता एवं उसके समाधान को विस्तार से लिखते थे। इन सब अनुभवों एवं शोधादर्श में छपी उनकीं टिप्पणियों के पढ़ने पर मैं दृढ़ता से लिख सकता हूँ कि वे तर्क पूर्ण मनीषा के स्वामी थे, वे उच्चारण से उच्च आचरण को अधिक महत्त्व देते थे, धर्म के नाम पर कोरी आडम्बरता उन्हें पसन्द नहीं थी, सत्य के उद्भावन से उन्होंने कभी समझौता नहीं किया।

श्री अजित प्रसाद जी के लेखों के कुछ अंशो का उद्धरण मैं यहाँ अनेकान्त के पाठकों को इस आशा से दे रहा हूँ कि जिन पाठकों ने श्री अजित प्रसादजी को देखा, सुना, पढ़ा नहीं है वह भी उनके बहुआयामी व्यक्तित्व से परिचित होकर उनके विचारों का लाभ अवश्य उठाऐंगे।

आप एक सफल पत्रकार रहे हैं— 20 अप्रैल 03 को नई दिल्ली में अहिंसा इंटरनेशनल द्वारा प्रेमचन्द जैन पत्रकारिता पुरस्कार प्राप्त करते हुए उन्होंने

अपने हृदय की वेदना व्यक्त करते हुए पत्रकार एवं पत्रिका के विषय में भाषण दिया था। आपने खेद के साथ कहा कि इस समय सम्पूर्ण जैन समाज में लगभग 200 पत्रिकायें छपती हैं अकेले दिगम्बर जैन समाज में छपने वाली पत्रिकाओं की संख्या लगभग 100 है। पर विचारिए पत्रिका की परिभाषा–"उत्तरदायित्व, अपनी स्वतंत्रता, सभी दबाबों से परे रहना, सत्यता प्रकट करना, निष्पक्षता, समान व्यवहार एवं समान आचरण" की कसौटी पर आज की कितनी पत्रिकायें खरीं उतर सकती हैं। हमारे कितने पत्रकार, लेखक भाई पत्रकारिता के इन कर्तव्यों का निर्वाह कर पा रहे हैं। अधिकांश पत्रिकायें तो व्यक्ति या पक्ष विशेष की प्रशंसाओं से ही भरी रहती हैं।

श्री अजित प्रसाद जी जैन दर्शन, जैन सिद्धान्त के अच्छे जानकार थे। जैन दर्शन के जानकार होने से ही आपकी लेखनी केवल सामाजिक विषयों तक सीमित न होकर दर्शन क्षेत्र के गूढ़ रहस्योदघाटन में भी सफल रही। शोधादर्श के नवम्बर 2001 के अंक में आपने पार्श्वगिरि पर आचार्य प्रतिमाओं की स्थापना के समाचार मिलने पर लिखा था कि– आचार्यो/मुनियों की तदाकार प्रतिमाओं की विधिवत् प्राण-प्रतिष्ठा कर जिन मंदिर में विराजमान करना बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध की ही देन है। इन साधु प्रतिमाओं की प्राण-प्रतिष्ठा के क्या अर्थ हैं, हम जैसे अल्पज्ञों की सामान्य बुद्धि के लिए अगम्य है।

शोधादर्श नवम्बर 2002 के सम्पादकीय–'मंगलम् पुष्पदंताद्यो, जैन धर्मोस्तु मंगलम्' में आपके व्यंगात्मक शैली में लिखे गए सजग दूरदर्शी विचार सभ्य समाज की रक्षा के लिए सजग प्रहरी के समान हैं। मार्च 2002 के अंक में आपने विद्वत् परिषद के विखराव की व्यथा भी लिखी थी। आप धर्म परायण थे अतः आप आगम के मूल रूप में छद्म परिवर्तन करने वालों से समाज को सजग करने का अपना कर्तव्य आखिर तक निर्वहन करते रहे।

श्री अजित प्रसाद जी सच्चे मुनि भक्त थे। आप केवल आगमानुकूल चर्यारत गुरुओं के प्रति अनन्य श्रद्धा रखते थे। आपकी स्पष्ट मान्यता थी कि समाज सुधार धर्मगुरुओं के माध्यम से ही हो सकता है। समाज सुधार में धर्मगुरुओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो लेख में आपने लिखा है कि– आज

अकेले दिगम्बर जैन आम्नाय में पिच्छीधारी धर्मगुरुओ/गुरुणियों की संख्या 500 के लगभग होगी तथा उनके अकेले चातुर्मास काल पर ही समाज का अरबों व्यय हो जाता है। हमें धर्म प्रभावना के नाम से किए गए किसी भी आयोजन पर कोई आपत्ति नही है, यद्यपि वैभवपूर्ण प्रदर्शनों से समाज का कोई भला नहीं होता। वृहद् क्रिया काण्ड भी जैन धर्म की मूल भावना से मेल नहीं खाते।

हमारे धर्मगुरू/गुरुणियां जिनके प्रति समाज में अत्यन्त श्रद्धा व सम्मान है कुछ समाज सुधार की ओर भी ध्यान दें तो उनका समाज पर स्थायी उपकार रहेगा। जैसा कुछ मुनि श्रावकों को दिन में विवाह करवाने, विवाह में अपव्यय न करने, दहेज कुप्रथा का विरोध करने आदि का उपदेश अपने प्रवचनों में देकर कर रहे हैं।

प्रकाण्ड तर्कणा शक्ति के धनी श्री अजित प्रसाद जी का जीवन सादा एवं सरल था। वे दिखावे में विश्वास नहीं रखते थे। आपने देश, समाज से अल्प लेकर बहुत अधिक दिया है। आप उत्तम कोटि के पुरुष थे। कविवर बुधजन की ये पंक्तियां आप पर बिल्कुल सटीक बैठती हैं–

अलप थकी फल दे घना, उत्तम पुरुष सुभाय।
दूध झरै तृण को चरै, ज्यों गोकुल की गाय।।

आपने शोधादर्श जुलाई 2004 के अंक में 'मेरी अन्तिम अभिलाषा' शीर्षक से लिखा है– "मेरी एक ही अन्तिम अभिलाषा है। मैंने अपने धर्म और समाज से बहुत कुछ सीखा और पाया है। उनके उपकार से मैं कभी उऋण नहीं हो सकता। मेरी यही एक अभिलाषा है कि जिनेन्द्र देव की अनुकम्पा से मुझमें इतनी शक्ति बनी रहे कि मै अन्तिम श्वास तक धर्म व समाज की कुछ न कुछ सेवा कर सकूं तथा यदि मेरे किसी सुकृत्य के फलस्वरूप मुझे पुनः नरभव प्राप्त हो तो मेरा जन्म जैन धर्म व जैन समाज में ही हो।"

श्री अजित प्रसाद जी जैसे व्यक्तित्व को खोना जैन समाज से अमूल्य रत्न छिन जाना है। आपने जीवनकाल में साहित्य एवं समाज की जो अनवरत सेवा

की है उससे साहित्य वर्ग एवं समाज वर्ग कभी उऋण नहीं हो सकता। समाज पत्रिकाओं में उनके स्वर्गवास पर खेद प्रकट करने तक अपनी श्रद्धांजलि सीमित न रखे वरन उनके द्वारा साहित्य के क्षेत्र में दिए गए योगदान को प्रकाशित करवाकर ही इतने बड़े व्यक्तित्व को एक छोटी सी श्रद्धांजलि दे सकता है। समाज की ओर से यही एक सच्ची श्रद्धांजलि होगी जिससे आने वाली पीढ़ी उनके व्यक्तित्व एवं वृहद् कृतित्व से प्रेरणा ले सकेगी।

वीर सेवा मंदिर से प्रकाशित 'अनेकान्त' पत्रिका में भी आपके तथ्यपरक आगम सम्मत दार्शनिक एंव पुरातात्त्विक लेख छपते रहे हैं। आपके कठिन परिश्रम एवं निर्भीकता से लिखे गए यह लेख शोध विद्यार्थियों एवं दर्शन, पुरातत्त्व के जिज्ञासुओं को दिशाबोध प्रदान करने वाले हैं।

वीर सेवा मंदिर परिवार इस महान् व्यक्तित्व के दिवंगत होने पर स्तब्ध है। श्री अजित प्रसाद जी द्वारा जैन धर्म, जैन समाज को दिए गए योगदान को नमन करता है। आशा है कि श्री रमाकान्त जी, श्री शशिकान्त जी आपके द्वारा किए गए कार्यों को गति प्रदान करेंगे।

सहायक विद्वान-वीर सेवा मंदिर
4674/21 दरियागंज, नई दिल्ली-110002

विद्वान् की आवश्यकता

वीर सेवा मंदिर (जैन दर्शन शोध संस्थान), 21, दरियागंज, नई दिल्ली-2 को एक विद्वान् की आवश्यकता है जिन्हें संस्कृत व प्राकृत भाषा का ज्ञान हो और जैन दर्शन के शोध में रुचि हो।

आवास, बिजली, पानी की सुविधा और सम्मानजनक मानदेय।

सम्पर्क करें– दूरभाष-011-23250522

–सुभाष जैन, महासचिव
फोन : 23271818

वीर सेवा मंदिर
21, दरियागंज, नई दिल्ली-2

7055

58/3-4

अनेकान्त

बाहुबली
महामस्तकाभिषेक-2006
विशेषांक

विकसित नील कमल दल सम
हैं जिनके सुन्दर नेत्र विशाल
शरदचन्द्र शरमाता जिनकी
निरख शांत छवि, उन्नत भाल
चम्पक पुष्प लजाता लख कर
ललित नासिका सुषमा धाम
विश्ववंद्य उन गोम्मटेश प्रति
शत-शत बार विनम्र प्रणाम

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में-

कहाँ/क्या ?

1	सम्पादकीय		2
2	बाहुबली प्रतिमा की पृष्ठभूमि	– श्री लक्ष्मीचन्द्र सरोज	7
3	विन्ध्यगिरी पर खड़े गोम्मटेश बाहुबली डग भरने को ?	– डॉ बी डी जैन	14
4	बाहुबली स्तवन	– आचार्य जिनसेन स्वामी	33
5	श्रवणबेलगोला के अभिलेखों में दान परम्परा	– डॉ. जगबीर कौशिक	35
6	श्रवणबेलगोला के अभिलेखों में वर्णित बैंकिग प्रणाली	– डॉ विशनस्वरूप रुस्तगी	46
7	जन-जन की श्रद्धा के प्रतीक भगवान् गोम्मटेश	– श्री सुमत प्रसाद जैन 'जैन विद्या-वारिधि'	53
8.	जैन संस्कृति एवं साहित्य के विकास में दक्षिण भारत का योगदान	– रमा कान्त जैन	97
9	जैन बद्री (श्रवणबेलगोला)	– 'जैन बद्री के बाहुबली' से साभार	103
10	कटवप्र : एक अप्रतिम समाधि स्थल	– प्रा. नरेन्द्र प्रकाश जैन	115
11	श्रुतकेवली भद्रबाहु और उनका समाधिमरण	– डॉ. श्रेयास कुमार जैन	118
12.	वीरवर चामुण्डराय	– डॉ श्रेयास कुमार जैन	129
13	गोम्मट-मूर्ति की कुण्डली	– ज्योतिषाचार्य गोबिन्द पै	138
14	पाठकीय विचार	– डॉ. अनिल कुमार जैन	146

वर्ष 58 किरण 3-4
जुलाई-दिसम्बर 2005

सम्पादक
डॉ जयकुमार जैन
429, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
फोन (0131) 2603730

सह सम्पादक
संजीव जैन

परामर्शदाता :
पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

संस्था की
आजीवन सदस्यता
1100/-
वार्षिक शुल्क
30/-
इस अंक का मूल्य
10/-
सदस्यों व मंदिरों के
लिए निःशुल्क

प्रकाशक :
भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक :
मास्टर प्रिन्टर्स, दिल्ली-32

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हो।

वीर सेवा मंदिर
(जैन दर्शन शोध संस्थान)
21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अंतर्गत आयकर में छूट

(रजि. आर 10591/62)

गोम्मटेस-थुदि

(1) विसट्ट - कंदोट्ट - दलाणुयारं, सुलोयणं चंद-समाण-तुण्डं।
घोणाजियं चम्पय-पुष्फसोहं, तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं।

(2) अच्छाय-सच्छं जलकंत-गंडं, आबाहु-दोलंत सुकण्णपासं।
गइंद-सुण्डुज्जल-बाहुदण्डं, तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं।।

(3) सुकण्ठ-सोहा-जियदिव्वसंखं, हिमालयुद्दाम-विसाल-कंधं।
सुपेक्ख-णिज्जायल-सुट्ठुमज्झं, तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं।।

(4) विज्झायलग्गे-पविभासमाणं, सिहामणि सव्व-सुचेदियाणं।
तिलोय-संतोलय-पुण्णचंदं, तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं।।

(5) लयासमक्कंत - महासरीरं, भव्वावलीलद्ध - सुकप्परुक्खं।
देविंदविंदच्चिय पायपोम्मं, तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं।।

(6) दिर्दंबरो यो ण च भीइ जुत्तो, ण चांबरे सत्तमणो विसुद्धो।
सप्पादि-जंतुप्फुसदो ण कंपो, तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं।।

(7) आसां ण सो पेक्खदि सच्छदिट्ठि, सोक्खे ण बंछा हयदोसमूलं।
विरायभावं भरहे विसल्लं, तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं।।

(8) उपाहिमुत्तं धण-धाम-वज्जियं, सुसम्मजुत्तं मय - मोहहारयं।
वस्सेय पज्जंतमुववास - जुत्तं, तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं।।

—आचार्य नेमिचन्द्र 'सिद्धान्त चक्रवर्ती'

सम्पादकीय

तीर्थकर ऋषभदेव इस हुण्डावसर्पिणी काल में प्रथम राजा, प्रथम केवली तथा प्रथम तीर्थकर थे। ऋषभदेव जब युवा हुए तो पिता नाभिराय ने इन्द्र की सम्मति से कच्छ एवं महाकच्छ महाराज की बहनें यशस्वती और सुनन्दा से उनका विवाह करा दिया। ऋषभदेव को रानी यशस्वती से भरत आदि निन्यानवे पुत्र एवं ब्राह्मी नामक पुत्री की प्राप्ति हुई तथा दूसरी रानी सुनन्दा से बाहुबली नामक पुत्र एवं सुन्दरी नामक पुत्री की प्राप्ति हुई। राजा ऋषभदेव ने ब्राह्मी एवं सुन्दरी को क्रमशः अंकविद्या एवं लिपिविद्या का ज्ञान कराया तथा पुत्रों को सर्वविद्याओं का ज्ञान कराया। राज्य करते हुए राजा ऋषभदेव का समय सुखमय बीत रहा था कि नृत्यांगना नीलांजना की नृत्य-काल में मृत्यु तथा इन्द्र द्वारा पुनः वैसी ही नृत्यांगना उपस्थित करने के छल को उन्होंने आत्मबोध माना। उनके हृदय में यहीं से वैराग्य का अंकुरण होने लगा। उन्होंने विचार किया–

'कूटनाटकमेतत्तु प्रयुक्तममरेशिना।
नूनमस्मत्प्रबोधाय स्मृतिमाधाय धीमता।।'

(आदिपुराण, 17/38)

राजा ऋषभदेव ने राज्यावस्था में ही अपने पुत्रों को यथायोग्य राज्य प्रदान कर दिया था। उन्होंने भरत को अयोध्या का और बाहुबली को पोदनपुर (तक्षशिला) का राजा प्रदान किया था। भरत चक्रवर्ती थे और बाहुबली कामदेव। चक्रवर्ती होने से भरत ने भूमण्डल की दिग्विजय यात्रा की। दिग्विजय यात्रा के समापन पर जब चक्ररत्न अयोध्या के बाहर ही रुक गया तब विशिष्ट ज्ञानियों ने बताया कि जब तक सभी भाई आपकी आधीनता स्वीकार नहीं कर लेंगें तब तक दिग्विजय यात्रा पूरी नहीं समझी जा सकती है। इसी कारण चक्ररत्न अवरुद्ध हो गया है। भरत ने सभी भाईयों के पास अपनी आधीनता-विषयक सन्देश भेजा। बाहुबली को छोड़

अन्य सभी भाई समस्या का हल पूछने भगवान् ऋषभदेव के पास गये। भगवान् के उपदेश से उन्होंने दिगम्बर दीक्षा धारण करली और आत्मकल्याण का मार्ग अपना लिया।

बाहुबली भरत के आधीनता-विषयक सन्देश से आन्दोलित हो उठे। भरत ने बाहुबली के समीप निःसृष्टार्थ दूत भेजा, किन्तु उसके साम, दाम, दण्ड, भेद रूप सभी प्रयास असफल हो गये। बाहुबली ने भरत की आधीनता यह कहकर स्वीकार नहीं की कि भरत अपने पूज्य पिताजी द्वारा दी गई हमारी पृथिवी को छीनना चाहता है। बाहुबली विचार करने लगे–

'वरं वनाधिवासोऽपि वरं प्राणविसर्जनम्।
कुलाभिमानिनः पुंसो न पराज्ञाविधेयता।।'

(आदिपुराण, 35/118)

परिणामस्वरूप दोनों ओर से सेनाये युद्धक्षेत्र में सन्नद्ध हो गई। दोनों पक्ष के चतुर मन्त्रियों ने विचार किया कि दोनों ही भाई चरमशरीरी हैं। अतः इनका तो कुछ बिगड़ेगा नही। व्यर्थ में दोनों ही पक्ष की सेना का घात होगा। मन्त्रियों के परामर्श से सैन्ययुद्ध का परिहार हो गया। भरत और बाहुबली के मध्य जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और बाहुयुद्ध हुआ। इन तीनों युद्धों में बाहुबली विजेता रहे। भरत अत्यन्त लज्जित हुए और उन्होंने बाहुबली पर देवोपनीत चक्र चला दिया। देवोपनीत चक्र अपने कुटुम्बियों पर प्रभावी नहीं होता है। अतः चक्र ने बाहुबली की परिक्रमा की और वह निस्तेज होकर बाहुबली के समीप ही ठहर गया।

बाहुबली सोचने लगे कि साम्राज्य फल रूप में दुःखदायी ही है। मण्डलराजा एवं प्रजाजन भी भरत को धिक्कारने लगे। बाहुबली को वैराग्य उत्पन्न हो गया। वे भरत से कहने लगे–

'प्रेयसीयं तवैवास्तु राज्यश्रीर्या त्वयादृता।
नौचितैषा ममायुष्मन् बन्धो न हि सतां मुदे।।'

(आदिपुराण, 36/97)

बाहुबली ने अविनय के लिए भरत से क्षमायाचना की। भरत भी अपने किये अकार्य पर पश्चाताप करने लगा। दृढ़निश्चयी बाहुबली को भरत की अनुनय-विनय डिगा न सकी और उन्होंने राज्य त्यागकर दिगम्बर मुनि-दीक्षा ग्रहण कर ली। वाहुबली ध्यानस्थ हो गये। उन्होंने एक वर्ष तक एक ही स्थान पर प्रतिमायोग धारण किया। उनके कंधों तक केश लटकने लगे। सर्प उन पर लिपट गये और उन्होंने वामी बना ली। लतायें उनके अविचल शरीर पर चढ़ गईं। ऐसी तीव्र तपस्या करने पर भी उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। क्योंकि उनके मन में यह विकल्प मौजूद रहा कि मैं भरत की भूमि पर खड़ा हूँ।

बाहुबली का जैसे ही एक वर्ष का प्रतिमायोग समाप्त हुआ तो चक्रवर्ती भरत ने उनकी पूजा की। पूजा करते ही बाहुबली को अविनाशी केवलज्ञान प्राप्त हो गया। आचार्य जिनसेन ने लिखा है कि बाहुबली के मन में यह विचार विद्यमान था कि भरत को मेरे निमित्त से कष्ट पहुँचा है। इसी कारण केवलज्ञान को भरत की पूजा की अपेक्षा थी। उन्होने लिखा है–

'संक्लिष्टो भरताधीशः सोऽस्मत्त इति यत्किल।
हृद्यस्य हार्दं तेनासीत् तत्पूजापेक्षि केवलम्।।'

(आदिपुराण, 36/186)

बाहुबली को केवलज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भरत ने पुनः बडी भारी पूजा की। पहले जो पूजा की थी वह तो अपने अपराध के प्रायश्चित के लिए थी। भगवान् बाहुबली की स्तुति करते हुए आदिपुराण (36/212) में कहा गया है कि जिन बाहुबली ने अन्तरंग और बहिरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है, बड़े-बड़े योगिराज ही जिनकी महिमा जान सकते है, जो पूज्य पुरुषों के द्वारा भी पूजनीय हैं ऐसे योगिराज बाहुबली को जो अपने हृदय में धारण करता है, उसकी अन्तरात्मा शान्त हो जाती है तथा वह शीघ्र ही मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है।

भगवान् बाहुबली चरमशरीरी प्रथम कामदेव थे, जिनकी ध्यानस्थ काल

की श्रीक्षेत्र श्रवणबेलगोला में 57 फीट ऊँची पर्वत शिलाखण्ड में निर्मित अतिशयकारी मूर्ति है। इस मूर्ति को चैत्र शुक्ल पंचमी विक्रम संवत् 1038 में गुरुवार के दिन चामुण्डराय के अनुरोध पर शिल्पियों ने परिपूर्णता प्रदान की थी। 57 फीट की मूर्ति की संरचना का भी एक रहस्य है। संवर के कारण 3 गुप्तियॉं, 5 समितियॉं, 10 धर्म, 12 अनुप्रेक्षायें, 22 परीषहजय और 5 महाव्रत रूप चारित्र हैं। कदाचित् संवर के 57 कारणों को ध्यान में रखकर ही चामुण्डराय ने इसे 57 फीट की बनवाने का निर्देश दिया हो।

गोम्मटेश बाहुबली की इस मूर्ति का जब प्रथम अभिषेक राजा-महाराजाओं, मन्त्री-सेनापति आदि ने किया तो कहा जाता है कि उनके अभिषेक की पयोधारा कटिप्रदेश तक ही आ पाती थी। सब आश्चर्यचकित थे। पता चला कि एक गुल्लिका अज्जी गुल्लिका में दुग्ध लेकर भगवान् का अभिषेक करना चाहती है। किसी तरह जब उसे अनुमति मिल गई और उसने अभिषेक किया तो लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। भावविशुद्धि के कारण उसके गुल्लिकाभर दुग्ध से पूरी प्रतिमा का अभिषेक हो गया तथा बहने वाली धारा से नीचे कल्याणी सरोवर भी लबालब भर गया। इससे प्रभावित होकर चामुण्डराय ने गुल्लिका अज्जी की मूर्ति भी मुख्य द्वार पर स्थापित करा दी। गुल्लिका अज्जी अमर हो गई।

6 फरवरी, से 19 फरवरी 2006 तक श्रीक्षेत्र श्रवणबेलगोला में विराजमान विश्वविख्यात भगवान् गोम्मटेश बाहुबली की इस अतिशयकारी पावन प्रतिमा का बारह वर्ष के पश्चात् महामस्तकाभिषेक सम्पन्न होने जा रहा है। इस आयोजन की तैयारियॉं लगभग पूरी हो चुकी हैं। इस अवसर पर अनेकान्त का यह संयुक्तांक विशेषांक के रूप में समर्पित करते हुए हमें अलौकिक आनन्द एव असीमित आत्मतोष हो रहा है। गुल्लिका अज्जी की तरह यदि हमारे भावों में विशुद्धि हो, उसके दुग्ध के समान यदि अभिषेक में प्रयोज्यमान द्रव्यों की शुद्धि हो तो निश्चित ही हम भी महामस्तकाभिषेक के फल से सफल हो सकते हैं।

हमें आशा है कि गत महामस्तकाभिषेकों की तरह इस महामस्तिकाभिषेक मे श्रीदेश-विदेश विशेषकर उत्तर भारत के हजारों लाखों की संख्या में समाज के स्त्री-पुरुष भी सम्मिलित होकर भगवान् बाहुबली के प्रति अपनी श्रद्धा व भक्ति व्यक्त कर वुपभ लाभ लेंगें। हमें प्रसन्नता है कि भारत के महामहिम राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम ने 22 जनवरी 2006 को स्वयं उपस्थित होकर भगवान् बाहुबली की इस अनुपम प्रतिमा को राष्ट्र की ओर से अपने श्रद्धा सुमन समर्पित किये। डॉ. कलाम शुद्ध शाकाहारी हैं। यह हम सभी का सौभाग्य है कि देश को ऐसा राष्ट्रपति मिला। हम अपने राष्ट्रपति जी के धर्ममय दीर्घ जीवन की कामना करते हैं।

28 दिसम्बर 2005 से 1 जनवरी 2006 तक श्रीक्षेत्र श्रवणबेलगोला में सारस्वत मनीपियों का एक विशाल सम्मेलन परमपूज्य आचार्य श्री वर्धमानसागर जी महाराज (ससंघ), अन्य आचार्यो, उपाध्यायश्री एवं मुनियों के पावन सान्निध्य में तथा स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्तिजी के कुशल नेतृत्व में सम्पन्न हो चुका है। इसमें कतिपय प्रथमदृष्ट नव्यों से लेकर शताधिक बहुश्रुत लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् मनीषियों ने अपनी सहभागिता से इसकी गरिमा बढ़ाई। स्वस्तिश्री भट्टारक जी विद्वानों की अच्छी व्यवस्था के लिए सतत् विचारशील रहे किन्तु आयोजकों की कदाचित् किसी विशिष्ट समस्या के कारण समागत विद्वान् परेशानियों का अनुभव करते रहे। हम आशा करते हैं कि भविष्य के आयोजन निरापद तथा और अधिक गरिमापूर्ण होंगे।

–जय कुमार जैन

बाहुबली प्रतिमा की पृष्ठभूमि

–लक्ष्मीचन्द्र सरोज

श्रवणबेलगोला के बाहुबली

जिस प्रतिमा ने एक सहस्र बसन्त, एक सहस्र हेमन्त, एक सहस्र ग्रीष्म, एक सहस्र शरद और एक सहस्र शिशिर काल देखे तथा मध्ययुग में सहस्र जीवन-संघर्ष उत्थान पतन, सुख-दुख मूलक परिसर-परिवेश देखे, उस पुनीत प्रतिमा को आचार्य नेमीचन्द्र 'सिद्धान्त चक्रवर्ती' के सान्निध्य में सेनापति और अमात्य चामुण्डराय ने सन् 981 में स्थापित किया था और इस पावन प्रतिमा का इक्कीसवीं शताब्दी का प्रथम महामस्तकाभिषेक महोत्सव 8 फरवरी 2006 से 19 फरवरी 2006 पर्यंत अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मनाया जा रहा है।

संघर्ष-आक्रमण-विग्रह, संस्कृति-जन्म-जीवन-मरण देखते और लेखते हुए महामानव भगवान् बाहुबली की जीवन्त प्रतिमा अदम्य उत्साहपूर्वक आज भी गौरव से मस्तक उन्नत किए खड़ी है, अपनी ऐतिहासिकता, पावनता, तप-त्याग, वीतरागता और विराटता की प्रतीक बनी है।

जिस प्रकार बाहुबली की प्रतिमा वास्तु कला में अप्रतिम है उसी प्रकार बाहुबली अपने मानवीय जीवन में भी अप्रतिम थे। उनका बल, उनका भोग, उनका ध्यान, उनका योग उनकी स्वतन्त्रता, उनका स्वाभिमान, उनका केवलज्ञान, उनका मोक्ष-प्रस्थान उनका सारा जीवन ही अप्रतिम था। वे जैसे पहले कामदेव थे वैसे सर्वप्रथम मोक्षगामी भी थे। विस्मय की बात तो यह है कि तीर्थंकर नहीं होकर भी वे तीर्थंकर से पहले मोक्ष गये। वे अपने पिता श्री ऋषभदेव या महाप्रभु आदिनाथ, जो इस युग के सर्वप्रथम तीर्थंकर थे, उनसे भी पहले मोक्ष चले गए।

बाहुबली में क्या गुण थे? प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर में यह प्रश्न पूछना ही समुचित समाधान कारक होगा कि बाहुबली में क्या-क्या गुण नहीं थे? अर्थात् वे सभी पुरुषोचित सद्गुणों से सम्पन्न व्यक्ति थे। उनके विषय में तो यह भी जनश्रुति है कि प्रव्रज्या के उपरान्त और मोक्ष के प्रस्थान तक उन्होंने एक ग्रास आहार भी ग्रहण नहीं किया। उनकी अद्वितीय क्षमता को देखकर लगता है कि जैसे उनमें सभी मानवों का साहस पुंजीभूत हो गया हो। बाहुबली का जीवन और चरित्र यथानाम, तथागुण; का केन्द्रबिन्दु है।

बाहुबली की प्रतिमा के विषय में सुप्रसिद्ध मूर्तिकार मूलचन्द्र रामचन्द्र नाहटा ने अभिमत दिया–एक सहस्र वर्ष से भी अधिक प्राचीन प्रतिमायें सहस्रों की संख्या में आजकल उपलब्ध हैं जिनके दर्शन और पूजन करने के लिए हम तीर्थ क्षेत्रों पर जाते हैं परन्तु उनमें वह सौन्दर्य, वह कला नहीं है, जो श्रवणबेलगोला के बाहुवली की प्रतिमा में है। शिल्पकला की दृष्टि में यह प्रतिमा अद्वितीय और अप्रतिम, अप्रतिद्वन्दी और अजातशत्रु है।

प्रतिमा की रूपरेखा :

मैसूर संस्थान के चीफ कमिशनर मि. बोरिंग ने स्वयं मापकर प्रतिमा की ऊँचाई 57 फीट बतलाई। प्रतिमा के अवयवों का संक्षिप्त विवरण सप्रमाण निम्नलिखित है–

प्रमाण	फुट	इंच	मीटर
चरण से कर्ण के अधोभाग तक	50	–	15.25
कर्ण के अधोभाग से मस्तक तक	6	6	2.00
चरण की लम्बाई	9	–	2.75
चरण की अग्रभाग की चौड़ाई	4	6	1.37
चरण का अँगूठा	2	9	0.84
पाद-पृष्ठ के ऊपर की गोलाई	6	4	1.93

जांघ की ऊपरी आधी गोलाई	10	–	3.05
नितम्ब से कान तक	24	6	7.47
रीढ़ की अस्थि अधोभाग से कर्ण तक	20	–	6.01
नाभि के नीचे उदर की चौड़ाई	13	–	3.96
कटि और टेहुनी से कान तक	17	–	5.18
बाहुमूल से कान तक	7	–	2.14
तर्जनी उँगली की लम्बाई	3	6	1.067
मध्यमा उँगली की लम्बाई	5	3	1.06
अनामिका की लम्बाई	4	7	1.04
कनिष्ठका की लम्बाई	2	8	0.81
गरदन के नीचे भाग से कान तक	2	6	0.76
मूर्ति की कुल ऊँचाई	57	–	17.385

गोम्मटेश्वर द्वार की बाई ओर जो शिलालेख है, वह सन् 1090 का है, उसमें कन्नड़ कवि पं. वोप्पण ने मूर्ति की महिमा का प्रतिपादक एक काव्य लिखा है, जिसका हिन्दी भाषा में सरल अनुवाद निम्नलिखित है–

जब मूर्ति आकार में बहुत ऊँची और बड़ी होती है तब उसमें प्रायः सौन्दर्य का अभाव रहता है। यदि मूर्ति बड़ी हुई और सौन्दर्य भी हुआ तो उसमें दैवी चमत्कार होना असम्भव लगता है परन्तु गोम्मटेश्वर (कामदेव और चामुण्डराय के देवता) बाहुबली की मूर्ति ऊँची-बड़ी सुन्दर साश्चर्य-चमत्कारिणी है। दूसरे शब्दों में 57 फुट ऊँची होने से बड़ी है, सौन्दर्य में अद्वितीय है और दैवी चमत्कार-सम्पन्न है, अतएव यह प्रतिबिम्ब-सम्पूर्ण विश्व के व्यक्तियों द्वारा दर्शनीय और पूजनीय है। इस तथ्य को समझ कर ही शायद कर्नाटक सरकार ने श्रवणबेलगोला को पर्यटन-स्थल बनाया।

बाहुबली की निरावरणता :

दिगम्बर जैन मूर्तियों की निरावरणता के रहस्य को जो लोग नहीं समझते हैं, वे नग्नता के साथ अपनी अश्लील भावनायें भी जोड़ लेते हैं। शिवव्रतलाल वर्मन सदृश अन्य लोग भी चाहें तो दिगम्बर जैन मंदिर में जाकर 'छवि वीतरागी नग्न मुद्रा दृष्टि नासा पै धरैं' तुल्य प्रतिमा के दर्शन करके भूल सुधार सकते हैं। हिन्दी वाङ्मय के सुप्रसिद्ध साहित्यकार जैनेन्द्रकुमार के शब्दों में सूर्य सत्य तो यह है कि मनुष्य जब आता है तब वस्त्र साथ नहीं लाता है और जब जाता है तब भी वस्त्र साथ नहीं ले जाता है। वस्त्रों का उपयोग जन्म से मरण के मध्य सामाजिक जीवन के लिए ही है। निर्विकार होने से साधुजन निर्वस्त्र भी रह सकते हैं इसलिए दिगम्बर साधुओं सदृश परम हँस और मादर जात फकीर भी होते रहे हैं।

भगवान् बाहुबली ने निरावरण होकर, वस्त्राभूषण त्यागी होकर पुनीत साधना की थी और जब बाहर सदृश भीतर से भी निरावरण राग-द्वेष रहित हुए तब ही उन्हें केवलज्ञान की महामणि मिली और मुक्ति श्री भी। उनकी प्रतिमा भी एक सहस्राब्दी से निरावरण ध्यानस्थ वीतराग मुद्रा में खड़ी है और पुरुषों को ही नहीं बल्कि पशु-पक्षियों को भी दिव्य शान्ति का सन्देश दे रही है। बाहुबली की प्रतिमा की निरावरणता से प्रभावित होकर अब तो जैनेतर विद्वान् भी दिगम्बरता के प्रति द्वेष भाव को छोड़कर परम प्रीति को प्राप्त होने लगे हैं।

भगवान् बाहुबली की निरावरणता को लक्ष्य कर भारत के सुप्रसिद्ध साहित्यकार काका कालेलकर ने अतीव मर्मस्पर्शी हृदयोद्गार व्यक्त किये हैं, जो अक्षरशः अविकल माननीय हैं–

"सांसारिक शिष्टाचार में फँसे हुए हम मूर्ति की ओर देखते ही सोचने लगते हैं कि यह नग्न है। क्या नग्नता वास्तव में हेय है? अत्यन्त अशोभन है? यदि ऐसा होता तो प्रकृति को भी इसके लिए लज्जा आती। फूल नंगे रहते हैं। प्रकृति के साथ जिनकी एकता बनी हुई है, वे शिशु भी नंगे रहते हैं। उनकी अपनी नग्नता में लज्जा नहीं लगती।"

मूर्ति में कुछ भी बीभत्स जुगुप्सित अशोभन अनुचित लगता है, ऐसा किसी भी दर्शक मनुष्य का अनुभव नहीं है। कारण नग्नता एक प्राकृतिक स्थिति है। मनुष्य ने विकारों को आत्मसात करते-करते अपने मन को इतना अधिक विकृत कर लिया कि स्वभाव से सुन्दर नग्नता उससे सहन नहीं होती। दोष नग्नता का नहीं कृत्रिम जीवन का है। बीमार मनुष्य के आगे फल, पौष्टिक मेवे या सात्विक आहार भी स्वतन्त्रता पूर्वक नहीं रखा जा सकता। दोष खाद्य पदार्थ का नहीं, बीमार की बीमारी का है। यदि हम नग्नता को छिपाते हैं तो नग्नता के दोष के कारण नहीं बल्कि अपने मानसिक रोग के कारण। नग्नता छिपाने में नग्नता की सुरक्षा नहीं लज्जा ही है।

जैसे बालक के सामने नराधम भी शान्त पवित्र हो जाता है वैसे ही पुण्यात्माओं-वीतरागों के सम्मुख मनुष्य भी शान्त गम्भीर हो जाता है। जहाँ भव्यता और दिव्यता है वहाँ मनुष्य विनम्र होकर शुद्ध हो जाता है। मूर्तिकार चाहते तो माधवी लता की एक शाखा को लिंग के ऊपर से कमर तक ले जाते और नग्नता को ढकना असम्भव नहीं होता पर तब तो बाहुबली भी स्वयं अपने जीवन-दर्शन के प्रति विद्रोह करते प्रतीत होते। जब निरावरणता ही उन्हें पवित्र करती है तब दूसरा आवरण उनके लिए किस काम का है?

निष्कर्ष यह निकला कि निर्विकार श्रवण की नग्नता निन्दा योग्य नहीं है बल्कि विकारग्रस्त समाज की अश्लीलता मूलक नग्नता ही अतीव निन्दनीय है, संशोधन योग्य है।

बाहुबली की योग साधना :

प्रथम मुनि और प्रथम तीर्थकर महाप्रभु आदिनाथ ने छह माह के लिए प्रतिमा-योग धारण किया था पर उनके द्वितीय पुत्र बाहुबली ने एक वर्ष के लिए प्रतिमायोग स्वीकार किया। इसके पहले भरत सम्राट ने छह खण्ड पृथ्वी जीत कर जो कीर्ति उपार्जित की, जिससे वे चक्रवर्ती कहलाए, ऐसे भरतेश्वर

की विजयलक्ष्मी दैदीप्यमान चक्रमूर्ति के बहाने बाहुबलि के समीप आई परन्तु बाहुबलि ने उसे तृणवत समझ कर छोड़ दिया। भरत के चक्र चलाने का कारण यह था कि बाहुबली दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध, और मल्लयुद्ध में विजित हो चुके थे और उनके चक्र ने बाहुबली का बाल बांका भी नहीं किया था।

बाहुबली योग-साधना में लीन हैं। एक स्थान एक आसन पर खड़े रहने का नियम लिए हैं। न आहार है न बिहार और न निहार, न निद्रा है और न तन्द्रा, केवल ज्ञान और ध्यान है। एक से अधिक माह यों ही बीते। समीप का स्थान वन-वल्लरियों से व्याप्त हो गया, उनके चरणों के समीप सर्पो ने वामियां बना लीं। वामियों से सर्पो के बच्चे निकलते रहे, उनके लम्बे-लम्बे केश कन्धों तक लटकते रहे, फूली हुई बासन्ती लता अपनी शाखा रूपी भुजाओं से उनका आलिंगन कर रही है।

बाहुबली महान् अध्यात्म योगी हैं। इन्होंने शरीर से आत्मा को पृथक् समझ लिया है। ये अपनी आत्मा को अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्यमय देख रहे हैं। अनन्त गुणों के पुंजस्वरूप अपनी आत्मा का श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी में तन्मयरूप चारित्र, यों ये भी निश्चय रत्नत्रय रूप से परिणमन कर शुद्धोपयोग में लीन हो रहे पर कालान्तर में कभी उत्कृष्टतम शुभोपयोगी भी हो जाते हैं। इन्होंने ध्यान और तपश्चरण के बल से मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय चार ज्ञान प्राप्त कर लिए। चूंकि ये तपस्यामूलक श्रम से अणु भर भी मन में खेद खिन्न नहीं हैं अतएव आत्मिक आह्लाद की उज्जवल झलक इनके सुमुख पर है।

शरीर पर लतायें चढ़ गई। सर्पो ने वामियां बना लीं। विरोधी वनचर प्रशान्त होकर विचरण करते रहे। बाहुबली सुमेरु सदृश सुदृढ़ ही रहे और निष्कम्प प्रतिमा योग धारण किए हैं और अब पूर्णतया केवलज्ञानी हो गये हैं इसलिए चक्रवर्ती भरत उनकी प्रशंसा कर रहे हैं–

"आपकी एकाग्रता, आपका धैर्य धन्य है। आपने आहारादि सञ्ज्ञाओं सदृश क्रोधादि चार कषायों को ही नहीं जीता बल्कि चार घातिया कर्मो

को भी जीत लिया और अनन्तदर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य के धनी हो गए।"

स्वर्ग के देवता और मर्त्यलोक के मनुष्य स्तुति कर रहे हैं–

"आपने जैसा ध्यान किया वैसा ध्यान भला कौन कर सकता, ध्यान-चक्रवर्ती योगीश्वर बाहुबली तृतीय काल में जन्मे, जीवन जिया, जीवन्मुक्त हुये और मुक्ति श्री का वरण भी किया।" यद्यपि भगवान् बाहुबली तीर्थकर नहीं थे तथापि उनकी प्रतिमाएँ, कारकल, मूढ़बिद्री, वादामि पर्वत संग्रहालय बंबई, जूनागढ़ खजुराहो, लखनऊ, देवगढ़, तिलहरी, फिरोजाबाद, हस्तिनापुर, एलोरा आदि में हैं। यह उनके अप्रतिम त्याग और अद्भुत तपश्चरण का ही प्रभाव है जो आज भी उनकी मूर्ति की स्थापना से दिगम्बरत्व गौरवान्वित हो रहा है।

महाश्रमण गोम्मटेश्वर बाहुबली की दिगम्बर मूर्ति युग-युग तक असंख्य प्राणियों को सुख और शान्ति, सन्तोष और समृद्धि बन्धन और मुक्ति, भोग और योग, स्वतन्त्रता और स्वामिभान का सन्देश देती रहेगी और सृष्टि को शिव का मार्ग प्रदर्शित करती रहेगी तथा अतीत की भाँति आज भी अपने चरित्र और चारित्र को पुनरावलोकन करने हेतु प्रेरणा देती है।

जब तक सूर्य और चन्द्र प्रकाश देते हैं, सरितायें बहती हैं, सरोवर लहराते हैं, समुद्र उद्वेलित होते हैं तब तक भारतीय संस्कृति की ज्वलन्त उदाहरण जैसी गोम्मटेश्वर बाहुबली की प्रतिमा का पूजन-अर्चना करते हुये भक्तजन त्रैविद्यदेव नेमीचन्द्र 'सिद्धान्त चक्रवर्ती' के स्वर में मिला कर कहते रहेंगे–

परम दिगम्बर ईतिभीति से रहित विशुद्धि बिहारी।
नाग समूहों से आवृत फिर भी स्थिर मुद्रा धारी।।
निर्भय निर्विकल्प प्रतिमायोगी की छवि मन लाऊँ।
गोमटेश के श्रीचरणों में बारम्बार झुक जाऊँ।।

–22, बजाजखाना, जाबरा (म. प्र.)

व्यक्तियों के मस्तिष्क में वस्त्र रहित होना भद्देपन का सूचक हो सकता है, किंतु नग्नता तो बालकों जैसी निश्छलता और पवित्रता का प्रतीक है। वस्त्र उतारने में वासना की बू आ सकती है किंतु नग्न रहना पूर्ण त्याग और अपरिग्रह का द्योतक है। पूर्ण अपरिग्रह (अंतरंग और बहिरंग) दिगम्बर जैन दर्शन, संस्कृति तथा जीवन शैली का प्रतिबिम्ब है। कायोत्सर्ग में स्थित गोम्मटेश बाहुबली का यह बिम्ब ध्यानारूढ़ अवस्था में आत्मावलोकन की उस स्थिति में है जहाँ उन्हें अपने शरीर का भान ही समाप्त हो गया है। बेलें शरीर के ऊपर चढ़ गयी हैं। छोटे-छोटे जीव-जन्तुओं ने अपने बिल बना लिए हैं। फिर भी भगवान् अडिग, निश्चल, शरीर से बाहर होने वाली गतिविधियों से अनभिज्ञ आत्मचिंतन में स्थित परम पुरूषार्थ की साधना में निमग्न हैं। हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्री आनन्द प्रकाश जैन ने तो अपने उपन्यास "तन से लिपटी बेल" में यहाँ तक कल्पना कर डाली कि –बाहुबली को अर्न्तमन से समर्पित वैजन्यती नरेश की पुत्री राजनन्दिनी को जैसे ही यह पता लगा कि महाराज भरत को चक्रवर्ती पद देकर विजेता बाहुबली ने वैराग्य ले लिया है, वह बन्धु बान्धवों सभी को छोड़कर पागलों की तरह भटकती हुई बाहुबली तक जा पहुँची जहाँ वे एकाग्रमुद्रा में ध्यानावस्थित, सीधे खड़े, आँखें बंद किए मुनि साधना में लीन थे। वह उनकी आँखें खुलने की प्रतीक्षा में उनके चरणों में आसन लगा कर बैठ गई और समय के साथ-साथ वह भी अचल हो गई। उपन्यासकार लिखते हैं :

"आँधियां आई, बरसातें आई, गरमी से आस-पास का घास-फूस तक झुलस गया, न ही बाहुबली का ध्यान टूटा और ना ही राजनंदिनी मे कंपन हुआ। समय के प्रभाव ने उसके शरीर को परिवर्तित करके मिट्टी का ढेर बना दिया। उस पर घास-फूस उग आए, लताओं का निर्माण हुआ और कोई चारा ना देखकर वे लताएँ बाहुबली के अचल शरीर पर लिपट गई।"

मैसूर के निकट श्रवणबेलगोला स्थान पर स्थित बाहुबली 'गोम्मटेश्वर' की 57 फीट ऊँची, वैराग्य की वह साकार पाषाण-प्रतिमा आज भी

विद्यमान है, और उस पर लिपटी, अपने प्रीतम के रंग में रंग गई वे पाषाण लताएँ आज भी उस राग और वैराग्य के अपूर्व संघर्ष का इतिहास कह रही हैं।[2]

कविवर मिश्रीलाल जी ने अपने खण्ड काव्य 'गोम्मटेश्वर' में बाहुबली की प्रतिमा के अप्रतिम सौन्दर्य पर मुग्ध होकर लिखा है :

"प्रस्तर में इतना सौन्दर्य
समा सकता है,
प्राण प्राण पुलकित हों
पत्थर भी ऐसा क्या गा सकता है?"[3]

बाहुबली के कामदेव जैसे सुन्दर रूप तथा सर्व-परिग्रह रहित कठोर तपस्या का बड़ा मार्मिक चित्रण कवि ने प्रस्तुत किया है।

"कामदेव सा रूप
साधना वीतराग की
दो विरुद्ध आयाम
एक तट पर ठहरे हैं।"[4]

प्रतिमा उत्तरमुखी है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि बाहुबली की ये मूर्ति आंतरिक चक्षुओं से अपने पिता और तीर्थंकर, आदि ब्रह्मा, महादेव शिवशंकर भगवान् ऋषभदेव की निर्वाण स्थली कैलाश पर्वत की ओर निहार रही हो।

संसार के प्रतिष्ठित इतिहासविदो पुरातत्ववेत्ताओं, विद्वानों, कलाकारों व कलामर्मज्ञों सभी ने, जिन्हे भी मूर्ति के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ, एक ही स्वर से मूर्ति के अद्वितीय होने की अनुशंसा की है। कुछ विद्वानों के विचार नीचे दिये जा रहे हैं।

"It is the biggest monolithic statue in the world—larger than any of the statues of Rameses in Egypt . . ."[5]

अर्थात एक ही पाषाण खंड से बना यह संसार का सबसे विशाल बिम्ब है जो मिश्र की रेमेसिज की मूर्तियों से भी बड़ा है।

एच. जिमर का मत है :

"It is human in shape and feature, yet as inhuman as an icicle, and thus expresses perfectly the idea of successful withdrawal from the round of life and death, personal, cares, individual destiny, desires, sufferings and events......like a pillar of some superterrestirial unearthly substance......stands superbly motionless."[6]

अर्थात यह मूर्ति आकृति और नाक-नक्श में मानवीय है और अधर में लटकती हिमशिला की भॉति मानवेत्तर है। जन्म मरण के चक्र, जीवन की नियति, चिन्ताओं, कामनाओं, पीड़ाओं, घटनाओं से पूर्णतया मुक्त-भावों को सपूर्णता के साथ अभिव्यक्त करती है। अपार्थिव और अलौकिक स्तम्भ की तरह अचल और अडिग खड़ी है।

विन्सेट स्मिथ के अनुसार :

"Undoubtedly the most remarkable of Jaina statues and the largest free standing statue in Asia...set on the top of an eminence is visible for miles round."[7]

अर्थात निस्सन्देह ही यह अति विशिष्ट और असाधारण जैन मूर्ति एशिया की निराधार खड़ी विशालतम प्रतिमा है, जो पर्वत के उच्चतम शिखर पर स्थित चारों ओर मीलों दूर से देखी जा सकती है।

वालहाउस का मत है :

Truly Egyptian in size, and unrivalled throughtout India as detached work....Nude, cut from a single mass of granite, darkened by the monsoons of centuries, the vast statue stands upright...in a posture of somewhat stiff but simple dignity."[8]

अर्थात वस्तुतः आकार में मिश्र की मूर्तियों जैसी, समस्त भारत में अद्वितीय एवं अनुपम, निर्लिप्त, नग्न ग्रेनाइट की एक ही चट्टान से

तराशी गई, शताब्दियों से मानसून के थपेड़े सहन करती हुई बाहुबली की यह विशाल प्रतिमा अपनी सादगीपूर्ण भव्यता के साथ कायोत्सर्ग मुद्रा में अचल खड़ी है।

महान् विद्वान फर्ग्यूसन ने मूर्ति के विषय में निम्न विचार व्यक्त किये हैं :

"Nothing more grander or more inposing exists anywhere out of Egypt, and even there no known statue surpasses it in height."[9]

अर्थात मिश्र से बाहर संसार में कहीं भी इससे अधिक भव्य और अनुपम मूर्ति नहीं है और वहाँ भी कोई भी ज्ञात मूर्ति ऊँचाई में इसके समकक्ष नहीं है।

कवि बोप्पण ने लगभग 1180 ई. में मूर्ति के कला सौन्दर्य पर मुग्ध होकर अपने काव्य में लिखा है :

अतितंगाकृतिया दोडागदद रोल्सौन्दूयर्यमौन्नत्यमुं
नुतसौन्दर्यमुभागे मत्ततिशंयतानाग दौन्नत्युमुं
नुतसौन्दर्यमुमूर्ज्जितातिशयमुं तन्नल्लि निन्दिदर्दुवें
क्षितिसम्पूज्यमो गोम्टेश्वर जिनश्री रूपमात्मोपमं।।[10]

अर्थात् "यदि कोई मूर्ति अति उन्नत (विशाल) हो, तो आवश्यक नहीं वह सुन्दर भी हो। यदि विशालता और सुन्दरता दोनों हों, तो आवश्यक नहीं उसमें अतिशय (दैविक प्रभाव) भी हो। लेकिन गोम्मटेश्वर की इस मूर्ति में तीनों का सम्मिश्रण होने से छटा अपूर्व हो गई है।" इसी अभिलेख में लिखा है पक्षी भूलकर भी इस मूर्ति के ऊपर नहीं उड़ते। यह भी इसकी दिव्यता का प्रमाण है।

मैसूर के तत्कालीन नरेश कृष्णराज वोडेयर ने कहा था, "जिस प्रकार भरत के साम्राज्य के रूप में भारत विद्यमान है उसी प्रकार मैसूर की भूमि गोम्मटेश्वर बाहुबली के आध्यात्मिक साम्राज्य की प्रतीक रूप है।"

भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू, काका कालेलकर तथा डॉ. आनन्दकुमार स्वामी, शेषगिरिराव, श्री एल.के. श्रीनिवासन, प्रो. गोरावाला जैसे कला विशेषज्ञों ने भी मूर्ति के अपूर्व सौन्दर्य की प्रशंसा की है।

मूर्ति का निर्माण किसने किया?

मूर्ति का निर्माण गंगवंशीय नरेश राचमल्ल चतुर्थ के सेनापति एवं प्रधानमंत्री वीर चामुण्डराय द्वरा सम्पन्न हुआ।[11] कहा जाता है कि चामुण्डराय की माता कालिका देवी ने जैनाचार्य अजितसेन से आदिपुराण का यह वृतांत सुनकर कि पोदनपुर में सम्राट भरत द्वारा स्थापित भगवान् बाहुबली की पन्ने की 525 धनुषप्रमाण ऊँची मूर्ति है, दर्शन करने की इच्छा व्यक्त की। चामुण्डराय अपने धर्म गुरु आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, अपनी माता एव पत्नी के साथ यात्रा पर निकल पड़े। जब वे मार्ग में श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर ठहरे तो रात्री में वहाँ क्षेत्र की शासन देवी कुष्मांडिनी देवी ने स्वप्न में आकर उन्हें पृथक्-पृथक् बताया कि कुक्कुट सर्पो द्वारा आच्छादित तथा समय के प्रभाव से विलुप्त होने के कारण उस मूर्ति के दर्शन संभव नही हो सकेंगे। किंतु यदि चामुण्डराय वहीं से सामने की पहाड़ी इन्द्रगिरी पर भक्तिभावना से तीर छोड़ें तो वैसी ही मूर्ति के दर्शन उस पहाड़ी पर होंगे। गुरु की आज्ञा से चामुण्डराय ने तीर छोड़ा। कहते हैं कि चमत्कार हुआ। पत्थर की परते टूट कर गिरीं और मूर्ति का मस्तक भाग स्पष्ट हो गया। जिस स्थान से चामुण्डराय ने यह तीर छोड़ा था उसे 'चामुण्डराय चट्टान' के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त है।[12]

इस मान्यता में कल्पना का कितना पुट है यह तो नहीं कहा जा सकता, किंतु यह तथ्य निर्विवाद है कि चामुण्डराय उच्च कोटि के जिनेन्द्र भक्त व मातृभक्त थे और उनके मन में भगवान् बाहुबली की एक अनुपम मूर्ति निर्मित कराने की तीव्र अभिलाषा थी। और उन्होंने गुरु के आदेश

से राज्य शिल्पी अरिष्टनेमी द्वारा मूर्ति का निर्माण कराया। यही कारण है कि उनके द्वारा जिन धर्म की प्रभावना के कारण सर्वसंघ ने चामुण्डराय को 'सम्यक्त्व-रत्नाकर', 'सत्य-युद्धिष्ठर', 'देवराज' तथा 'शौचाभरण' जैसी उपाधियों से अलंकृत किया था। उस समय के सर्वोत्कृष्ट शासकों ने भी उन्हें उनकी विजयोपलब्धियों पर समय-समय पर 'समर धुरंधर', 'वीर-मार्तण्ड', 'रण-रग-सिह', 'बैरिकुल-कालदण्ड', 'भुजविक्रम', 'समरकेशरी', 'प्रतिपक्षराक्षस', 'सुभट चूड़ामणि' 'समर-परसुराम' तथा 'राय' इत्यादि उपाधियों से विभूषित किया था।

मूर्ति प्रतिष्ठा :

चामुण्डराय ने मूर्ति का निर्माण और स्थापना कराई, इसमें तो कोई संदेह नहीं, किंतु स्थापना कब, किस तिथि को हुई इस बारे मे विद्वानों में गंभीर मतभेद रहे हैं। यह विषय स्वतन्त्र विवेचन की अपेक्षा रखता है। यहॉ इतना ही जानना पर्याप्त है कि लगभग सभी विद्वानों ने काफी विचार विमर्श के बाद तथा 'बाहुबली चरित' में दिए हुए नक्षत्रीय संकेतो को भी ध्यान में रखते हुए श्रवणबेलगोल में मूर्ति की प्रतिष्ठा के लिए 13 मार्च, 981 A.D. को सर्वाधिक अनुकूल माना है। इसी के आधार पर सन् 1981 में सहस्राब्दि महामस्तकाभिषेक सम्पन्न हुआ था। तब से यही समय प्रामाणिक माना जा रहा है।

बेलगोल से श्रवणबेलगोल :

श्रवणबेलगोल का 'श्रवण' शब्द स्पष्ट रूप से 'श्रमण' भगवान् बाहुबली (जो स्वयं महाश्रमण थे) के साथ सम्बन्धित है। एक महत्त्वपूर्ण शिलालेख (न. 31) में यह उल्लेख है कि जैन धर्म की प्रभावना उस नगर में उसी समय से हो गई थी जब आचार्य भद्रबाहु अपने शिष्य सम्राट चन्द्रगुप्त के साथ वहॉ पहुँचे थे। जैन धर्म का प्रभाव कुछ समय के लिए अवश्य कम हुआ किन्तु उसे मुनि शान्तिसेन ने पुनर्जीवित किया। (650

A.D.)। कन्नड़ में 'बेल' और 'गोल' शब्दों का अर्थ है 'श्वेत सरोवर' अथवा 'धवल सरोवर।[13] नगर के मध्य का कल्याणी तालाब मूल 'श्वेत सरोवर' की जगह स्थित माना जाता है। इस शिलालेख में केवल 'बेलगोल' शब्द का उल्लेख है 'श्रवणबेलगोल' का नहीं अतः नगर का नाम 'श्रवणबेलगोल' अवश्य ही श्रमण भगवान् बाहुबली की प्रतिमा की स्थापना के बाद ही प्रसिद्ध हुआ है।

मूर्ति का नाम गोमटेश्वर क्यों?

कुछ विद्वानों का मत है कि 'गोमट' चामुण्डराय का प्यार का नाम था। यहाँ तक की आचार्य श्री नेमिचन्द्र चामुण्डराय की जिनेन्द्र भक्ति से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने अपने द्वारा रचित पाँच सिद्धान्त ग्रंथों में से दो 'कर्मकाण्ड' और 'जीवकाण्ड' का नाम मिलाकर 'गोमटसार' रख दिया था। जब चामुण्डराय द्वारा बाहुबली की प्रतिमा का निर्माण कराया गया तो लोगों ने उन्हें गोमटेश्वर अर्थात् गोमट (चामुण्डराय) के ईश्वर, गोम्मट के भगवान् के नाम से पुकारना प्रारम्भ कर दिया। अतः इनका नाम गोमटनाथ, गोम्मट स्वामी, गोम्मट जिन व गोम्मटेश्वर प्रसिद्ध हो गया। डॉ. ए. उन उपाध्याय का मत है कि 'गोम्मट' शब्द का प्राकृत और संस्कृत से कुछ लेना देना नहीं है। यह स्थानीय भाषा का शब्द है जो कन्नड़, तेलगू, कोंकणी तथा मराठी भाषा में मिलता है जिसका अर्थ होता है 'श्रेष्ठ', 'उत्कृष्ठ', 'अच्छा', 'सुन्दर', 'उपकारी'। उनके अनुसार यह चामुण्डराय के संदर्भ में ही प्रयोग हुआ लगता है।

उपरोक्त मत निम्न कारणों से तर्क संगत प्रतीत नहीं होता।

(a) इस मूर्ति की स्थापना के पूर्व और पश्चात् भी दक्षिण में गोम्मटेश्वर की विशालकाय मूर्तियाँ निर्मित हुई–ई.सन् 650 में बीजापुर के बादामी में; मैसूर के समीप गोम्मट गिरी में 18 फीट ऊँची 14वीं सदी में; होसकोटे हलल्ली में 14 फीट ऊँची; कारकल में सन् 1432

में 41.5 फीट ऊँची; वेणूर में सन् 1604 ई. में 35 फीट ऊँची। ये मूर्तियाँ भी 'गोम्मट', 'गुम्मट' अथवा 'गोम्मटेश्वर' कहलाती हैं जिनका निर्माण चामुण्डराय ने नहीं कराया।

(b) चामुण्डराय के आश्रय में रहे कवि रन्न ने अपने 'अजितपुराण' (993 ई.) में गोम्मट नाम से कहीं भी उनका उल्लेख नहीं किया है।

(c) कवि दोड्डय ने अपने संस्कृत ग्रंथ 'भुजवलि शतक' सन् (1550) में चामुण्डराय द्वारा मूर्ति का प्रकटीकरण करने का वर्णन करते हुए कहीं भी उनका नाम 'गोम्मट' उल्लेख नहीं किया है।

(d) मूर्ति के निर्माण से 12 शताब्दी तक मूर्ति को 'कुकुटेश्वर' 'कुकुट-जिन' या 'दक्षिण कुकुट जिन' के नाम से जाना जाता था क्योंकि यह मान्यता थी कि उत्तर भारत की भरत द्वारा स्थापित मूर्ति कुक्कुट सर्पो द्वारा ढक दी गई है। नेमीचन्द्र आचार्य ने भी इन्हीं नामों से मूर्ति को संबोधित किया है।

(e) स्वयं चामुण्डराय ने मूर्ति के पादमूल में अंकित उपरोक्त वर्णित तीनों अभिलेखों में कहीं भी अपने को 'गोम्मट' नहीं लिखा है। 'श्री चामुण्डराय करवियले' आदि लिखा गया है।

(f) श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में जहाँ गोम्मट नाम का उल्लेख है (No. 733 and No. 125) उनमें मूर्ति को 'गोम्मटदेव' और चामुण्डराय को 'राय' कहा गया है।[14]

(g) श्री एम. गोविंद पाई का भी यही अभिमत है[15] कि बाहुबली का ही अपर नाम 'गोम्मट' 'गुम्मट' था। पं. के.वी. शास्त्री ने 'गोम्मट' शब्द की व्युतपत्ति करते हुए इसका अर्थ 'मोहक' प्रतिपादित किया है। कात्यायन की 'प्राकृत मंजरी' के अनुसार संस्कृत का 'मन्मथ', प्राकृत में 'गुम्मह' और कन्नड़ में 'गम्मट' हो जाता है। कोंकणी भाषा का 'गोमेटो' संस्कृत के 'मन्मथ' का

ही रूपान्तर है। गोम्मट संस्कृत के 'मन्मथ' शब्द का ही तद्भव रूप है और यह कामदेव का द्योतक है। अब प्रश्न उठता है कि बाहुबली क्या कामदेव कहलाते थे? यह सत्य है। जैन धर्मानुसार बाहुबली इस युग के प्रथम कामदेव थे।

'तिलोयपण्णत्ती' अधिकार-4 मे लिखा है कि चौबीस तीर्थकरों के समय में महान्, सुंदर, प्रमुख चौबीस कामदेव होते है। इन कामदेवों में बाहुबली प्रथम कामदेव थे। अतः इन्हें गोम्मटेश्वर में (कामदेवों में प्रमुख) कहते हैं। वे सर्वार्थ सिद्धि की अहमिन्द्र पर्याय से चलकर आए थे। चरम शरीरी और 525 धनुष की उन्नत काय के धारी थे।

(h) भगवान् बाहुबली ने सिद्धत्व प्राप्त किया था। लौकिक व्यवहार में भी अरिहंतो, सिद्धों, तीर्थकरों के नाम पर व्यक्तियों के नाम रखे जाते है, ना कि देहधारी ससारियों के नाम पर सिद्धों या अरिहंतों के। अत. ये समझना तर्क सगत नही कि बाहुबली की दिव्य प्रतिमा का नाम चामुण्डराय के अपर-नाम 'गोमट' के कारण 'गोम्मटेश्वर' पड़ा।

परन्तु ये अधिक तर्क संगत है कि 'गोम्मटेश्वर बाहुबली' की स्थापना के कारण लोगों ने चामुण्डराय को प्रेम से 'गोमट' अथवा 'गोम्मट' पुकारना प्रारम्भ किया है। बाहुबली का स्वयं का नाम ही गोम्मटेश्वर था इनमें कोई संदेह प्रतीत नहीं होता।

बाहुबली कौन थे :

बाहुबली प्रथम जैन तीर्थकर आदिनाथ (ऋषभदेव जिन) के पुत्र भरत जिनके नाम पर इस देश का नाम 'भारतवर्ष' पड़ा[17] के लघु भ्राता थे। ऋषभ देव का विवाह कच्छ और महाकच्छ राजा की राजकुमारियों यशस्वती और सुनन्दा के साथ हुआ था। 'महापुराण' में यशस्वती और सुनंदा ये दो रानियाँ बताई हैं। 'पउमचरिउ' और श्वे. ग्रंथों में सुमंगला

और नन्दा नाम दिए हैं। 'पद्म पुराण' पर्व 20 श्लोक 124 में भरत की माता का नाम यशोवती भी लिखा है। यशस्वती से भरतादि एक सौ पुत्र और पुत्री ब्राह्मी एवं सुनंदा से एक पुत्र बाहुबली और सुन्दरी नाम की कन्या ने जन्म लिया था।[18] एक दिन नृत्यागंना नीलाजंना की नृत्य करते हुए आकस्मिक मृत्यु हो जाने पर जीवन की क्षणभंगुरता देख महाराज ऋषभदेव को वैराग्य हो गया। उन्होंने युवराज भरत को उत्तराखण्ड (अयोध्या-उत्तर भारत) का और राजकुमार बाहुबली को (पोदनपुर-दक्षिण पथ) का शासन सौंप मुनि दीक्षा धारण कर ली। इस बारे में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वानों के अनुसार पोदनपुर तक्षशिला (उत्तर भारत) के पास ही स्थित था, या तक्षशिला का ही दूसरा नाम था, जो वर्तमान में पाकिस्तान में है। 'महापुराण', 'पद्मपुराण', 'हरिवंशपुराण' में 'पोदनपुर' लिखा है किन्तु 'पउमचरिय' में 'तक्षशिला' लिखा है। आचार्य हेमचन्द्र का भी यही मत है। किंतु आचार्य गुणभद्र के अनुसार पोदनपुर दक्षिण भारत का हिस्सा था।[19] बौद्ध साहित्य से भी इसी विचार की पुष्टि होती है कि पोदनपुर (पोदन, पोसन, पोतली) गोदावारी के किनारे स्थित था।[20] पाणिनी का भी यही मत प्रतीत होता है।[21] डॉ. हेमचन्द्रराय चौधरी बोधना को महाभारत के पोदना और बौद्ध साहित्य के पोत्तना से सम्बंधित समझते है। यदि हम ये मान लें कि पोदनपुर दक्षिण भारत में स्थित था तो आन्ध्र प्रदेश के निज़ामाबाद जिले में स्थित 'बोधना' नगर को पोदनपुर स्वीकार करना अधिक तर्क संगत होगा। कवि पम्पा के 'भरतकाव्य', वेमलवाद (Vemulvad) स्तम्भ पर खुदा लेख तथा परवनी ताम्र लेख भी इसी विचार की पुष्टि करते हैं। यह नगर राष्ट्रकूट राजा इन्द्रवल्लभ की राजधानी भी था। यह विचार भी अधिक तर्क संगत प्रतीत होता है कि एक भाई को उत्तर भारत का तथा दूसरे भाई को दक्षिण भारत का राज्य दिया गया।

बाहुबली अत्यन्त पराक्रमी और बाहुबल से युक्त थे। जिनसेनाचार्य 'महापुराण' के पर्व 16 में बाहुबली के नाम की सार्थकता सिद्ध करते हुए कहते हैं :

बाहु तस्य महाबाहोरधातां बलमर्जितम्।
यतो बाहुबलीत्यासीत् नामास्य महसां निधेः।।

लम्बी भुजावाले तेजस्वी उन बाहुबली की दोनों भुजाएँ उत्कृष्ट बल को धारण करती थीं। इसीलिए उनका 'बाहुबली' नाम सार्थक था।

अत्यन्त पराक्रमी होने के कारण 'भुजबली', 'दोरबली', एवं सुनन्दा से उत्पन्न होने के कारण वे 'सौनन्दी' नाम से भी जाने जाते थे। वे वीर और उदार हृदय थे। अधिक की उन्हें लालसा नहीं थी। राज्यों पर विजय प्राप्त करने की उनकी महत्त्वाकांक्षा नहीं थी। वे विशिष्ट संयमी थे। शरणागत की रक्षा के लिए, अन्याय के प्रतिकार के लिए ही अग्रज भरत के प्रति असीम आदर रखते हुए भी उन्होंने उनके शत्रु बज्रवाहू को अपने यहाँ शरण दी थी। अपने पिता द्वारा दिए राज्य से वे संतुष्ट थे।

भरत ने सिंहासनारूढ़ होकर दिग्विजय की दुन्दुभि बजा दी और चक्रवर्ती सम्राट का विरद प्राप्त किया। सभी राजाओं ने उनकी आधीनता स्वीकार कर ली। उनके स्वतन्त्रता प्रेमी भाईयों ने संन्यास धारण कर लिया। किन्तु जब वे दिग्विजय से लौटे तो उनके चक्ररत्न ने आयुधशाला में प्रवेश नहीं किया। कारण खोजने पर पता लगा कि उनके अनुज बाहुबली ने उनका स्वामित्व स्वीकार नहीं किया था। दूत भेजा गया। बाहुबली ने स्पष्ट किया कि भाई के रूप में वे बड़े भाई भरत के समक्ष शीश झुकाने को सदैव तत्पर हैं किन्तु राजा के रूप में वे स्वतंत्र शासक हैं, उनका शीश किसी राजा के समक्ष नहीं झुक सकता। यह एक राजा को अपने सम्मान, अपनी स्वतन्त्रता, न्याय के पक्ष तथा विस्तारवादी नीति के विरुद्ध चुनौती थी। परिणाम स्वरूप युद्ध की घोषणा हुई। सेनायें आमने-सामने आ डटीं। 'पउमचरिउ'[22] तथा 'आवश्यक चूर्णी के अनुसार बाहुबली ने स्वयं ये प्रस्ताव रखा कि युद्ध में सेनाओं की व्यर्थ की बर्बादी को रोका जाए और दोनों भाई द्वन्द के द्वारा जय पराजय का निर्णय करें। यह एक अहिंसक निर्णय था। बाहुबली युद्ध की विभीषिका से परिचित थे। सेनाओं की उनके कारण व्यर्थ क्षति हो, ऐसा वे नहीं चाहते थे।

ऋषभ की संतानों की परम्परा हिंसा की नहीं थी। भरत ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। तीन प्रकार की प्रतियोगिताएँ निश्चित की गई–दृष्टि युद्ध, मल्ल युद्ध और जल युद्ध।[24] 'पउमचरिउ' में केवल दो-दृष्टि युद्ध और मुष्टि युद्ध (मल्ल युद्ध) का ही उल्लेख है। अन्य एक ग्रंथ में 'वाक-युद्ध' और 'दन्ड युद्ध' को मिलाकर पॉच प्रकार के युद्धों का समावेश वर्णन किया है[25]। निष्कर्ष है कि जय पराजय का निर्णय दोनों भाईयों के बीच हुआ जिसमें सेनाओं ने भाग नहीं लिया। इन सभी युद्धों में बाहुबली विजयी रहे। अपमानित होकर क्रोध के वशीभूत भरत ने बाहुबली पर अमोघ चक्र से प्रहार किया।[26] किवंदती है कि चक्र ने भाई को क्षति नहीं पहुँचाई। वह बाहुबली की तीन प्रदक्षिणा कर वापस लौट आया। घटना किसी भी प्रकार घटी हो, निष्कर्ष यही निकलता है कि बाहुबली चक्र के प्रहार से बच गए जिससे भरत को और भी अधिक अपमान महसूस हुआ।

दीक्षा :

भरत के इस क्रूर, अनीतिपूर्ण कृत्य से बाहुबली का हृदय ग्लानि से भर उठा। व्यक्ति की महत्त्वाकाक्षांयें उससे क्या नहीं करा सकती इस विचार से वे सहम गए। ससार की क्षणभंगुरता का दृश्य उनकी ऑखों के सामने नाचने लगा। उन्होंने तत्काल सब कुछ भाई भरत को सौंप वैराग्य धारण कर लिया।[27] उपरोक्त कथानक में घटनाओं का अत्यंत मनोवैज्ञानिक चित्रण है। कौन व्यक्ति किस स्थिति में किस तरह का निर्णय लेगा इसका अनुमान लगाना कितना कठिन है। इस मनःस्थिति का चित्रण इस कथानक से स्पष्ट होता है। बाहुबली ने विजय प्राप्त करने के बाद भी अपनी भावना के रथ को उसी दिशा में मोड़ दिया जिस दिशा में उनके पिता आदि तीर्थकर ऋषभदेव गए थे। जिनसेन आचार्य के अनुसार भगवान् ऋषभदेव के चरणों में ही उन्होंने दीक्षा ग्रहण की।[28] फिर दीक्षा ग्रहण कर 1 वर्ष का प्रतिमायोग धारण किया।[29] "भरतेश मुझसे

संक्लेश को प्राप्त हुए हैं", ये विचार बाहुबली के केवलज्ञान में बाधक हो रहे थे। भरत के द्वारा बाहुबली की पूजा करते ही ये बाधा दूर हो गई, हृदय पवित्र हुआ और केवलज्ञान प्राप्त हो गया। भरत ने दो बार पूजा की। केवलज्ञान से पहले की पूजा अपना अपराध नष्ट करने के लिए तथा बाद की पूजा केवलज्ञान की उत्पत्ति का अनुभव करने के लिए की थी।[30]

प्राकृत के कुछ ग्रन्थों में उल्लेख है कि बाहुबली ऋषभदेव के पास दीक्षा लेने नहीं गये। उसका कारण यह बताया जाता है कि उन्हें अपने अनुजों को भी विनय करना पड़ता, जो पहले ही दीक्षित हो चुके थे।[31] 'पउमचरिय' व 'पद्मपुराण' में भी बाहुबली का भगवान् से दीक्षा लेने का कथन नहीं है। उन्होंने संकल्प किया था कि वे ऋषभदेव की सभा में केवलज्ञान प्राप्त करने के उपरांत ही जाएँगे। उन्होंने स्वयं ही दीक्षा ली ओर 1 वर्ष का कायोत्सर्ग धारण किया।[32] यह मान कषाय उनके केवलज्ञान की उपलब्धि में बाधक बना हुआ था। जब ब्राह्मी ने आकर बाहुबली से कहा कि "तुम कब तक मान के हाथी पर चढ़े रहोगे। तुम अपने अनुजों की नहीं, उनके गुणों की विनय कर रहे हो।"[33] अपनी गलती को मान जैसे ही बाहुबली जाने को उद्यत हुए उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। 'हरिवंशपुराण' के अनुसार तो बाहुबली केवलज्ञान के बाद ही भगवान् की सभा में गए। जैन पुराणों में एक और कथा आती है कि बाहुबली के मन में शल्य था कि वे भरत की भूमि पर खड़े हैं। जैसे ही भरत ने उनसे इस शल्य को यह कह कर त्यागने की प्रार्थना की कि अनेकों चक्रवर्ती आये और गए, यह पृथ्वी किसकी हुई है, उनका शल्य दूर हो गया और उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।

बाहुबली को शल्य था, ये विचार तर्क संगत प्रतीत नहीं होता। आचार्य जिनसेन के अनुसार बाहुबली को सभी प्रकार की ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई थी और वे अत्यन्त निशल्य थे। **"गौरवैस्त्रिभिरुन्मुक्तः परां निःशल्यतांगतः"**।[35] आचार्य उमास्वामी ने भी 'तत्वार्थ सूत्र' में कहा है कि

"निःशल्योव्रती" अर्थात् जो माया, मिथ्यात्व व निदान तीनों शल्यो से रहित है वही व्रती होता है। और यदि बाहुबली जैसे परम तपस्वी, प्रतिमा योग के धारक, सकल भोगों का त्याग करने वाले दिगम्बर महामुनि को भी शल्य मान लिया जाए तो वे महाव्रती कैसे हो सकते हैं। 'पद्मपुराण' में भी आचार्य रविषेण ने बाहुबली के शल्य का वर्णन नहीं किया है।[36] शल्य की कथा पुराणों में संभवतः इस विचार को प्रमुखता देने के लिए जोड़ दी गई कि किसी भी प्रकार का 'मान कषाय' व्यक्ति की आत्मोपलब्धि में बाधक होता है चाहे वह तप के कितने ही ऊँचे शिखर पर क्यों न बैठा हो।

बाहुबली की मूर्तियाँ क्यों?

जैन परम्परा में केवल तीर्थकरों की मूर्तियॉ ही प्रतिष्ठापित की जाती हैं। बाहुवली स्वयं तीर्थकर नहीं थे फिर भी समस्त भारत में उनकी मूर्तियाँ स्थापित की गई। इसका मुख्य कारण यह है कि वे इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव से भी पूर्व मोक्ष जाने वाले जीव थे। उन्होंने एक वर्ष की घोर तपस्या कर कैवल्य प्राप्त किया था। उन्होंने लौकिक और पारलौकिक जीवन के लिए उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किये थे। लौकिक स्तर पर उन्होंने सत्य, न्याय, स्वाधीनता, अहिंसा और आत्मसम्मान के लिए संघर्ष किया। युद्ध की विभिषिका को जानते हुए, नर संहार को रोकने का प्रयत्न किया। अहिंसा और प्रेम का पाठ पढ़ाया। त्याग का अनूठा आदर्श प्रस्तुत किया। विजेता होकर भी सांसारिक सुखों को तिलाजंली दे दी और संसार की स्वार्थपरायणता, क्षणभंगुरता और निस्सारता को जानकर दुर्धर तप के रास्ते को अपनाया। कठिन तपश्चर्या मे भी उन्होंने असाधारण एवं सर्वश्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत किया। एक वर्ष के प्रतिमा योग में शरीर रहते हुए भी उनका शरीर के दुःख-सुख से सम्वन्ध टूट गया। वे स्वतंत्रता और स्वाधीनता का पर्याय बन गये। संसार में रहते हुए स्वाधीन रहना और संसार को त्यागकर अपने पुरुषार्थ से परम स्वाधीनता (मुक्ति) प्राप्त करना ही उनका चरित्र है। इतिहास साक्षी है

संसार उन्हीं को पूजता है जो त्याग करते हैं। रामचन्द्र अपने त्याग और मर्यादाओं के कारण 'मर्यादा पुरूषोत्तम' कहलाये। रावण भी वीर, बली और विद्वान था, किन्तु अपनी अनीति के कारण खलनायक कहलाया। कृष्ण ने कंस जैसी आसुरी शक्तियों को नष्ट किया इसलिए प्रतिष्ठा प्राप्त की। बाहुबली अपने उत्कृष्ट आदर्शों के कारण मानव से महामानव तथा अपनी दुर्धर तपश्चर्या के कारण महामानव से भगवान् के पद पर प्रतिष्ठित हो गए। उस समय के चक्रवर्ती सम्राट भरत ने भी उनका पूजन किया। स्वाभाविक है कि जैनों ने पूजनार्थ उनकी मूर्तियाँ स्थापित कीं।

भगवान् बाहुबली की यह अत्यंत मोहक विशाल, निश्चल, ध्यानस्थ, परम दिगम्बर प्रतिमा अहिंसा, सत्य, तप, वीतरागता का प्रतीक है। यह राग से विराग की यात्रा का दर्पण है। निवर्ति मूलक जैन परम्परा का स्तम्भ है। पूर्ण आत्म-नियंत्रण की द्योतक है। श्रद्धापूर्वक एकाग्रता से मूर्ति का अवलोकन चेतना का उर्ध्वारोहण करने में समर्थ है।

6 फरवरी 2006 को भगवान् बाहुबली का 21वीं शताब्दी का प्रथम महामस्तकाभिषेक हो रहा है। भारत सरकार ने श्रवणबेलगोल को रेल यातायात से जोड़ने की घोषणा की है। इस घोषणा की उपयोगिता तभी सार्थक हो सकती है जबकि श्रवणबेलगोल देश के प्रमुख महानगरों से आने-जाने वाली मुख्य रेलगाड़ियों से आरक्षण सुविधा सहित जोड़ा जा सके। आज पूरा विश्व एक वैश्विक ग्राम के रूप में परिवर्तित हो रहा है। इस मूर्ति में ऐसा करिश्मा है कि यदि इस नगर को राष्ट्रीय पर्यटक केन्द्र के रूप में विकसित किया जाए और यहाँ सीधी हवाई सेवायें अथवा बैंगलूर से हेलिकोप्टर सेवायें प्रदान की जाएँ तो भारत अकल्पनीय विदेशी मुद्रा अर्जित कर सकता है। यदि उचित प्रक्रिया अपनाते हुए जैन समाज अथवा भारत सरकार, मूर्ति को विश्व के अद्‌भुत आश्चर्यों में सम्मलित कराने का प्रयास करे तो इसमें अवश्य सफलता प्राप्त होगी जो देश के लिए एक महान् उपलब्धि होगी। यह मूर्ति देश की अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर है। जैस पहले भी कहा जा चुका है, यह खुले आकाश में 1 हजार वर्षो से भी अधिक समय

से प्रकृति के थपेड़े सहन कर अडिग खड़ी है, यह हमारा परम कर्त्तव्य और धर्म बनता है कि हम मूर्ति की पूर्ण सुरक्षा और संरक्षण का युद्ध स्तर पर प्रबंध करें। विशेषज्ञों से परामर्श कर मूर्ति के चारों ओर यदि सम्भव हो तो अभेदी शीशे का या किसी अन्य पारदर्शी वस्तु का परकोटा बनाया जाए जिससे कि वर्षा, धूप, तूफान इत्यादि से इसकी सुरक्षा हो सके।

–पूर्व प्राचार्य
एफ.-131, पाण्डव नगर
दिल्ली-110091

संदर्भ :

1. शेट्टर "श्रवण बेलगोल" (रुवारी धारवाड़) पृष्ठ 38 (सहयोग कर्नाटक पर्यटन)। प्रोफेसर शेट्टर कर्नाटक विश्वविद्यालय से 'श्रवणबेलगोल के स्मारक' विषय पर पी. एच.डी. हैं। वे कर्नाटक विश्वविद्यालय धारवाड के इतिहास तथा पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष तथा भारतीय कला इतिहास सस्थान के निर्देशक भी रह चुके हैं।
2 आनन्द प्रकाश जैन "तन से लिपटी बेल" (अहिंसा मन्दिर प्रकाशन) पृष्ठ 152
3. मिश्रीलाल जैन "गोम्मटेश्वर" (राहुल प्रकाशन, गुना, म. प्र.), पृष्ठ 1
4. मिश्रीलाल जैन "गोम्मटेश्वर" (राहुल प्रकाशन, गुना, म. प्र.), पृष्ठ 1
5. M H. Krishna, "Jain Antiquary", v, 4, Pg 103
6. H Zimmer, "Philosophies of India"
7. Vineet Smith, "History of Fine Arts in India and Ceylon," P. 268 "Jain Amtiquary VI, I, p 34
8. Walhouse — of Sturrock, "South Cancer, I, p 86
9. Fergusson, "A History of Indian and Astern Architecture" II. pp. 72-73, Buchanon Travels, III, p. 83
10. विंध्यगिरि पर सुत्तालय के प्रवेश द्वार के बांयी ओर का शिलालेख क्रम सख्या 336
11. मूर्ति के पैरों के पास दॉई ओर के पाषाण सर्प विवर के 10वीं शताब्दी के लेख, क्रम संख्या 272 कन्नड़; अन्य लेख क्रम संख्या 273 तमिल 10 वी शताब्दी; क्रम सख्या 276 मराठी नागरी लिपि।

12. विंध्यगिरी पर सुत्तालय के प्रवेश द्वार के बाई ओर बोप्पन पंडित द्वारा अंकित 12वीं शताब्दी के विस्तृत शिलालेख, क्रम संख्या 336।
13 "जैन शिलालेख संग्रह", I Nos 17-18 (31) pp 6-7 Intr p 2
14. Epigraphia Karnatica' Vol 2 (Indore) p 13
15. "Indian Historical Quaterly" IV, 2 pp. 270-286, JS B, IV, 2 pp. 102-109
16. श्री मदभागवत्, पञ्चम स्कन्ध, तृतीय अध्याय, 20वॉं श्लोक।
17. श्री मदभागवत, पञ्चम स्कन्ध, चतुर्थ अध्याय, 8, 9 श्लोक।
'अग्नि', 'मार्कण्डेय', ब्रह्माण्ड', 'नारद' आदि पुराण भी इस संवध मे साक्ष्य है।
18. 'पद्म पुराण', 'हरिवंशपुराण', पउमचरिय' और श्वे. ग्रथो मे ऋषभदेव के पुत्रों की संख्या 100 संख्या लिखी है, किंतु 'महापुराण' मे 101 पुत्र बताये गए है।
19. गुणभद्र "उत्तर पुराण" 35ए 28-36। देखे वादिराज "पार्श्वनाथ चरित्र" 9. 37-28, 2-65
20. सुत्तनिपात, 977
21. पाणिनी, "अष्टाध्यायी", 1-373
22. 'पउमचरिय', 4. 43
23. 'आवश्यक चूर्णी', पृ. 210
24. 'महापुराण', 3-34, 204
25. 'आवश्यक भाष्य', गाथा 32
26. 'पउमचरिय', 4-47
27. पउमचरिय व पद्मपुराण।
28. जिनसेनाचार्य, "महापुराण", पर्व 36 श्लोक 104
29. जिनसेनाचार्य, "महापुराण", पर्व 36 श्लोक 106
30. जिनसेनाचार्य 'महापुराण', पर्व 36 श्लोक 184-188
31. 'आवश्यक चूर्णी', पुष्ठ 210; (स) वासुदेवा हिन्दी पृष्ठ 186
32. हेमचन्द्राचार्य, "त्रिषष्टिश्लाका पुरुष"
33. संघदास गणी वसुदेव हिन्डी, पृष्ठ 187-88 (प्राकृत)
34. जिनसेनाचार्य, "महापुराण", 36. 152-154
35. रविषेणाचार्य , "पद्मपुराण", 4. 75-76

बाहुबली स्तवन

(1) सकलनृपसमाजे दृष्टिमल्लाम्बुयद्धै-
विंजितभरतकीर्तिर्यः प्रवव्राज मुक्तयै।
तृणमिव विगणय्य प्राज्यसाम्राज्यभारं,
चरमतनुधराणामग्रणीः सोऽवताद् वः।।

(2) भरतविजयलक्ष्मीर्जाज्वलच्चक्रमूर्त्या,
यमिनमभिसरन्ती क्षत्रियाणां समक्षम्।
चिरतरमवधूतापत्रपापात्रमासी-
दधिगतगुरुमार्गः सोऽवताद् दोर्बली वः।।

(3) स जयति जयलक्ष्मीसंगमाशामवन्ध्यां
विदधद्धिकधामा संनिधौ पार्थिवानाम्।
सकलजगदगारव्याप्तकीर्तिस्तपस्या-
मभजत यशसे यः सूनूराद्यस्य धातुः।।

(4) जयति भुजबलीशो बाहुवीर्यं स यस्य
प्रथितमभवदग्रे क्षत्रियाणां नियुद्धे।
भरतनृपतिनामा यस्य नामाक्षराणि
स्मृतिमथमुपयान्ति प्राणिवृन्दं पुनन्ति।।

(5) जयति भुजगवक्त्रेद्वान्तनिर्यद्गराग्निः
प्रशममसकृदापत् प्राप्य पादौ यदीयौ।
सकलभुवनमान्यः खेचरस्त्रीकराग्रोद्-
ग्रथिततविततवीरुद्वेष्टितो दोर्बलीशः।।

(6) जयतिभरतराजप्रांशुमौल्यग्ररत्नो-
पललुलितनखेन्दुः ष्टुराद्यस्य सूनुः।
भुजगकुलकलापैराकुलैर्नाकुलत्वं
धृतिबलकलितो यो योगभृन्नैव भेजे।।

(7) शितिभिरलिकुलाभैराभुजं लम्बमानैः
पिहितभुजविटंको मूर्धजैवेल्लिताग्रैः।
जलधरपरिरोधध्याममूर्द्धेव भूध्रः
श्रियमपुषदनूनां दोर्बली यः स नोऽव्यात्।।

(8) स जयति हिमकाले यो हिमानीपरीतं
वपुरचल इवोच्चैर्बिभ्रदाविर्बभूव।
नवघनसलिलौघैर्यश्च धौतोऽब्दकाले
खरघृणिकिरणानप्युणकाले विषेहे।।

(9) जगति जयिनमेनं योगिनं योगिवर्यै-
रधिगतमहिमानं मानितं माननीयैः।
स्मरति हृदि नितान्तं यः स शान्तान्तरात्मा
भजति विजयलक्ष्मीमाशु जैनीमजय्याम्।।

– आचार्य जिनसेन स्वामी

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं,
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्त्रकिरणः कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि।।

– भक्तामर स्तोत्र, 9

हे भगवन्! सम्पूर्ण दोषों से रहित आपका स्तवन तो दूर रहे, किन्तु आपकी पवित्र कथा भी जगत के जीवों के पापों को नष्ट कर देती है।

सूर्य दूर रहता है, पर उसकी प्रभा ही तालाबों में कमलों को विकसित कर देती है।

श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में दान परम्परा एवं श्रवणबेल्गोला के अभिलेखो में वर्णित बैंकिग प्रणाली लेख कार्यकारिणी सदस्य (वीर सेन मदिर) साहित्य मनीषी श्री सुमतप्रसाद जैन ने उपलब्ध कराये हैं।

–सम्पादक

श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में दान परम्परा

–डॉ. जगबीर कौशिक

शुद्ध धर्म का अवकाश न होने से धर्म में दान की प्रधानता है। दान देना मंगल माना जाता था। याचक को दान देकर दाता विभिन्न प्रकार के सुखों की अनुभूति करता था। अभिलेखों के वर्ण्य-विषय को देखते हुए यह माना जा सकता है कि दान देने के कई प्रयोजन होते थे। कभी मुनि राजा या साधारण व्यक्ति को समाज के कल्याण हेतु दान देने के लिए कहते थे तथा कभी लोग अपने पूर्वजों की स्मृति में वसदि या निषद्या का निर्माण करवाते थे। किन्तु प्रसन्न मन से दान देना विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

साधारण रूप में स्वयं अपने और दूसरे के उपकार के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान है। **राजवार्तिक** में भी इसी बात को कहा गया है।[1] किन्तु **धवला** के अनुसार रत्नत्रय से युक्त जीवों के लिए अपने वित्त का त्याग करने का रत्नत्रय के योग्य साधनों को प्रदत्त करने की इच्छा का नाम दान है।[2] आचार्यों ने अपनी कृतियों में दान के विभिन्न भेदों की चर्चा की है। **सर्वार्थसिद्धि**[3] में आहारदान, अभयदान तथा ज्ञानदान नामक तीन दानों की चर्चा की है। जबकि **सागारधर्मामृत**[4] के अनुसार सात्त्विक, राजस, तामस आदि तीन प्रकार के दान होते हैं। किन्तु मुख्य रूप से दान को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–अलौकिक व लौकिक। अलौकिक दान साधुओं को दिया जाता है, जो चार प्रकार का है–आहार, औषध, ज्ञान व अभय तथा लौकिक दान साधारण व्यक्तियों को दिया जाता है। जैसे-समदत्ति, करुणदत्ति, औषधालय, स्कूल, प्याऊ आदि खुलवाना।

श्रवणबेल्गोला के लगभग दो सौ अभिलेखों में दान परम्परा के उल्लेख मिलते हैं। इनमें मुख्य रूप से ग्रामदान, भूमिदान, द्रव्यदान, वसदि (मन्दिरों) का निर्माण व जीर्णोद्धार, मूर्ति दान, निषद्या निर्माण, आहार दान, तालाब, उद्यान, पट्टशाला (वाचनालय), चैत्यालय, स्तम्भ तथा परकोटा आदि का निर्माण जैसे दान वर्णित हैं। इन दानों का अलौकिक व लौकिक नामक दो भागों में विभक्त किया जाता है–

अलौकिक दान–जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अलौकिक दान साधुओं को दिया जाता है क्योंकि लौकिक दान में जिन वस्तुओं की गणना की गई है, जैनाचार में उन वस्तुओं को मुनियों के ग्रहण करने योग्य नहीं बतलाया गया है। श्रवणबेलगोला के अभिलेखों में अलौकिक दान में केवल आहार दान[5] का उल्लेख मिलता है।

आहार दान–आहार दान का अत्यन्त महत्त्व है। इसके महत्त्व का उल्लेख करते हुए **पंचविंशतिका**[6] में बतलाया गया है कि जैसे जल निश्चय करके रुधिर को धो देता है, वैसे ही गृहरहित अतिथियों का प्रतिपूजन करना अर्थात् नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान करना भी निश्चय करके गृहकार्यो से संचित हुए पाप को नष्ट करता है। श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में भूमि रहन से मुक्त करने पर तथा कष्टों के परिहार होने पर आहारदान की घोषणा करने का वर्णन मिलता है। एक अभिलेख के अनुसार[7] कम्भिय्य ने घोषणा की है कि चुवडि सेट्टि ने मेरी भूमि रहन से मुक्त कर दी, इसलिए मै सदैव एक संघ को आहार दूंगा। अष्टादिक्पालक मण्डप के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख[8] में कहा है कि चौडी सेट्टि ने हमारे कष्ट का परिहार किया है, इस उपलक्ष्य में मैं सदैव एक संघ को आहार दूंगा। जबकि इसी स्तम्भ पर उत्कीर्ण दूसरे अभिलेख में[9] आपद् परिहार करने पर वर्ष में छह मास तक एक संघ को आहार देने की घोषणा की है। इस प्रकार आलोच्य अभिलेखों के समय में आहार दान की परम्परा विद्यमान थी।

लौकिक दान–जो दान साधारण व्यक्ति के उपकार के लिए दिया जाता है, उसे लौकिक दान कहते हैं। इसके अन्तर्गत औषधालय, स्कूल, प्याऊ,

वसदि, मन्दिर, मूर्ति आदि का निर्माण व जीर्णोद्धार तथा ग्राम, भूमि, द्रव्य आदि के दान सम्मिलित किए जाते हैं। आलोच्य अभिलेखों में इस दान के उल्लेख पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं, जिनका वर्णन इस प्रकार है–

(i) **ग्राम दान**–श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में ग्राम दान सम्बन्धी उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। ग्रामों का दान-मन्दिरों में पूजा, आहारदान या जीर्णोद्धार के लिए किया जाता था। इन ग्रामों की आय से ये सभी कार्य किए जाते थे। शान्तला देवी द्वारा बनवाये गए मन्दिर के लिए प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव को एक ग्राम का दान दिया गया।[10] मैसूर नरेश कृष्णराज ओडेयर ने भी जैन धर्म के प्रभावनार्थ बेल्गुल सहित अनेक ग्रामों को दान में दिया।[11] कभी-कभी राजा अपनी दिग्विजयों में लौटते हुए मूर्ति के दर्शन करने के उपरान्त ग्राम दान की घोपणा करते थे। गोम्मटेश्वर मूर्ति के पास ही पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण एक अभिलेख[12] के अनुसार राजा नरसिंह जव बल्लाल नृप, ओडेय राजाओं तथा उच्चङ्गि का किला जीतकर वापिस लौट रहे थे तो मार्ग में उन्होंने गोम्मटेश्वर के दर्शन किए तथा पूजनार्थ तीन ग्रामों का दान दिया। चन्द्रमौलि मन्त्री की पत्नी आचल देवी द्वारा निर्मित अक्कन वसदि में स्थित जिन मन्दिर को चन्द्रमौलि की प्रार्थना से होय्सल नरेश वीर बल्लाल ने बम्मेयनहल्लि नामक ग्राम का दान दिया।[13] मन्त्री हुल्लराज ने भी नयकीर्ति सिद्धान्तदेव[14] और भानुकीर्ति[15] को सवणेरु ग्राम का दान दिया। बम्मेयनहल्लि नामक ग्राम के सम्मुख एक पाषाण पर उत्कीर्ण एक लेख के अनुसार[16] आचल देवी ने बम्मेयनहल्लि नामक ग्राम का दान दिया।

इसी प्रकार कई अभिलेखों मे आजीविका, आहार पूजनादि के लिए ग्राम दान के भी उल्लेख मिलते हैं। शासन वसदि के सामने एक शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण अभिलेख के अनुसार[17] विष्णुवर्धन नरेश से पारितोषिक स्वरूप प्राप्त हुए, 'परम' नामक ग्राम को गङ्गराज ने अपनी माता पोचलदेवी तथा भार्या लक्ष्मी देवी द्वारा निर्मापित जिन मन्दिरों की आजीविका के लिए अर्पण किया। महा-प्रधान हुल्लमय ने भी अपने स्वामी

होयूसल नरेश मारसिंहदेव से पारितोषिक में प्राप्त सवणेरु ग्राम का गोम्मट स्वामी की अष्टविध पूजा तथा मुनियों के आहार के लिए दान दिया।[18] वीर बल्लाल राजा ने भी 'बेक्क' नामक ग्राम का दान गोम्मटेश्वर की पूजा के लिए ही किया था।[19] कण्ठीरायपुर ग्राम के लेखानुसार[20] गङ्गराज ने पार्श्वदेव और कुक्कुटेश्वर की पूजा के लिए गोविन्दवाडि नामक ग्राम का दान दिया। चतुर्विंशति तीर्थकर पूजा के लिए बल्लाल देव ने मारुहल्लि तथा बेक्क ग्राम का दान दिया।[21] शल्य नामक ग्राम का दान वसदियो के जीर्णोद्धार तथा मुनियों की आहार व्यवस्था के लिए किया गया था।[22] किन्तु आलोच्य अभिलेख मे दो अभिलेख[23] ऐसे हैं जिनके अनुसार ग्राम दान, दानशाला, कुण्ड, उपवन तथा मण्डप आदि की रक्षा के लिए किया गया। इस प्रकार हम अभिलेखों से यह जान पाते हैं कि धार्मिक कार्यो की सिद्धि के लिए ग्राम दान की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी।

(ii) **भूमि दान**–आलोच्य काल मे ग्राम दान के साथ-साथ भूमि दान की भी परम्परा थी। श्रवणबेलगोला के अभिलेखों में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनमें भूमि दान के प्रयोजन का वर्णन मिलता है। मुख्यतः भूमि दान का प्रयोजन अष्टविध पूजन, आहार दान, मन्दिरो का खर्च चलाना होता था। कुम्बेनहल्लि ग्राम के एक अभिलेख के अनुसार वादिराज देव ने अष्टविध पूजन तथा आहार दान के लिए कुछ भूमि का दान किया।[24] इसी प्रकार के उल्लेख अन्य अभिलेखों में[25] भी मिलते हैं। श्रवणबेल्गोला के ही कुछ अभिलेखों में ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनमें दान की हुई भूमि के बदले प्रतिदिन पूजा के लिए पुष्पमाला प्राप्त करने का वर्णन है। गोम्मटेश्वर द्वार के दायीं ओर पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण एक अभिलेख के अनुसार[26] बेल्गुल के व्यापारियों ने गङ्ग समुद्र और गोम्मटपुर की कुछ भूमि खरीदकर उसे गोम्मटदेव की पूजा हेतु पुष्प देने के लिए एक माली को सदा के लिए प्रदान की थी। इसी प्रकार के वर्णन अन्य अभिलेखों में[27] भी मिलते हैं। कुछ ऐसे भी अभिलेख हैं जिनमें वसदि या जिनालय के लिए भूमिदान के प्रसंग मिलते हैं। मंगायि वसदि के प्रवेश द्वार के साथ

ही उत्कीर्ण एक लेख में वर्णन मिलता है कि पण्डितदेव के शिष्यों ने मंगायि वसदि के लिए दोड्डन कट्टे की कुछ भूमि दान की।[28] नागदेव मन्त्री द्वारा कपठपार्श्वदेव वसदि के सम्मुख शिलाकुट्टम और रङ्गशाला का निर्माण करवाने तथा नगर जिनालय के लिए कुछ भूमिदान करने का उल्लेख एक अभिलेख[29] में मिलता है। उस समय में भूमि का दान रोगमुक्त होने या कष्ट मुक्त तथा इच्छा पूर्ति होने पर भी किया जाता था। महासामन्ताधिपति रणावलोक श्री कम्बयन् के राज्य में मनसिज की रानी के रोगमुक्त होने के पश्चात् मौनव्रत समाप्त होने पर भूमि का दान किया।[30] लेख में भूमि दान की शर्त भी लिखी है कि जो अपने द्वारा या दूसरे दान की गई भूमि का हरण करेगा, वह साठ हजार वर्ष कीट योनि में रहेगा। गन्धवारण वसदि के द्वितीय मण्डप पर उत्कीर्ण लेख में पट्टशाला (वाचनालय) चलाने के लिए भूमि दान का उल्लेख है।[31] भूमि दान से सम्बन्धित अनेक उल्लेख अन्य अभिलेखों मे भी मिलते हैं।[32] इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्कालीन दान परम्परा में भूमि दान का महत्त्वपूर्ण स्थान था, जिससे प्रायः सभी प्रयोजन सिद्ध किए जाते थे।

(iii) द्रव्य (धन) दान–श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में नगद राशि के दान स्वरूप भेंट करने के उल्लेख मिलते हैं उस धन से पूजा, दुग्धाभिषेक इत्यादि का आयोजन किया जाता था। गोम्मटेश्वर द्वार के पूर्वी मुख पर उत्कीर्ण एक लेख के अनुसार कुछ धन का दान तीर्थकरों के अष्टविधपूजन के लिए किया गया था।[33] चन्द्रकीर्ति भट्टारकदेव के शिष्य कल्लत्य ने भी कम से कम छह मालाएँ नित्य चढ़ाने के लिए कुछ धन का दान किया।[34] राजा भी धन का दान किया करते थे। उन्हें जिस ग्राम में निर्मित मन्दिर इत्यादि के लिए दान करना होता था, उस ग्राम के समस्त कर इस धार्मिक कार्य के लिए दान कर देते थे। राजा मारसिंह देव ने भी गोम्मटपुर के टैक्सों का दान चतुर्विंशति तीर्थकर वसदि के लिए किया था।[35] द्रव्य दान की एक विधि चन्दा देने की परम्परा भी होती थी। चन्दा मासिक या वार्षिक दिया जाता था। मोसले के वड्ड व्यवहारि

बसववेट्टि द्वारा प्रतिष्ठापित चौबीस तीर्थकरों के अष्टविध पूजन के लिए मोसले के महाजनों ने मासिक चन्दा देने की प्रतिज्ञा की।[36] मासिक के अतिरिक्त वार्षिक चन्दा देने के उल्लेख भी मिलते हैं। चतुर्विशति तीर्थकरों के अष्टविध पूजार्चन के लिए मोसल के कुछ सज्जनों ने वार्षिक चन्दा देने की प्रतिज्ञा की।[37] गोम्मटेश्वर द्वार पर उत्कीर्ण एक लेख के अनुसार[38] बेल्गुल के समस्त जौहरियों ने गोम्मटदेव और पार्श्वदेव के पुष्प पूजन के लिए वार्षिक चन्दा देने का संकल्प किया था।

प्रतिमा के दुग्धाभिषेक के लिए द्रव्य का दान करना अत्यन्त श्रेष्ठ माना जाता था। कोई भी व्यक्ति कुछ सीमित धन का दान करता था। उस धन के ब्याज से जितना दूध प्रतिदिन मिलता था, उससे दुग्धाभिषेक कराया जाता था। आदियण्ण ने गोम्मटदेव के नित्याभिषेक के लिए चार गद्याण का दान किया, जिसके ब्याज से प्रतिदिन एक 'बल्ल' दूध मिलता था।[39] हुलिगेरे के सोवणा ने पांच गद्याण का दान दिया, जिसके ब्याज से प्रतिदिन एक 'बल्ल' दूध मिलता था।[40] इसी प्रकार दुग्धदान के लिए अन्य उदाहरण[41] भी आलोच्य अभिलेखों में देखे जा सकते हैं। अष्टादिक्पालक मण्डप के स्तम्भ पर खुदे एक लेख के अनुसार[42] पुट्ट देवराजै अरसु ने गोम्मट स्वामी की वार्षिक पाद पूजा के लिए एक सौ वरह का दान दिया तथा गोम्मट सेट्टि ने बारह गद्याण का दान दिया।[43] इसके अतिरिक्त श्रीमती अव्वे ने चार गद्याण का तथा एरेयङ्ग ने बारह गद्याण का दान दिया।

(iv) **वसदि (भवन) निर्माण**–आलोच्य अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय वसदि निर्माण भी दान परम्परा का एक अंग था। ये वसदियाँ पूर्वजों की स्मृति में जन-साधारण के कल्याणार्थ बनवाई जाती थी। आज भी पार्श्वनाथ, कत्तले, चन्द्रगुप्त, शान्तिनाथ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, चामुण्डराय, शासन, मज्जिगण्ण, एरछुकट्टे, सवतिगन्धवारण, तोरिन, शन्तीश्वर, चेन्नण, आदेगल, चौबीस तीर्थकर, भण्डारि, अक्कन सिद्धांत, दानशाले, मङ्गरिय आदि बस्दियों को खंडित अवस्था में देखा जा

सकता है। ये वसदियाँ गर्भगृह, सुखनासि, नवरङ्ग, मानस्तम्भ, मुखमण्डप आदि से युक्त होती थीं।

इन्हीं उपरोक्त वसदियों के निर्माण की गाथा ये अभिलेख कहते हैं। दण्डनायक मङ्गरय्य ने कत्तले बस्ति अपनी माता पोचब्बे के लिए निर्माण करवाई थी।[46] गन्धवारण वसदि में प्रतिष्ठापित शान्तीश्वर की पादपीठ पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार[47] शान्तलदेवी ने इस बस्दि का निर्माण कराया था तथा अभिषेकार्थ एक तालाब भी बनवाया था।[48] इसी प्रकार भरतय्य ने भी एक तीर्थस्थान पर वसदि का निर्माण कराया, गोम्मटदेव की रङ्गशाला निर्मित कराई तथा दो सौ वसदियों का जीर्णोद्धार कराया।[49] इसके अतिरिक्त समय-समय पर दानकर्त्ताओं ने परकोटे इत्यादि का निर्माण करवाया था।

(v) **मन्दिर निर्माण**–भारतवर्ष में मन्दिर निर्माण की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। आलोच्य अभिलेखों में भी मन्दिर निर्माण के अनेकों उल्लेख प्राप्त होते हैं। राष्ट्रकूट नरेश मारसिंह ने अनेक राजाओं को परास्त किया तथा अनेक जिन मन्दिरों का निर्माण करवाकर अन्त में सल्लेखना व्रत का पालन कर बंकापुर में देहोत्सर्ग किया।[50] अभिलेखों के अध्ययन से इतना तो ज्ञात हो ही जाता है कि मन्दिरों का निर्माण प्रायः बेल्गोल नगर में ही किया जाता था। क्योंकि यह नगर उस समय मे जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र था। शासन वसदि में पार्श्वनाथ की पादपीठ पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार[51] चामुण्ड के पुत्र और अजितसेन मुनि के शिष्य जिनदेवण ने बेल्गोल नगर में जिन मन्दिर का निर्माण करवाया। दण्डनायक एच ने भी कोपड़, बेल्गोल आदि स्थानों पर अनेक जिन मन्दिरों का निर्माण करवाया।[52] आचलदेवी ने पार्श्वनाथ का निर्माण भी बेल्गोल तीर्थ पर ही करवाया।[53] मन्दिर निर्माण में जन-साधारण के अतिरिक्त राजा भी अपना पूर्ण सहयोग देते थे। गङ्ग नरेशों ने कल्लङ्गेरे में एक विशाल जिन मन्दिर व अन्य पाँच जिन मन्दिरों का निर्माण करवाया तथा बेल्गोल नगर में परकोटा, रङ्गशाला व दो आश्रमों सहित चतुर्विंशति तीर्थकर मन्दिर का निर्माण करवाया।[54] राजाओं के अतिरिक्त उनकी पत्नियों द्वारा करवाये

गए मन्दिर निर्माण के उल्लेख भी मिलते हैं।[55] मललकेरे (मनलकेरे) ग्राम में ईश्वर मन्दिर के सम्मुख एक पत्थर पर लिखित एक लेख[56] में वर्णन मिलता है कि सातण्ण ने मनलकेरे में शान्तिनाथ मन्दिर का पुनर्निर्माण तथा उस पर सुवर्ण कलश की स्थापना कराई।

(vi) **मूर्ति निर्माण**–आलोच्य अभिलेखों के अध्ययन से तत्कालीन मूर्ति निर्माण की परम्परा का भी हमें ज्ञान होता है। भारतवर्ष में श्रवणबेल्गोलस्थ बाहुबलि की प्रतिमा सुप्रसिद्ध है। एक अभिलेख के अनुसार[57] इस मूर्ति की प्रतिष्ठापना चामुण्डराज ने करवाई थी। अखण्डबागिलु की शिला पर उत्कीर्ण एक लेख में वर्णन आता है कि भरतमय्य ने बाहुबलि की मूर्ति का निर्माण कराया।[58] किन्तु बाहुबली की मूर्तियों के अतिरिक्त अन्य तीर्थकरों आदि की मूर्तियों के निर्माण के उल्लेख भी अभिलेखों में उपलब्ध होते हैं। तञ्जनगर के शत्तिरम् अप्पाउ श्रावक ने प्रथम चतुर्दश तीर्थकरों की मूर्तियाँ निर्माण कराकर अर्पित की।[59] एक अन्य अभिलेख में भी श्रावक द्वारा पञ्चपरमेष्ठी की मूर्ति निर्मित कराकर अर्पण करने का उल्लेख मिलता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस समय मूर्तियों का निर्माण दानार्थ भेंट करने के लिए भी करवाया जाता था।

(vii) **जीर्णोद्धार**–पुराने मन्दिरों या वसदियों आदि का जीर्णोद्धार करवाना भी उतना ही पुण्य का काम समझा जाता था, जितना कि मन्दिरों को बनवाना। श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में भी जीर्णोद्धार सम्बन्धी उद्धरण पर्याप्त मात्रा में देखे जा सकते हैं। शासन बस्दि के एक लेखक के अनुसार[61] गङ्गराज ने गङ्गवाडि परगने के समस्त जिन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया। महामण्डलाचार्य देवकीर्ति पण्डितदेव ने प्रतापपुर की रूपनारायण वसदि का जीर्णोद्धार व जिननाथपुर में एक दानशाला का निर्माण करवाया।[62] इसके अतिरिक्त पालेद पदुमयण्ण ने एक वसदि का[63] तथा मन्त्री हुल्लराज ने बंकापुर के दो भारी और प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया।[64] इसके अतिरिक्त अन्य अभिलेखों[65] में भी वसदियों या मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाने के उल्लेख मिलते हैं।

(viii) **निषद्या निर्माण**–अर्हदादिकों व मुनियों के समाधिस्थान को निषद्या कहते हैं। श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में निषद्या निर्माण से सम्बन्धित अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। इसका निर्माण प्रकाशयुक्त व एकान्त स्थान पर किया जाता था। यह वसदि से न तो अधिक दूर तथा न ही अधिक समीप होता था। इसका निर्माण समतल भूमि तथा क्षपक वसदि की दक्षिण अथवा पश्चिम दिशा में होता था। अभिलेखों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि निषद्या गुरु, पति, भ्राता, माता आदि की स्मृति में बनवाई जाती थी। चट्टिकब्बे ने अपने पति की निषद्या का निर्माण करवाया था।[66] सिरियब्बे व नागियक्क ने सिङ्गिमय के समाधिमरण करने पर निषद्या का निर्माण करवाया।[67] महानवमी मण्डप में उत्कीर्ण अभिलेख के अनुसार[68] शुभचन्द्र मुनि का स्वर्गवास होने पर उनके शिष्य पद्मनन्दि पण्डितदेव और माधवचन्द्र ने उनकी निषद्या निर्मित करवाई। लक्खनन्दि, माधवेन्द्र और त्रिभुवनमल ने भी अपने गुरु के स्मारक रूप में निषद्या की प्रतिष्ठापना करवाई थी।[69] मुनिराजो के अतिरिक्त राजा या उनके मन्त्री भी अपने गुरु आदि की स्मृति में निषद्या का निर्माण करवाते थे। पोयूसल महाराज गंगनरेश विष्णुवर्द्धन ने अपने गुरु शुभचन्द्र देव की निषद्या निर्मित करवाई थी।[70] मन्त्री नागदेव ने भी अपने गुरु श्री नयनकीर्ति योगीन्द्र की निषद्या निर्मित करवाई।[71] मेघचन्द्र त्रैविद्य के प्रमुख शिष्य प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव ने महाप्रधान दण्डनायक गंगराज से अपने गुरु की निषद्या का निर्माण करवाया था।[72] इनके अतिरिक्त अन्य अभिलेखों में[73] भी निषद्या निर्माण के उल्लेख मिलते हैं।

(ix) **अन्य दान**–पूर्व वर्णित दानों के अतिरिक्त परकोटा निर्माण, तालाब निर्माण, पट्टशाला निर्माण, चैत्यालय निर्माण तथा स्तम्भ प्रतिष्ठा जैसे अन्य दानों के उल्लेख भी आलोच्य अभिलेखों में उपलब्ध होते हैं। गङ्गराज ने गङ्गवाड़ि में प्रतिष्ठापित गोम्मटेश्वर की प्रतिमा का परकोटा तथा अनेक जैन वसदियों का जीर्णोद्धार करवाया।[74] गोम्मटेश्वर द्वार की दायीं ओर एक पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण एक लेख[75] में वर्णन आता है कि बालचन्द्र ने

अपने गुरु के स्मारक स्वरूप अनेक शासन रचे तथा तालाब आदि का निर्माण करवाया। बल्लण के संन्यास विधि से शरीर त्याग करने पर उसकी माता व बहन ने उसकी स्मृति में एक पट्टशाला (वाचनालय) स्थापित करवाई।[76] इनके अतिरिक्त चैत्यालय निर्माण[77] और स्तम्भ प्रतिष्ठापना[78] के वर्णन भी श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में मिलते हैं।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आलोच्यकाल में दान परम्परा का अत्यन्त महत्त्व था। दान प्रायः अपने पूर्वजों की स्मृति में तथा जन-साधारण के उपकार के लिए दिया जाता था। उस समय वसदि निर्माण, मन्दिर निर्माण तथा जीर्णोद्धार, धन दान, मूर्ति दान, निषद्या निर्माण, तालाब, पट्टशाला, चैत्यालय, परकोटा निर्माण आदि के अतिरिक्त निर्माण व जीर्णोद्धार सम्बन्धी कार्यो के लिए ग्राम व भूमि का दान दिया जाता था। ग्राम व भूमि से प्राप्त होने वाली आय से आहार आदि की व्यवस्था भी की जाती थी।

– हिन्दी विभाग

इण्डिया ट्रेड प्रमोशन ऑर्गनाइजेशन

प्रगति भवन, प्रगति मैदान, नई दिल्ली-110001

संदर्भ :

1. परानुग्रहबुद्ध्या स्वस्यातिसर्जन दानम्। (राजवार्तिक 6/12/4/522)
2 धवला 13/5, 5-137/389/12।
3 सवार्थसिद्धि 6/12/338/11।
4. सागारधर्मामृत 5/47।
5. जैन शिलालेख सग्रह, भाग एक, लेख सख्या 99-101, 497।
6 पंचविंशतिका 7/13।
7. जै. शि ले. सं भाग एक, ले. स. 99।
8. जै. शि स. भाग एक, ले. सं. 100।
9. वही ले स 101।
10. वही ले. सं. 56।
11. वही ले. स. 83।
12. वही ले. स. 90।
13. वही ले. सं. 124।

14. वही ले स 136।
15 वही ले स 137।
16 वही ले. स 494।
17. वही ले. स 59।
18. वही ले. स. 80।
19 वही ले स 107।
20 वही ले. सं 486।
21. वही ले स. 491।
22 वही ले स 493।
23 वही ले. स 433 एव 480।
24 जैन शि स भाग एक ले स 495।
25. वही ले. स 496 से 499।
26 वही ले स 92।
27. वही ले स 88-89।
28 वही ले स 133।
29 वही ले स 130।
30. वही ले स 21।
31 वही ले स 51।
32 वही ले स 84, 96, 129, 144, 108, 454, 476-77, 484, 490, 498, 500।
33 वही ले स 87।
34 वही ले. स 93।
35 वही ले. स 138।
36 वही ले स 86।
37 जै शि सं भाग एक, ले स 361।
38 वही ले स 91।
39 वही ले. स 97।
40 वही ले स 131।
41 वही ले स 94-95।
42. वही ले स 98।
43. वही ले स 81।
44 वही ले स 135।
45 वही ले. स 492।
46. वही ले. स. 64।
47. वही ले स. 62।
48. वही ले. स 56।
49 वही ले स 115।
50 वही ले सं. 381।
51 वही ले. स 67।
52 जैन शि स भाग एक ले. स 144
53 वही ले स 494।
54 वही ले स. 136।
55 वही ले स 44-53।
56 वही ले स 499।
57. श्री चामुण्डे राजे करवियले। (जै शि स भग एक ले. स. 75)।
58 वही ले सं 115।
59 वही ले सं 411।
60 वही ले स 437।
61 वही ले स. 59।
62 वही ले स 40।
63 वही ले स 470।
64 वही ले स 137।
65 वही ले स. 134, तथा 499।
66 जै शि स भाग एक, ले स 68।
67 वही ले स 52।
68 वही ले स 41।
69 वही ले स 39।
70 वही ले स 43।
71 वही ले स 42।
72 वही ले. स. 47।
73 वही ले स 48, 40, 41।
74 वही ले स 51, 75, 90।
75 वही ले सं 90।
76. वही ले. सं. 51।
77. वही ले. स. 430।
78. वही ले. सं 46।

श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में वर्णित बैंकिंग प्रणाली

–डॉ. बिशनस्वरूप रुस्तगी

बैंकिंग प्रणाली प्राचीन भारत में अज्ञात नहीं थी। बैंकिंग प्रणाली की स्थापना भारतवर्ष में प्राचीन काल में ही हो गई थी किन्तु यह प्रणाली वर्तमान पाश्चात्य प्रणालियों से भिन्न थी। प्राचीन समय में श्रेणी तथा निगम बैंक का कार्य करते थे। देश की आर्थिक नीति श्रेणी के हाथों में थी। वर्तमान काल के 'भारतीय चैम्बर आफ कामर्स' से इसकी तुलना कर सकते हैं। पश्चिम भारत के क्षत्रप नहपान के दामाद ऋषभदत्त ने धार्मिक कार्यों के लिए तंतुवाय श्रेणी के पास तीन हजार कार्षापण जमा किए थे। उसमें से दो हजार कार्षापण एक कार्षापण प्रति सैकड़ा वार्षिक ब्याज की दर से जमा किए तथा एक हजार कार्षापण पर ब्याज की दर तीन चौथाई पण (कार्षापण का अड़तालिसवाँ भाग) थी।[1] इसी प्रकार के सन्दर्भ अन्य श्रेणी, जैसे तैलिक श्रेणी आदि के वर्णनों में भी मिलते हैं। जमाकर्त्ता कुछ धन जमा करके उसके ब्याज के बदले वस्तु प्राप्त करता रहता था।

इसी प्रकार के उल्लेख श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में भी मिलते हैं। दाता कुछ धन या भूमि आदि का दान कर देता था, जिसके ब्याज स्वरूप प्राप्त होने वाली आय से अष्टविध पूजन, वार्षिक पाद पूजा, पुष्प पूजा, गोम्मटेश्वर-प्रतिमा के अभिषेक हेतु दुग्ध की प्राप्ति, मन्दिरों का जीर्णोद्धार, मुनि संघों के लिए आहार का प्रबन्ध आदि प्रयोजनों की सिद्धि होती थी। इस प्रकार इन अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दसवीं शताब्दी के आसपास बैंकिंग प्रणाली पूर्ण विकसित हो चुकी थी। आलोच्य अभिलेखों में जमा करने की विभिन्न पद्धतियां परिलक्षित होती हैं। गोम्मटेश्वर द्वार के दायीं ओर एक पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण एक अभिलेख के अनुसार[2] कल्लय्य ने कुछ धन इस प्रयोजन से जमा करवाया था कि इसके

ब्याज से छह पुष्प मालाएँ प्रतिदिन प्राप्त होती रहें। इसके अतिरिक्त आलोच्य अभिलेखों में धन की चार इकाइयों–वरह, गद्याण, होन, हग के उल्लेख मिलते हैं। शक संवत् 1748 के एक अभिलेख[3] में वर्णन आता है कि देवराजै अरसु ने गोम्मट स्वामी की पादपूजा के लिए एक सौ बरह का दान दिया। यह धन किसी महाजन या श्रेणी के पास जमा करवा दिया जाता था तथा इसके ब्याज से पाद पूजा के निमित्त उपयोग में आने वाली वस्तुएं खरीदी जाती थीं। तीर्थकर सुत्तालय में उत्कीर्ण एक लेख[4] में वर्णन आता है कि गोम्मट सेट्टि ने गोम्ममटेश्वर की पूजा के लिए बारह गद्याण का दान दिया। पूजा के अतिरिक्त अभिषेकादि के प्रयोजन से भी धन जमा करवाया जाता था। इस धन पर मिलने वाले ब्याज से नित्याभिषेक के लिए दूध लिया जाता था। एक प्रतिज्ञा-पत्र में[5] वर्णन मिलता कि सोवण्ण ने आदिदेव के नित्याभिषेक के लिए पांच गद्याण का दान दिया, जिसके ब्याज से प्रतिदिन एक 'बल्ल' (सम्भवतः दो लीटर से बड़ी माप की इकाई होती थी) दूध दिया जा सके। विन्ध्यगिरि पर्वत एक अभिलेख[6] के अनुसार आदियण्ण ने गोम्मट देव के नित्याभिषेक के लिए चार गद्याण का दान दिया। इस राशि के एक 'होन' (गद्याण से छोटा कोई प्रचलित सिक्का) पर एक 'हाग' मासिक ब्याज की दर से एक 'बल्ल' दूध प्रतिदिन दिया जाता था। यहीं के एक अन्य अभिलेख के अनुसार[7] गोम्मट देव के अभिषेकार्थ तीन मान (अर्थात् छह लीटर) दूध प्रतिदिन देने के लिए चार गद्याण का दान दिया गया। अन्य अभिलेख में[8] वर्णन मिलता है कि केति सेट्टि ने गोम्मट देव के नित्याभिषेक के लिए तीन गद्याण का दान दिया, जिसके ब्याज से तीन मान दूध लिया जाता था। उपर्युक्त ये तीनों ही अभिलेख तत्कालीन ब्याज की प्रतिशतता जानने के प्रामाणिक साधन हैं किन्तु इन अभिलेखों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उस समय ब्याज की प्रतिशतता कोई निश्चित नहीं थी। क्योंकि वे दोनों लेख एक ही स्थान (विन्ध्यगिरि पर्वत) तथा एक ही वर्ष (शक संवत् 1197) के हैं किन्तु एक अभिलेख मे चार गद्याण के ब्याज से प्रतिदिन तीन मान दूध तथा दूसरे में तीन गद्याण के ब्याज से भी तीन मान दूध प्रतिदिन मिलता था।

पूजा एवं नित्याभिषेकादि के अतिरिक्त प्रयोजनों के लिए भी धन का का दान दिया जाता था। दानकर्त्ता कुछ धन को जमा करवा देता था तथा उससे प्राप्त होने वाले ब्याज से मन्दिरों-वसदियों का जीर्णोद्धार तथा मुनियों को प्रतिदिन आहार दिया जाता था। पहले बेलगोल में ध्वंस वसदि के समीप एक पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण एक अभिलेख[9] में वर्णन आया है कि त्रिभुवनमल्ल एरेयङ्ग ने वसदियो के जीर्णोद्धार एवं आहार आदि के लिए बारह गद्याण जमा करवाए। श्री अतिमब्बे ने भी चार गद्याण का दान दिया।[10] धन दान के अतिरिक्त भूमि तथा ग्राम देने के भी उल्लेख अभिलेखों में मिलते हैं। इसे 'निक्षेप' नाम से संज्ञित किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत कुछ सीमित वस्तु देकर प्रतिवर्ष या प्रतिमास कुछ धन या वस्तु ब्याज स्वरूप ली जाती थी। शक संवत् 1100 के एक अभिलेख के अनुसार[11] बेल्गुल के व्यापारियों ने गङ्गसमुद्र और गोम्मटपुर की कुछ भूमि खरीदकर गोम्मट देव की पूजा के निमित्त पुष्प देने के लिए एक माली को सदा के लिए प्रदान की। चिक्क मदुकण्ण ने भी कुछ भूमि खरीदकर गोम्मट देव की प्रतिदिन पूजा हेतु बीस पुष्प मालाओ के लिए अर्पित कर दी।[12] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भूमि से होने वाली आय का कुछ प्रतिशत धन या वस्तु देनी पड़ती थी। इसी प्रकार के भूमि दान से सम्बन्धित उल्लेख अभिलेखों में मिलते हैं। तत्कालीन समाज में भूमि दान के साथ-साथ ग्राम दान की परम्परा भी विद्यमान थी। ग्राम को किसी व्यक्ति को सौंप दिया जाता था तथा उससे प्राप्त होने वाली आय से अनेक धार्मिक कार्यो का सम्पादन किया जाता था। एक अभिलेख के अनुसार[13] दानशाला और बेल्गुल मठ की आजीविका हेतु 80 वरह की आय वाले कबालु नामक ग्राम का दान दिया गया। इसके अतिरिक्त जीर्णोद्धार, आहार, पूजा आदि के लिए ग्राम दान के उल्लेख मिलते हैं।

आलोच्य अभिलेखों में कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जिसमें किसी वस्तु या सम्पत्ति को न्यास के रूप में रखकर ब्याज पर पैसा ले लिया जाता था तथा पैसा लौटाने पर सम्पत्ति को वापिस कर दिया जाता था।

इस जमा करने के प्रकार को 'अन्विहित' कहा जाता था। ब्रह्मदेव मण्डप के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार[14] महाराजा चामराज औडेयर ने चेन्नन्न आदि साहूकारों को बुलाकर कहा कि तुम बेल्गुल मन्दिर की भूमि मुक्त कर दो, हम तुम्हारा रुपया देते हैं। इसी प्रकार का वर्णन एक अन्य अभिलेख में भी मिलता है।[15] इसके अतिरिक्त प्रतिमास या प्रति वर्ष जमा कराने की परम्परा उस समय विद्यमान थी। इसकी समानता वर्तमान आवर्ति जमा योजना (Recurring Deposit Scheme) से की जा सकती है। इसमें पैसा जमा किया जाता था तथा उसी पैसे से अनेक कार्यो का सम्पादन किया जाता था। विन्ध्यगिरि पर्वत के एक अभिलेख के अनुसार[16] बेल्गुल के समस्त जौहरियों ने गोम्मटदेव और पार्श्वदेव की पुष्प-पूजा के लिए वार्षिक धन देने का संकल्प किया। एक अन्य अभिलेख[17] में वर्णन आता है कि अङ्गरक्षकों की नियुक्ति के लिए प्रत्येक घर से एक 'हण' (सम्भवतः तीस पैसे के समकक्ष कोई सिक्का) जमा करवाया जाता था। जमा करने के लिए श्रेणी या निगम कार्य करता था। इस प्रकार जमा करने की विभिन्न पद्धतियां उस समय विद्यमान थीं।[18]

ब्याज की प्रतिशतता–आलोच्य अभिलेख तत्कालीन ब्याज की प्रतिशतता जानने के प्रामाणिक साधन हैं। इन अभिलेखों में ब्याज के रूप में दूध प्राप्त करने के उल्लेख अधिक मात्रा में हैं। इसलिए सर्वप्रथम हमें दूध के माप की इकाइयॉं जान लेनी चाहिएं। अभिलेखों में दूध के माप की दो इकाइयां मिलती हैं–मान और बल्ल। मान दो लिटर के बराबर का कोई माप होता था तथा बल्ल दो लिटर से बड़ा कोई माप रहा होगा, जो अब अज्ञात है। गोम्मटेश्वर द्वार के दायीं ओर एक पाषाण पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार[19] गोम्मटदेव के अभिषेकार्थ तीन मान दूध प्रतिदिन देने के लिए चार गद्याण का दान दिया। अतः यह समझा जा सकता है कि चार गद्याण का ब्याज इतना होता था जिससे तीन मान अर्थात् लगभग छह लिटर दूध प्रतिदिन खरीदा जा सकता था। किन्तु अन्य अभिलेख[20] के अनुसार केति सेट्टि ने गोम्मटदेव के नित्याभिषेक के लिए तीन गद्याण

का दान दिया, जिसके ब्याज से प्रतिदिन तीन मान दूध लिया जा सके। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि उस समय की ब्याज की प्रतिशतता कोई निश्चित नहीं थी। क्योंकि उपरोक्त दोनों अभिलेख एक ही स्थान तथा एक ही वर्ष के हैं। तब भी जमा की गई राशि भिन्न-भिन्न है। ब्याज की प्रतिशतता के किसी निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले तत्कालीन धन की इकाइयों को जान लेना आवश्यक है।

एक गद्याण	=	60 पै. के समान
एक हण	=	5 पै. के समान
एक वरह	=	30 पै. के समान
एक होन या होग	=	25 पै. के समान
एक हाग	=	3 पै. के समान

इस प्रकार धन की इकाइयों का ज्ञान होने के पश्चात् अभिलेखों में आए ब्याज सम्बन्धी उल्लेखों का समझना सुगम हो जाता है। 1275 ई. के अभिलेख[21] में वर्णन आता है कि आदियण्ण ने गोम्मटदेव के नित्याभिषेक के लिए चार गद्याण का दान दिया। इस रकम के एक 'होन' पर एक 'हाग' मासिक ब्याज की दर से एक 'बल्ल' दूध प्रतिदिन दिया जाए। अतः उस समय 25 पैसे पर 3 पैसे प्रतिमास ब्याज दिया जाता था। जिससे ब्याज की प्रतिशतता 12% निकलती है। जबकि 1206 ई. अभिलेख[22] के अनुसार नगर के व्यापारियों को यह आज्ञा दी गई कि वे सदैव आठ हण का टैक्स दिया करेंगे, जिससे एक हण ब्याज में आ सकता है अर्थात 40 पैसे पर 5 पैसे ब्याज मिलने से यह सिद्ध होता है कि ब्याज की मात्रा 12 1/2% प्रतिमास थी। उपरोक्त दोनों अभिलेखों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बारहवीं–तेरहवीं शताब्दी में ब्याज की मासिक प्रतिशतता 12% के आस-पास थी।

प्राचीन योजनाएं : आधुनिक सन्दर्भ में:–आलोच्य अभिलेखों के अध्ययन से यह ज्ञात होता कि कि उस समय भी आज की भाँति

विभिन्न बैंकिंग योजनाएँ प्रचलित थीं, जिनमें निक्षेप, न्यास, औपनिधिक, अन्विहित, याचितक, शिल्पिन्यास, प्रतिन्यास आदि प्रमुख थीं। ये अभिलेख उस समय की आर्थिक व्यवस्था का दिग्दर्शन कराते हैं जबकि क्रय-विक्रय विनिमय के माध्यम से होता था। जमाकर्त्ता कुछ धन या वस्तु जमा करवाकर उसके बदले ब्याज में नगद राशि न लेकर वस्तु ही लेता था। इसी प्रकार के उद्धरण, जो आलोच्य अभिलेखों में आए हैं, का विवेचन पहले किया जा चुका है। धन जमा करवाकर उसके ब्याज के रूप में दूध या पुष्प आदि लेना या भूमि देकर उससे अन्य अभीप्सित वस्तुओं की प्राप्ति करना।

उपरोक्त प्राचीन योजनाओं में से श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में दो योजनाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिन्हें आधुनिक सन्दर्भ में स्थायी बचत योजना और आवर्ति जमा योजना कहा जा सकता है। स्थायी बचत योजना की समानता प्राचीन काल में प्रचलित 'औपानिधिक' नामक योजना से कर सकते हैं। इसके उदाहरण के रूप में हम उन अभिलेखों को ले सकते हैं जिनमें कुछ धन जमा करवाकर उसके ब्याज के रूप में कोई वस्तु (दूध, पूजा सामग्री आदि) सदैव लेते रहते थे। आवर्ति जमा योजना के अन्तर्गत हम उन उदाहरणों को देख सकते हैं जिनमें कुछ धन की इकाई प्रतिमास, प्रतिवर्ष जमा करवाई जाती थी।[23] इन दो योजनओं के अतिरिक्त अग्रिम ऋण योजना (Advance Loan Scheme) की झलक भी इन अभिलेखों में मिलती है। इनसे ज्ञात होता है कि सम्पत्ति जमता करने पर कुछ धन ऋण स्वरूप मिल जाता था और जब यह धन जमा न करवाया जा सका तो उसका भुगतान करने की इच्छा महाराजा चामराज औडेयर ने रहनदारों के समक्ष व्यक्त की।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष में बैंकिंग प्रणाली ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से पहले विद्यमान थी। आलोच्य-काल में बैंक से सम्बन्धित

विभिन्न प्रकार की पद्धतियां विद्यमान थीं तथा जमा राशि पर लगभग 12% ब्याज दिया जाता था।

–रामजस कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली-110007

संदर्भ :

1. ए. इ. भाग आठ नासिक लेख।
2. जै. शि. सं. भाग एक ले. सं. 93।
3. जै. शि. सं. भाग एक, ले. सं. 98।
4. वही ले. सं. 81।
5. वही ले. सं. 131।
6. वही ले. स. 97।
7. वही ले. स. 94।
8. वही ले. सं. 95।
9. वही ले. सं. 412।
10. वही ले. सं. 135।
11. वही ले. सं. 92।
12. वही ले. सं. 495।
13. वही ले. सं. 53, 51, 96, 106, 129, 454, 476 आदि।
14. वही ले. सं. 433।
15. वही ले. सं. 84।
16. वही ले. सं. 140।
17. वही ले. सं. 91।
18. वही ले. सं. 94।
19. जै. शि. स. भा एक, ले स. 95।
20. वही ले. स. 97।
21. वही ले. सं. 128।
22. वही ले. सं. 91, 128, 136 आदि।
23. वही ले. सं. 84, 140।

जन-जन की श्रद्धा के प्रतीक भगवान् गोम्मटेश

–समुत प्रसाद जैन

जैन धर्म के आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव के परम पराक्रमी पुत्र, पोदनपुर नरेश, प्रथम कामदेव, तद्भव मोक्षगामी बाहुबली की समस्त भारत में गोम्मटेश के रूप में वन्दना की जाती है। भगवान् श्री ऋषभदेव की रानी यशस्वती ने भरत आदि निन्यानवे श्रेष्ठ पुत्र एवं कन्यारत्न ब्राह्मी को जन्म दिया। दूसरी रानी सुनन्दा से सुन्दरी नामक कन्या एवं पुत्र बाहुबली का जन्म हुआ। सुन्दरी और बाहुबली को पाकर रानी सुनन्दा ऐसी सुशोभित हुई जैसे पूर्व दिशा प्रभा के साथ-साथ सूर्य को पाकर सुशोभित होती है। सुन्दर एवं हृष्ट-पुष्ट बालक बाहुबली को देखकर नगर-जन मुग्ध हो जाते थे। नगर की स्त्रियाँ उसे मनोभव, मनोज मनोभू, मन्मथ, अंगज, मदन आदि नामों से पुकारती थीं। अष्टमी के चन्द्रमा के समान बाहुबली के सुन्दर एवं विस्तृत ललाट को देखकर ऐसा लगता था मानो ब्रह्मा ने राज्यपट्ट को बांधने के लिए ही उसे इतना विस्तृत बनाया है। **बाहुबली के वक्षस्थल पर पांच सौ चार लड़ियों से गुम्फित विजयछन्द हार इस प्रकार शोभायमान होता था जैसे विशाल मरकत मणि पर्वत पर असंख्य निर्झर प्रवाहित हो रहे हों।**

भगवान् ऋषभदेव ने स्वयं अपनी सभी पुत्र-पुत्रियों को सभी प्रकार की विद्याओं का अभ्यास एवं कलाओं का परिज्ञान कराया। कुमार बाहुबली को उन्होंने विशेष कामनीति, स्त्री-पुरुषों के लक्षण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, घोड़ा-हाथी आदि के लक्षण जानने के तन्त्र और रत्न परीक्षा आदि के शास्त्रों में निपुण बनाया। सुन्दर वस्त्राभूषणों से सज्जित, विद्याध्ययन में तल्लीन ऋषभ-सन्तति को देखकर पुरजन पुलकित हो उठते थे। आचार्य जिनसेन ने इन पुत्र-पुत्रियों से शोभायमान भगवान् ऋषभदेव की तुलना ज्योतिषी देवों के समूह से घिरे हुए ऊंचे मेरु पर्वत से की है।

उन सब राजकुमारों में तेजस्वी भरत सूर्य के समान सुशोभित होते थे और बाहुबली चन्द्रमा के समान शेष राजपुत्र ग्रह, नक्षत्र तथा तारागण के समान शोभायमान होते थे। ब्राह्मी दीप्ति के समान और सुन्दरी चांदनी के समान कान्ति बिखेरती थीं।

भगवान् ऋषभदेव को कालान्तर में नीलांजना अप्सरा का नृत्य देखते-देखते संसार से वैराग्य हो गया। उन्होंने महाभिनिष्क्रमण के समय अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत का राज्याभिषेक कराकर युवराज पद पर बाहुबली को प्रतिष्ठित किया। शेष पुत्रों के लिए भी उन्होंने विशाल पृथ्वी का विभाजन कर दिया। राजा भरत ने सम्पूर्ण पृथ्वीमंडल को एकछत्र शासन के अन्तर्गत संगठित करने की भावना से दिग्विजय का अभियान किया। उन्होंने अपने परम पौरुष से हिमवान् पर्वत से लेकर पूर्व दिशा के समुद्र तक और दक्षिण समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक समस्त पृथ्वी को वश में कर चक्रवर्ती राज्य की प्रस्थापना की।

साठ हजार वर्ष की विजय यात्रा के उपरान्त सम्राट् भरत ने जब अपनी राजधानी अयोध्या नगरी में प्रवेश किया, उसय समय सेना की अग्रिम पंक्ति में निर्बाध रूप से गतिशील चक्ररत्न सहसा रुक गया। सम्राट् भरत इस घटना से विस्मित हो गए। उन्होंने अपने पुरोहित एवं मन्त्रियों से प्रश्न किया कि अब क्या जीतना शेष रह गया है? निमित्तज्ञानी पुरोहित ने युक्तिपूर्वक निवेदन किया कि आपके भाइयों ने अभी तक आपकी आधीनता स्वीकार नहीं की है।

चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना में संलग्न महाबाहु भरत को यह विश्वास था कि उनके सहोदर उनकी आधीनता को स्वीकार कर लेंगे। किन्तु स्वतन्त्रता प्रेमी सहोदरों द्वारा भरत को इस भूतल का एकमात्र अधिपति न मान पाने के कारण सम्राट् भरत को क्रोध हो आया। उनके मन में यह विश्वास हो गया कि यद्यपि उनके सौ भाई हैं, किन्तु वे सभी स्वयं को अवध्य मानकर प्रणाम करने और मेरी आधीनता मानने से विमुख हो रहे हैं। निमित्तज्ञानी पुरोहित की मन्त्रणा से अनुज बन्धुओं को

अनुकूल बनाने के लिए विशेष दूत भेजे गए। बाहुबली के अतिरिक्त सम्राट् भरत के शेष अन्य सहोदरों ने पिता के न होने पर बड़ा भाई ही छोटे भाईयों के द्वारा पूज्य होता है, ऐसा मानकर अपने पिताश्री से मार्गदर्शन लेने का निर्णय किया। उन्होंने कैलाश पर्वत पर स्थित जगतवन्दनीय भगवान् ऋषभदेव के पावन चरणों की वन्दना के पश्चात् उनसे निवेदन किया–

त्वत्प्रणामानुरक्तानां त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिणाम्।
त्वद्वचःकिंकराणां नो यद्वा तद्वाऽस्तु नापरम्।।

(आदिपुराण, पर्व 34/102)

अर्थात् आपको प्रणाम करने में तत्पर, हम लोग अन्य किसी की उपासना नहीं करना चाहते।

तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपने धर्मपरायण पुत्रों का मार्गदर्शन करते हुए कहा–

भंगिना किमु राज्येन जीवितेन चलेन किम्।
किं च भो यौवनोन्मादैरैश्वर्यबलदूषितैः।।
किं च भो विषयास्वादः कोऽप्यनास्वादितोऽस्ति वः।
स एव पुनरास्वादः किं तेनास्त्याशितंभवः।।
यत्र शस्त्राणि मित्राणि शत्रवः पुत्रबान्धवाः।
कलत्रं सर्वभोगीणा धरा राज्यं धिगीदृशम्।।
तदलं स्पर्द्धया दध्वं यूयं धर्ममहातरोः।
दयाकुसुममम्लानि यत्तन्मुक्तिफलप्रदम्।।
पराराधनदैन्योनं परैराराध्यमेव यत्।
तद्वो महाभिमानानां तपो मानाभिरक्षणम्।।
दीक्षा रक्षा गुणा भृत्या दयेयं प्राणवल्लभा।
इति ज्याय स्तपोराज्यमिदं श्लाघ्यपरिच्छदम्।।

(आदिपुराण, पर्व 34)

अर्थात् हे पुत्रों ! इस विनाशी राज्य से क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? इस राज्य के लिए ही शत्रु मित्र हो जाते हैं, पुत्र और भाई शत्रु हो जाते हैं तथा सबके भोगने योग्य पृथ्वी ही स्त्री हो जाती है। ऐसे राज्य को धिक्कार हो। तुम लोग धर्म वृक्ष के दयारूपी पुष्प को धारण करो जो कभी भी म्लान नहीं होता और जिस पर मुक्तिरूपी महाफल लगता है। उत्तम तपश्चरण ही मान की रक्षा करने वाला है। दीक्षा ही रक्षा करने वाली है, गुण ही सेवक है, और यह दया ही प्राणप्यारी स्त्री है। इस प्रकार जिसकी सब सामग्री प्रशंसनीय है ऐसा यह तपरूपी राज्य ही उत्कृष्ठ राज्य है। भगवान् ऋषभदेव के मुखारविन्द से सांसारिक सुखों की नश्वरता और मुक्ति लक्ष्मी के शास्वत सुख के उपदेशामृत का श्रवण कर भरत के सभी अनुजों ने दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली। स्वतन्त्रता प्रेमी पोदनपुर नरेश बाहुबली अब सम्राट् भरत के लिए एकमात्र चिन्ता का कारण रह गये।

सम्राट् भरत अपने अनुज बाहुबली के बुद्धिचातुर्य एवं रणकौशल से अवगत थे। आदिपुराण के पैंतीसवें पर्व (पद्य 6-7) में वह बाहुबली को तरुण बुद्धिमान, परिपाटी विज्ञ, विनयी, चतुर और सज्जन मानते हैं। पद्य 8 में वे बाहुबली की अप्रतिम शक्ति, स्वाभिमान, भुजबल की प्रशंसा करते हैं। बाहुबली के सम्बन्ध में विचार करते हुए सम्राट् भरत का मन यह स्वीकार करता है कि वह नीति में चतुर होने से अभेद्य है, अपरिमित शक्ति का स्वामी होने के कारण युद्ध में अजेय है, उसका आशय मेरे अनुकूल नहीं है। इसलिए शान्ति का प्रयोग भी नहीं किया जा सकता। अर्थात् बाहुबली के सम्बन्ध में भेद, दण्ड और साम तीनों ही प्रकार के उपायों से काम नहीं लिया जा सकता। अपभ्रंश कवि स्वयम्भूदेव एवं पुष्पदन्त ने महाबली बाहुबली की अपरिमित शक्ति से सम्राट् भरत को अवगत कराने के लिए क्रमशः मंत्री एवं पुरोहित का विधान किया है। महाकवि स्वयम्भू के पउमचरिउ का मन्त्री राजाधिराज भरत से कहता है–

पोअण-परमेसरु चरम-देहु। अखलिय-मरट्टु जयलच्छि-गेहु।।
दुव्वार-वइरि-वीरन्त-कालु। णामेण वाहुबलि वल-विसालु।।

सीहु जेम पक्खरियउ खन्तिऍं धरियउ जइ सो कह वि वियट्टइ।
तो सहुँ खन्धावारें एक्क-पहारें पइ मि देव दलवट्टइ।।

(पउमचरिउ, चौथी सन्धि 2/6-9)

अर्थात् पोदनपुर का राजा और चरमशरीरी, अस्खलितमान और विजय लक्ष्मी का घर, दुर्जेय शत्रुओं के लिए यम, बल में महान्, नाम से बाहुबली, सिह की तरह संनद्ध परम क्षमाशील वह यदि किसी तरह विघटित होता है तो हे देव ! वह स्कंधावार सहित आपको भी एक ही प्रहार में चूर-चूर कर देगा।

महाकवि पुष्पदन्त ने 'महापुराण' (सन्धि 16/11) में चतुर पुरोहित के द्वारा बाहुबली की साधन सम्पन्नता एवं शौर्य से राजा भरत को परिचित कराते हुए कहा है कि बाहुबली के पास कोश, देश, पदभक्त, परिजन, सुन्दर अनुरक्त अन्तःपुर, कुल, छल-बल, सामर्थ्य, पवित्रता, निखिलजनों का अनुराग, यशकीर्तन, विनय, विचारशील बुध संगम, पौरुष बुद्धि, ऋद्धि, देवोद्यम गज, राजा, जंगम महीधर, रथ, करभ और तुरंगम हैं।

इस प्रकार की अकल्पित स्थिति के निवारण के लिए बाहुबली के पास दूत मन्त्री भेजने का निर्णय लिया गया। महाकवि स्वयम्भू के अनुसार राजा भरत ने अपने मन्त्रियों को परामर्श दिया कि वे बाहुबली को उनकी आज्ञा स्वीकार करने का आदेश दें और यदि वह मेरे प्रभुत्व को स्वीकार न करें तो इस प्रकार की युक्ति निकाली जाए जिससे हम दोनों का युद्ध अनिवार्य हो जाए। महाकवि पुष्पदन्त के पुरोहित ने सम्राट् भरत को परामर्श दिया कि आप उसके पास दूत भेजें। यदि वह आपको नमन करता है तो उसका पालन किया जाए अन्यथा बाहुबली को पकड़ लिया जाए और उसे बांधकर कारागार में डाल दिया जाए।

आदिपुराण का सम्राट् भरत बाहुबली द्वारा आधीनता न स्वीकार करने पर दुःखी है और उसकी समझ में यह नहीं आ रहा है कि मेरे अनुज बाहुबली ने ऐसा क्यों किया? उसने बाहुबली को अपने अनुकूल बनाने के लिए निःसृष्टार्थ राजदूत सरस्वती एवं लक्ष्मी से मंडित परमसुन्दर बाहुबली

की अपूर्व कान्ति को देखकर मुग्ध हो गया। बाहुबली के सौन्दर्य में उसे तेज रूप परमाणुओं का दर्शन हुआ। चतुर राजदूत की कूटनीति को विफल करते हुए युवा बाहुबली ने आक्षेप सहित कहा–

प्रेम और विनय ये दोनों परस्पर मिले हुए कुटुम्बी लोगों में ही सम्भव हो सकते हैं। बड़ा भाई नमस्कार करने योग्य है यह बात अन्य समय में अच्छी तरह हमेशा हो सकती है परन्तु जिसने मस्तक पर तलवार रख छोड़ी है उसको प्रणाम करना यह कौन-सी रीति है? तेजस्वी मनुष्यों के लिए जो कुछ थोड़ा-बहुत अपनी भुजारूपी वृक्ष का फल प्राप्त होता है वही प्रशंसनीय है, उनके लिए दूसरे की भौंहरूपी लता का फल अर्थात् भौंह के इशारे से प्राप्त हुआ चार समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का ऐश्वर्य भी प्रशंसनीय नहीं है। जो पुरुष राजा होकर भी दूसरे के अपमान से मलिन हुई विभूति को धारण करता है निश्चय से उस मनुष्यरूपी पशु के लिए उस राज्य की समस्त सामग्री भार के समान है। वन में निवास करना और प्राणों को छोड़ देना अच्छा है किन्तु अपने कुल का अभिमान रखने वाले पुरुष को दूसरे की आज्ञा के अधीन रहना अच्छा नहीं है। धीर-वीर पुरुषों को चाहिए कि वे इन नश्वर प्राणों के द्वारा अपने अभिमान की रक्षा करें क्योंकि अभिमान के साथ कमाया हुआ यश इस संसार को सदा सुशोभित करता है।

सम्राट् भरत की राज्यलिप्सा का विरोध करते हुए बाहुबली स्पष्ट शब्दों में कहते हैं–

दूत तातवितीर्णां नो महीमेनां कुलोचिताम्।
भ्रातृजायामिवाऽऽदित्सो र्नास्य लज्जा भवत्पतेः।।
देयमन्यत् स्वतन्त्रेण यथाकामं जिगषुणा।
मुक्त्वा कुलकलत्रं च क्षमातलं च भुजार्जितम्।।
भूयस्त दलमालप्य स वा भुङ्क्तां महीतलम्।
चिरमेकातपत्राङ्कमहं वा भुजविक्रमी।।

(आदिपुराण, पर्व 35)

हे दूत! पिताजी के द्वारा दी हुई. यह हमारे ही कुल की पृथ्वी भरत के लिए भाई की स्त्री के समान है। अब वह उसे ही लेना चाहता है! तेरे ऐसे स्वामी को क्या लज्जा नहीं आती? जो मनुष्य स्वतन्त्र है और इच्छानुसार शत्रुओं को जीतने की इच्छा रखते हैं वे अपने कुल की स्त्रियों और भुजाओं से कमाई हुई पृथ्वी को छोड़कर बाकी सब कुछ दे सकते हैं। इसलिए बार-बार कहना व्यर्थ है, एक छत्र से चिह्नित इस पृथ्वी को वह भरत ही चिरकाल तक उपभोग करे अथवा भुजाओं में पराक्रम रखने वाला मैं ही उपभोग करूँ। मुझे पराजित किये बिना वह इस पृथ्वी का उपभोग नहीं कर सकता। महाकवि स्वयंभू के 'पउमचरिउ' का मन्त्री राजा बाहुबली को उत्तेजित करने के लिए कहता है कि जिस प्रकार अन्य भाई सम्राट् भरत की आज्ञा मानकर रहते हैं, उसी प्रकार आप भी रहिए। स्वाभिमानी बाहुबली उत्तर देते हैं कि यह धरती तो पिताजी की देन है। मैं किसी अन्य की सेवा नहीं कर सकता। बाहुबली द्वारा अपने पक्ष का औचित्य सिद्ध करने और सम्राट् भरत की आधीनता न स्वीकार करने पर भरत के मन्त्री ने क्रोध के वशीभूत होकर बाहुबली के स्वाभिमान को ललकारते हुए कहा–

'जइ वि तुज्झु इमु मण्डलु वहु-चिन्तिय-फलु आसि समप्पिउ वप्पें।
गामु सीमु खलु खेत्तु वि सरिसव-मेत्तु वि तो वि णाहिँ विणु कप्पें।।

(पउमचरिउ)

अर्थात् यदि तुम समझते हो कि यह धरती-मण्डल तुम्हें पिताजी ने बहुत सोच-विचार कर दिया है, तो याद रखो गांव, सीमा, खलिहान और खेत, एक सरसों भर भी, बिना कर दिये तुम्हारे नहीं हो सकते।

महाभारत में भगवान् कृष्ण से कौरवराज दुर्योधन ने इसी प्रकार की दर्पपूर्ण भाषा का प्रयोग किया था। मन्त्री के प्रत्युत्तर में महापराक्रमी बाहुबली ने वीरोचित उत्तर देते हुए कहा–वह एक चक्र के बल पर गर्व कर रहा है। वह नहीं जानता कि चक्र से उसका मनोरथ सिद्ध नहीं होगा। मैं उसे युद्धक्षेत्र में ऐसा कर दूंगा जिससे उसका मान सदा के लिए चूर हो जाए।

महाकवि पुष्पदन्त के महाकाव्य का राजदूत सम्राट् भरत की अपरिमित शक्ति का विवेचन कर बाहुबली को युद्ध में पराजित होने का भय दिखलाकर भरत को कर देने का सुझाव देता है। स्वाभिमानी बाहुबली अपने आन्तरिक गुणों के अनुरूप राजदूत को गागर में सागर जैसा उत्तर देते हुए कहते हैं–

कंदप्पु अदप्पु ण होमि हउं दूययकरउ णिवारिउ।।
संकप्पें सो महु केरएण पहु डज्झिहइ णिरारिउ।।

(महापुराण)

अर्थात् मैं (कामदेव) हूं, अदर्प (दर्पहीन) नहीं हो सकता। मैंने दूत समझकर मना किया है। मेरे संकल्प से वह राजा निश्चित रूप से दग्ध होगा।

एक सिद्धान्त प्रिय राजा के रूप में बाहुबली राज्य के वर्चस्व को बनाए रखने के लिए अपने पराक्रमी अग्रज भ्राता से भी युद्ध करने को सन्नद्ध हो जाते हैं। एक ऐतिहासिक सत्य यह भी है कि महाकवि स्वयम्भू, आचार्य जिनसेन एवं महाकवि पम्प (सन् 941 ई.) ने 'आदिपुराण' (कन्नड) में यश को ही राजा की एकमात्र सम्पत्ति घोषित किया है। इसीलिए भगवान् बाहुबली के विराट् व्यक्तित्व में 8वीं-9वीं शताब्दी के भारतीय इतिहास के प्राणवान् मूल्य स्वयमेव समाहित हो गए हैं। राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित अपराजेय बाहुबली राज्यलक्ष्मी के मद से पीड़ित राजा भरत के राजदूत के अनीतिपूर्ण प्रस्ताव की अवहेलना करके पोदनपुर के नगरजनों को अपने परिवार का अभिन्न अंग मानते हुए ओजपूर्ण वाणी में कहते हैं–

जं दिण्णं महेसिणा दुरियणासिणा णयरदेसमेत्तं।
तं मह लिहियसासणं कुल विहूसणं हरइ को पहुत्तं।।
केसरिकेसरू वरसइथणयलु, सुहडहु सरणु मज्झु धरणीयलु।
जो हत्थेण छिवइ सो केहउ, किं कयंतु कालाणलु जेहउ।।

(महापुराण)

अर्थात् पापों को नाश करने वाले महर्षि ऋषभ ने जो सीमित नगर देश दिये हैं वह मेरे कुलविभूषित लिखित शासन हैं, उस प्रभुत्व का कौन अपहरण करता है? सिंह की अयाल, उत्तम सती के स्तन तल, सुभट की शरण और मेरे धरणी तल को जो अपने हाथ से छूता है, मैं उसके लिए यम और कालानल के समान हूँ?

पोदनपुर के सुखी नागरिक भी अपने राजा बाहुबली की लोककल्याणकारी नीतियों के अनुगामी थे। युद्ध का अवसर उपस्थित होने पर पोदनपुर के निवासियों में उत्साह का वातावरण बन गया। पोदनपुर की जनता के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए आचार्य जिनसेन ने कहा है, "जो पुरुष अवसर पड़ने पर स्वामी का साथ नहीं देते वे घास-फूस के बने हुए पुरुषों के समान सारहीन हैं।"

चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना में संलग्न सम्राट् भरत ने राजदूतों के विफल हो जाने पर स्वतन्त्रता-प्रेमी राजा बाहुबली के राज्य पोदनपुर पर चतुरंगिनी सेना के द्वारा घेरा डाल दिया।

महाकवि स्वयम्भू के अनुसार राजा बाहुबली के दूतों ने उसे भरत के युद्धाभियान की सूचना देते हुए कहा–शीघ्र ही निकलिए देव! प्रतिपक्ष समुद्र की भांति वेगवान गति से बढ़ रहा है। अपने राज्य पर शत्रु-पक्ष के प्रबल आक्रमण को देखकर शूरवीर बाहुबली ने रणक्षेत्र में विशेष सज्जा की। महाकवि स्वयम्भू के अनुसार बाहुबली की एक ही सेना ने भरत की सात अक्षौहिणी सेना को क्षुब्ध कर दिया। रणक्षेत्र में एकत्रित सम्राट् भरत एवं पोदनपुर नरेश बाहुबली की सेनाओं में युद्ध हुआ अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में जैन पुराणकारों में मतभेद है। आचार्य रविषेण (पद्मपुराण पर्व 4/69) के अनुसार दोनों पक्षों में हाथियों के समूह की टक्कर से उत्पन्न हुए शब्द से युद्ध प्रारम्भ हुआ। उस युद्ध में अनेक प्राणी मारे गए। आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण (सर्ग 11/79) में दोनों सेनाओं के मध्य विवता नदी के पश्चिमी भाग में हुई मुठभेड़ का उल्लेख किया है। महाकवि स्वयम्भू के पउमचरिउ (संधि 4/8/8) के अनुसार रक्तरंजित तीरों

से दोनों सेनाएँ ऐसी भयंकर हो उठीं मानो दोनों कुसुम्भी रंग में रंग गयी हों। महकवि पुष्पदन्त के महापुराण के अनुसार दोनों सेनाओं की युद्ध सज्जा अभूतपूर्व थी और किसी भी क्षण पृथ्वी पर विराट् युद्ध होने की स्थिति बन गई थी। आचार्य जिनसेन के आदिपुराण में दोनों राजाओं की सेनाएं युद्धक्षेत्र में आ गई थीं किन्तु दोनों में युद्ध नहीं हुआ। उनके अनुसार युद्ध का श्रीगणेश होने से पहले ही दोनों पक्षों के मन्त्रियों ने आवश्यक मन्त्रणा के उपरान्त दोनों राजाओं को परस्पर तीन प्रकार के युद्ध–जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और बाहुयुद्ध के लिए तैयार कर लिया था। स्वयम्भू के 'पउमचरिउ', आचार्य जिनसेन के 'हरिवंशपुराण', पुष्पदन्त के 'महापुराण' के अनुसार दोनों पक्षों के मन्त्रियों ने देशवासियों के व्यापक हित और परिस्थितियों का आकलन करते हुए दोनों राजाओं से परस्पर तीन प्रकार के युद्ध करने का प्रस्ताव रखा था। युद्ध में पराक्रम एवं पौरुष के प्रदर्शन के लिए उत्सुक सेना को युद्ध-विराम का आदेश देने के लिए महाकवि पुष्पदन्त ने एक नाटकीय युक्ति का प्रयोग किया है–

'बिहिं बलहं मज्झि जो मुयइ बाण। तहु होसइ रिसहहु तणिय आण'

अर्थात् दोनों सेनाओं के बीच जो बाण छोड़ता है, उसे श्री ऋषभनाथ की शपथ।

प्रारम्भिक जैन साहित्य का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि युद्धक्षेत्र में दोनों पक्षों के निरपराध योद्धाओं को मृत्यु के मुख का आलिंगन करते हुए देखकर उदारचेता बाहुबली ने स्वयं सम्राट् भरत के सम्मुख दृष्टि युद्ध का प्रस्ताव रखा था। आचार्य रविषेण के अनुसार सम्राट भरत के युद्धोन्मादजन्य परिणामों को दृष्टिगत करते हुए भुजाओं के बल से सुशोभित बाहुबली ने हँसकर राजा भरत से कहा कि इस प्रकार से निरपराध प्राणियों के वध से हमारा और आपका क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है। उसने स्वयं एक महायोद्धा की भाँति मानवीय समस्याओं के निदान के लिए अहिंसक युद्ध का प्रस्ताव राजा भरत के सम्मुख रखा–

अथोवाच विहस्यैवं भरतं बाहुविक्रमी।
किं वराकेन लोकेन निहतेनामुनावयोः।।
यदि निःस्पन्दया दृष्ट्या भवताहं पराजितः।
ततो निर्जित एवास्मि दृष्टियुद्धे प्रवर्त्यताम्।।

(पद्मपुराण, संधि 4/70-71)

जैन संस्कृति के पोषक राजा बाहुबली द्वारा युद्धक्षेत्र में निरपराध मनुष्यों के अनावश्यक संहार से बचने के लिए अहिंसात्मक युद्ध का प्रस्ताव तर्कसंगत लगता है। चक्रवर्ती राज्य की स्थापना में संलग्न आग्रहवादी सम्राट् भरत के लिए दिग्विजय अत्यावश्यक थी। इसीलिए उसे अपने प्राणप्रिय अनुज पर आक्रमण करना पड़ा। इसके विपरीत राजा बाहुबली का उद्देश्य अपने राज्य की प्रभुसत्ता को बनाए रखना था। राजा बाहुबली ने अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए कहा था–

पवसन्तें परम-जिणेसरेण।
जं किं पि विहज्जेवि दिण्णु तेण।।
तं अम्हहुँ सासणु सुह-णिहाणु।
किउ विप्पिउ णउ केण वि समाणु।।
सो पिहिमिहैं हउँ पोयणहों सामि।
णउ देमि ण लेमि ण पासु जामि।।
दिट्ठेण तेण किर कवणु कज्जु।

(पउमचरिउ, सन्धि 4/4)

अर्थात् दीक्षा लेते समय पिताजी ने बँटवारे में जितनी धरती मुझे दी थी, उस पर मेरा सुखद शासन है, किसी के साथ मैंने कुछ बुरा भी नहीं किया। वह भरत तो सारी धरती का स्वामी है, मैं तो केवल पोदनपुर का अधिपति हूं, न तो मैं कुछ देता हूं और न लेता हूं और न उसके पास जाता हूं। उससे भेंट करने में मेरा कौन-सा काम बनेगा?

अतः आत्मविश्वास से मंडित पराक्रमी बाहुबली द्वारा पोदनपुर की

अस्मिता की रक्षा के लिए स्वयं को दांव पर लगा देना असंगत नहीं है वैसे भी बाहुबली को जैन पुराण शास्त्र में प्रथम कामदेव माना गया है। सौन्दर्यशास्त्र के रससिद्ध महापुरुष के लिए अपनी जन्मभूमि अयोध्या और अपने राज्यक्षेत्र पोदनपुर के निवासियों का युद्धोपरान्त दारुण दुःख देखा जाना सम्भव नहीं था। इसीलिए उन्होंने सम्राट् भरत से विजयी होने के लिए तीन प्रकार के युद्धों का प्रस्ताव स्वयं रखा था। आचार्य विमलसूरिकृत 'पउमचरिउ' और 'आवश्यकचूर्णि' की गाथाओं के अनुसार भी राजा बाहुबली ने लोक कल्याण की भावना से अहिंसक युद्ध का प्रस्ताव रखा–

भणओ य बाहुबलिणा, चक्कहरो किं वहेण लायेस्स।
दोण्हं पि होउ जुज्झं, दिट्ठीमुट्ठीहिं रणमज्झे।।

(पउमचरिउ, 4, 43)

ताहे ते सव्वबलेण दो वि देसते मिलिया, ताहे
बाहुबलिणा भणियां–किं अणवराहिणा लोगेण
मारिएण? तुमं अहं च दुयगा जुज्झामो।

(आवश्यकचूर्णि, पृ.210)

सम्राट भरत एवं राजा बाहुबली दोनों को अपने अप्रतिम शौर्य पर अगाध विश्वास था। इसीलिए दोनों चरमशरीरी महायोद्धा तीन प्रकार के प्रस्तावित युद्ध में अपनी शक्ति के परीक्षण के लिए सोत्साह मैदान में उतर गए। तीर्थंकर ऋषभदेव के इन दोनों बलशाली पुत्रों को युद्धक्षेत्र में देखकर आचार्य जिनसेन को ऐसा प्रतीत हुआ जैसे निषध और नीलपर्वत पास-पास आ गए हों। उन्होंने युद्धोत्सुक बाहुबली एवं भरत की तुलना क्रमशः ऊंचे जम्बूवृक्ष एवं चूलिकासहित गिरिराज सुमेरू से की है। विजयलक्ष्मी के आकांक्षी सम्राट् भरत एवं बाहुबली के मध्य पूर्व निर्धारित तीनों युद्ध हुए। जैन पुराणकारों ने इन दोनों महापुरुषों के पराक्रम का अद्भुत वर्णन किया है। इनके युद्ध के प्रसंग में जैन काव्यकारों ने लौकिक एवं अलौकिक अनेक उपमानों का सुन्दर संयोजन किया है। सम्राट् भरत एवं राजा बाहुबली के दृष्टियुद्ध का विवरण देते हुए महाकवि स्वयम्भू ने लिखा है–

अवलोइउ भरहें पढमु भाइ। कइलासें कञ्चण-सइलु णाइँ।।
असिय-सियायम्ब विहाइ दिट्ठि। णं कुवलय-कमल-रविन्द-विट्ठि।।
पुणु जोइउ वाहुवलीसरेण। सरे कुमुय-सण्डु णं दिणयरेण।।
अवरामुह-हेट्ठामुह-मुहाइँ। णं वर-वहु-वयण-सरोरुहाइँ।।
उवरिल्लियएँ विसालएँ भिउडि-करालएँ हेट्ठिम दिट्ठि परिज्जय।
णं णव-जोव्वणइत्ती चञ्चल-चित्ती कुलवहु इज्जएँ तज्जिय।।

(पउमचरिउ, सन्धि 4/9)

अर्थात् उन्होंने (नन्दा और सुनन्दा के पुत्रों ने) दृष्टियुद्ध प्रारम्भ किया, सबसे पहले भरत ने अपने भाई को देखा, मानो कैलास पर्वत ने सुमेरु पर्वत को देखा हो। काले और सफेद बादलों के समान उसकी दृष्टि उस समय ऐसी शोभित हो रही थी मानो नीले और सफेद कमलों की वर्षा हो रही हो। उसके बाद बाहुबली ने भरत पर दृष्टिपात किया मानो सूर्य ने सरोवर में कुमुद-समूह को देखा हो। पराजित भरत का मुख उत्तम कुल-वधू की तरह सहसा नीचे झुक गया। बाहुबली की विशाल भौहों वाली दृष्टि से भरत की दृष्टि ऐसी नीची हो गयी जैसे सास से ताड़ित चंचलचित्त नवयौवना कुल-वधू नम्र हो जाती है।

दृष्टियुद्ध में पराजित होने पर भरत एवं बाहुबली में जल-युद्ध एवं बाहु-युद्ध में विजयी होने पर बाहुबली ने पृथ्वी मडल के विजेता राजा भरत को हाथों पर इस प्रकार से उठा लिया जैसे जन्म के समय बालजिन को इन्द्रराज ने श्रद्धा से बाहुओं पर उठा लिया था-

उच्चाइउ उभय-करेंहिं णरिन्दु।
सक्केण व जम्मणें जिण- वरिन्दु।।
एत्थन्तरें वाहुवलीसरासु।
आमेल्लिउ देवेहिं कुसुम-वासु।।

(पउमचरिउ, सन्धि 4/11)

राजा बाहुबली के जयोत्सव पर स्वर्ग के देवों ने हर्षातिरेकपूर्वक पुष्प वृष्टि की। सम्राट् भरत इस पराजय से हतप्रभ हो गये। लोक-नीति का

त्याग करके उन्होंने अपने अनुज बाहुबली के पराभव के लिए अमोघ शस्त्र 'चक्ररत्न' का स्मरण किया। उदार बाहुबली पर 'चक्ररत्न' के प्रयोग को देखकर दोनों पक्षों के न्यायप्रिय योद्धाओं ने सम्राट् भरत के आचरण की निन्दा की। राजा बाहुबली चरमशरीरी थे। फलतः चक्ररत्न उनकी परिक्रमा करके सम्राट् भरत के पास निष्फल होकर लौट आया।

अपने अग्रज भरत की साम्राज्य लिप्सा एवं राज्यलक्ष्मी को हस्तगत करने के लिए स्वबन्धु पर चक्ररत्न के वर्जित प्रयोग को दृष्टिगत करते हुए परमकारुणिक मूर्ति बाहुबली में इस असार संसार के प्रति विरक्त भाव उत्पन्न हो गया। नीतिपरायण धर्मज्ञ सम्राट् भरत के इस अभद्र आचरण को देखकर बाहुबली सोचने लगे-

अचिन्तयच्च किन्नाम कृते राज्यस्य भंगिनः।
लज्जाकरो विधिर्भात्रा ज्येष्ठेनायमनुष्ठितः।।
विपाककटुसाम्राज्यं क्षणध्वंसि धिगस्त्विदम्।
दुस्त्यजं त्यजदप्येतदंगिभिर्दुष्कलत्रवत्।।
कालव्यालगजेनेदमायुरालानकं बलात्।
चाल्यते यद्बलाधानं जीवितालम्बनं नृणाम्।।
शरीरवलंमेतच्च गजकर्णवदस्थिरम्।
रोगा खू पहतं चेदं जरद्देहकुटीरकम्।।
इत्यशाश्वतमप्येतद् राज्यादि भरतेश्वरः।
शाश्वतं मन्यते कष्टं मोहोपहतचेतनः।।

(आदिपुराण, पर्व 36/70-71एवं 88-90)

अर्थात् हमारे बड़े भाई ने इस नश्वर राज्य के लिए यह कैसा लज्जाजनक कार्य किया है। यह साम्राज्य फलकाल में बहुत दुःख देने वाला है, और क्षणभंगुर है इसलिए इसे धिक्कार हो। यह व्यभिचारिणी स्त्री के समान है क्योंकि जिस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री एक पति को छोड़कर अन्य पति के पास चली जाती है उसी प्रकार यह साम्राज्य भी

एक पति को छोड़कर अन्य पति के पास चला जाता है। जिसके बल का सहारा मनुष्यों के जीवन का आलम्बन है ऐसा यह आयुरूपी खम्भा कालरूपी दुष्ट हाथी के द्वारा जबरदस्ती उखाड़ दिया जाता है। यह शरीर का बल हाथी के कान के समान चंचल है और यह जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी झोंपड़ा रोगरूपी चूहों के द्वारा नष्ट किया हुआ है। इस प्रकार यह राज्यादि सब विनश्वर हैं। फिर भी, मोह के उदय से जिसकी चेतना नष्ट हो गयी है ऐसा भरत इन्हें नित्य मानता है यह कितने दुःख की बात है?

चिन्तन की इसी प्रक्रिया में उन्होंने राज्य के त्याग का निर्णय ले लिया। अपने निर्णय से सम्राट् भरत को अवगत कराते हुए उन्होंने कहा–

देव मज्झु खमभाउ करेज्जसु। जं पडिकूलिउ तं म यसेज्जसु।
अप्पउ लच्छिविलासें रंजहि। लइ महि तुहुं जि णराहिव भुंजहि।
णहणिवडियणीलुप्पलविट्ठिहि। हउं पुणु सरणु जामि परमेट्ठिहि।

(महापुराण,सन्धि 18/2)

अर्थात् हे देव! मुझ पर क्षमाभाव कीजिए और जो मैंने प्रतिकूल आचरण किया है उस पर क्रुद्ध मत होइए। अपने को लक्ष्मीविलास से रंजित कीजिए। यह धरती आप ही लें, और इसका भोग करें। मैं, जिन पर आकाश से नीलकमलों की वृष्टि हुई है, ऐसे परमेष्ठी आदि-नाथ की शरण में जाता हूं।

अनुज के मुखारविन्द से निकली हुई वाणी से भरत के सन्तप्त मन को शान्ति मिली। बाहुबली के विनम्र एवं शालीन व्यवहार को देखकर सम्राट् भरत विस्मयमुग्ध हो गये और उनके उदात्त चरित्र का गुणगान करते हुए कहने लगे–

पइं जिह तेयवंतु ण दिवायरु। णउ गंभीरु होइ रयणायरु। पइं दुज्जसकलंकु पक्खालिउ। णाहिणरिंदवंसु उज्जालिउ। पुरिसरयणु तुहुं जगि एक्कल्लउ। जेण कयउ महु बलु वेयल्लउ। को समत्थु उवसमु पडिवज्जइ। जगि जसढक्क कासु किर वज्जइ। पइं मुएवि तिहुयणि

को चंगउ। अण्णु कवणु पच्चक्खु अणंगउ। अण्णु कवणु जिणपयकयपेसणु। अण्णु कवणु रक्खियणिवसासणु।

(महापुराण, सन्धि 18/3)

तुम जितने तेजस्वी हो, उतना दिवाकर भी तेजस्वी नहीं है। तुम्हारे समान समुद्र भी गम्भीर नहीं है। तुमने अपयश के कलंक को धो लिया है और नाभिराज के कुल को उज्ज्वल कर लिया है। तुम विश्व में अकेले पुरुषरत्न हो जिसने मेरे बल को भी विकल कर दिया। कौन समर्थ व्यक्ति शान्ति को स्वीकार करता है। विश्व में किसके यश का डंका बजता है। तुम्हें छोड़कर त्रिभुवन में कौन भला है? दूसरा कौन प्रत्यक्ष कामदेव है। दूसरा कौन जिनपदों की सेवा करने वाला है और दूसरा कौन नृपशासन की रक्षा करने वाला है।

दीक्षार्थी बहुबली ने सांसारिक सुखो का त्याग करते हुए अपने पुत्र को राज्य भार देकर तपस्या के लिए वन मे प्रवेश किया। उन्होने समस्त भोगों को त्याग कर वस्त्राभूपण उतारकर फेंक दिए और एक वर्ष तक मेरू पर्वत के समान निष्कम्प खड़े रहकर प्रतिमा योग धारण कर लिया।

दीक्षा रूपी लता से आलिंगित बाहुबली भगवान् निवृत्तिप्रधान साधुओं के लिए शताब्दियों से प्रेरणा-पुंज रहे हैं। महाकवि स्वयंभू ने 'पउमचरिउ' में भगवान् बाहुबली की तपश्चर्या का संक्षिप्त किन्तु प्रभावशाली चित्रांकन इस प्रकार किया है–

वेड्ढिउ सुट्ठु विसालेहि वेल्ली-जालेहि अहि-विच्छिय-वम्मीयहि।
खणु वि ण मुक्कु भडारउ मयण-वियारउ णं संसारहों भीयहिं।

(पउमचरिउ, संधि 4/12)

अर्थात् पर्वत की तरह अचल और शान्त चित्त होकर खड़े रहे। बड़ी-बड़ी लताओं के जालों, साप-बिच्छुओं और बांवियो से वे अच्छी तरह घिर गये, कामनाशक भट्टारक बाहुबलि एक क्षण भी उनसे मुक्त नहीं हुए। मानो संसार की भीतियों ही ने उन्हें न छोड़ा हो!

महाकवि पुष्पदन्त ने भगवान् बाहुबली की अकाम-साधना को विश्व

की सर्वोपरि उपलब्धि मानते हुए चक्रवर्ती भरत के मुखारविन्द से कहलवाया है–

"थुणइ णराहिउ पयपडियल्लउ पइं मुएवि जगि को विण भल्लउ।
पइं कामें अकामु पारद्धउ पइं राएं अराउ कउ णिद्धउ।
पइं बाले अबालगइ जोइय पइं अपरेण वि परि मइ ढोइय।
पइं जेहा जगगुरुणा जेहा एक्कु दोण्णि जइ तिहुयणि तेहा।"

(महापुराण, 8/9)

अर्थात् आपको छोड़कर जग में दूसरा अच्छा नहीं है, आपने कामदेव होकर भी अकामसाधना आरम्भ की है। स्वयं राजा होकर भी अराग (विराग) से स्नेह किया है, बालक होते हुए भी आपने पण्डितों की गति को देख लिया है। आप और विश्वगुरू ऋषभनाथ जैसे मनुष्य इस दुनियां में एक या दो होते हैं।

भगवान् बाहुबली की कठोर एवं निस्पृह साधना ने जिनागम के सूर्य आचार्य जिनसेन के मानस पटल को भावान्दोलित कर दिया था। इसीलिए उन्होंने अपने जीवन की सांध्य बेला में तपोरत भगवान् बाहुबली की शताधिक पद्यों द्वारा भक्तिपूर्वक अर्चा की है। 'आदिपुराण' के पर्व 36/104 में योगीराज बाहुबली के तपस्वी परिवेश को देखकर उनके भक्तिपरायण मन में पत्तों के गिर जाने से कृश लतायुक्त वृक्ष का चित्र उपस्थित हो गया। साधना काल में भयंकर नागों और वनलताओं से वेष्टित महामुनि बाहुबली के आत्मवैभव का उन्होंने आदिपुराण पर्व 36/109-113 में इस प्रकार दिग्दर्शन कराया है–

दधानः स्कन्ध पर्यन्तलम्बिनीः केशवल्लरीः।
सोऽन्वगादूढकृष्णाहिमण्डलं हरिचन्दनम्।।
माधवीलतया गाढमुपगूढः प्रफुल्लया।
शाखाबाहुभिरावेष्ट्य सध्रीच्येव सहासया।।
विद्याधरी करालून पल्लवा सा किलाशुषत्।
पादयोः कामिनीवास्य सामि नम्राऽनुनेष्यती।।

रेजे स तदवस्थोऽपि तपो दुश्चरमाचरन्।
कामीव मुक्तिकामिन्यां स्पृहयालुः कृशीभवन्।।
तपस्तनूनपात्ताप संतप्तस्यास्य केवलम्।
शरीरमशुषन्नोर्ध्वंशोषं कर्माप्यशर्मदम्।।

अर्थात् कन्धों पर्यन्त लटकती हुई केशरूपी लताओं को धारण करने वाले वे बाहुबली मुनिराज अनेक काले सर्पो के समूह को धारण करने वाले हरिचन्दन वृक्ष का अनुकरण कर रहे थे। फूली हुई वासन्ती लता अपनी शाखारूपी भुजाओं के द्वारा उनका गाढ़ आलिंगन कर रही थी और उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो हार लिये हुए कोई सखी ही अपनी भुजाओं से उनका आलिंगन कर रही हो। जिसके कोमल पत्ते विद्याधरों ने अपने हाथ से तोड़ लिये हैं ऐसी वह वासन्ती लता उनके चरणों पर पड़कर सूख गयी थी और ऐसी मालूम होती थी मानो कुछ नम्र होकर अनुनय करती हुई कोई स्त्री ही पैरों पर पड़ी हो। ऐसी अवस्था होने पर भी वे कठिन तपश्चरण करते थे जिससे उनका शरीर कृश हो गया था और उससे ऐसे जान पड़ते थे मानो मुक्तिरूपी स्त्री की इच्छा करता हुआ कोई कामी ही हो। तपरूपी अग्नि के सन्ताप से सन्तप्त हुए बाहुबली का केवल शरीर ही खड़े-खड़े नहीं सूख गया था। किन्तु दुःख देने वाले कर्म भी सूख गये थे अर्थात् नष्ट हो गये थे।

गोम्मटेश ने दीप्त, तप्तघोर, महाघोर नाम के तपश्चरण किए थे। इन तपों से मुनिराज बाहुबली ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे मेघों के आवरण से निकला हुआ सूर्य अपनी किरणों से जगत् को प्रकाशवान कर देता है। उनकी तपश्चर्या के प्रभाव से परस्पर विरोध भाव रखने वाले जंगल के प्राणियों में भी सद्भाव बन गया था। आचार्य जिनसेन के शब्दों में-

विरोधिनोऽप्यमी मुक्तविरोध स्वैरमासिताः।
तस्योपांघ्रीमसिंहाद्याः शशंसुर्वैभवं मुनेः।
जरज्जम्बूकमाघ्राय मस्तके व्याघ्रधेनुका।
स्वशावनिर्विशेषं तामपीप्यत् स्तन्यमात्मनः।।

करिणो हरिणारातीनन्वीयुः सह यूथपैः।
स्तनपानोत्सुका भेजुः करिणीः सिंहपोतकाः।।
कलमान् कलभांकारमुखरान् नखरैः खरै।
कण्ठीरवः स्पृशन् कण्ठे नाभ्यनन्दि न यूथपैः।

(आदिपुराण, पर्व 36/165.168)

अर्थात् उनके चरणों के समीप हाथी, सिह आदि विरोधी जीव भी परस्पर का वैर-भाव छोड़कर इच्छानुसार उठते-बैठते थे और इस प्रकार वे मुनिराज के ऐश्वर्य को सूचित करते थे। हाल की ब्यायी हुई सिंहनी भैंसे के बच्चे का मस्तक सूँघकर उसे अपने बच्चे के समान अपना दूध पिला रही थी। हाथी अपने झुण्ड के मुखियों के साथ-साथ सिंहों के पीछे-पीछे जा रह थे और स्तन के पीने में उत्सुक हुए सिंह के बच्चे हथिनियों के समीप पहुंच रहे थे। बालकपन के कारण मधुर-शब्द करते हुए हाथियों के बच्चों को सिंह अपने पैने नाखूनों से उनकी गरदन पर स्पर्श कर रहा था और ऐसा करते हुए उस सिंह को हाथियों के सरदार बहुत ही अच्छा समझ रहे थे–उसका अभिनन्दन कर रहे थे।

भगवान् बाहुबली के लोकोत्तर तप के पुण्य स्वरूप तिर्यच जीवों के हृदय में ब्याप्त अज्ञानान्धकार नष्ट हो गया था। जंगल के क्रूर जीव शान्ति सुधा का अमृतपान कर अहिसक हो गए थे। भगवान् गोम्मटेश के चरणो के समीप के छिद्रों में से काले फण वाले नागराजों की लपलपाती हुई जिह्वाओं को देखकर प्रातः स्मरणीय आचार्य जिनसेन को भगवान् की पूजा के निमित्त नील कमलो से परिपूरित पूजा की थाली की सहसा स्मृति हो आई–

उपाङ्घ्रि भोगिनां भोगैर्विनीलैर्व्यरुचन्मुनिः।
विन्यस्तैरर्चनायेव नीलैरुत्पलदामकैः।

(आदिपुराण, पर्व 36/171)

दिव्य तपोमूर्ति गोम्मटेश स्वामी की सतत साधना जन-जन की आस्था का केन्द्र रही है। भगवान् बाहुबली के तपोरत रूप से अभिभूत कन्नड कवि गोविन्द पै भाव-विह्वल अवस्था में प्रश्न कर बैठते हैं–'तुम धूप मे मुरझाते नहीं, ठण्ड में ठिठुरते नहीं, वर्षा से टपकते नहीं, तुम्हारे विवाह में दिशारूपी सुहागिनों ने तुम्हारे ऊपर नक्षत्र-अक्षत बरसाए, चन्द्र और सूर्य का सेहरा तुम्हारे सिर पर रखा, मेघ-दुन्दुभि के साथ बिजली से तुम्हारी आरती उतारी, नित्यता-वधू आतुरता से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है! आँखें खोलकर देखते क्यों नहीं? हे गोम्मटेश्वर!' (र.श्री. मुगलि, कन्नड़ साहित्य का इतिहास, पृ. 229)

चक्रवर्ती सम्राट् भरत ने तपोमूर्ति बाहुबली स्वामी द्वारा एक वर्ष की अवधि के लिए धारण किए गए प्रतिमायोग व्रत की समापन वेला के अवसर पर महामुनि बाहुबली के यशस्वी चरणों की पूजा की। पूजा के समय श्री गोम्मटस्वामी को केवलज्ञान हो गया। यह प्रसन्नचित्त सम्राट् भरत का कितना बड़ा अहोभाग्य था! उन्हें बाहुबली स्वामी के केवलज्ञान उत्पन्न होने के पहले और पीछे–दोनों ही समय मुनिराज बाहुबली की विशेष पूजा का अवसर प्राप्त हुआ। सम्राट् भरत ने केवलज्ञान उन्पन्न होने से पहले जो पूजा की थी वह अपना अपराध नष्ट करने के लिए की थी और केवलज्ञान होने के बाद जो विशेष पूजा की वह केवलज्ञान की उत्पत्ति के अनुभव के लिए की थी। आचार्य जिनसेन के अनुसार सम्राट् भरत द्वारा केवलज्ञानी बाहुबली की भक्तिपूर्वक की गई अर्चना का शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। सम्राट् भरत और बाहुबली के अटूट प्रेम संबंध का विवरण देते हुए उन्होंने लिखा है–

स्वजन्मानुगमोऽस्त्येको धर्मरागस्तथाऽपरः।
जन्मान्तरानुबन्धश्च प्रेमबन्धोऽतिनिर्भरः।।
इत्येकशोऽप्यमी भक्तिप्रकर्षस्य प्रयोजकाः।
तेषां नु सर्वसामग्री कां न पुष्णाति सत्क्रियाम्।।

(आदिपुराण, पर्व 36/160-61)

अर्थात् प्रथम तो बाहुबली भरत के छोटे भाई थे, दूसरे भरत को धर्म का प्रेम बहुत था, तीसरे उन दोनों का अन्य अनेक जन्मों से सबंध था, और चौथे उन दोनों में बड़ा भारी प्रेम था। इस प्रकार इन चारों में से एक-एक भी भक्ति की अधिकता को बढ़ाने वाले हैं, यदि यह सब सामग्री एक साथ मिल जाये तो वह कौन-सी उत्तम क्रिया को पुष्ट नहीं कर सकती अर्थात् उससे कौन-सा अच्छा कार्य नहीं हो सकता?

समस्त पृथ्वी पर धर्म साम्राज्य की स्थापना करने वाले चक्रवर्ती सम्राट् भरत को इस सनातन राष्ट्र की सांस्कृतिक सम्पदा–आत्मवैभव से श्रीमंडित सिद्ध पुरुष के रूप में जाना जाता है। इसीलिए उन्हें 'राजयोगी' के रूप में भी स्मरण किया गया है। धर्मप्राण भरत ने जिनेन्द्र बाहुबली के ज्ञान कल्याण की भक्तिपूर्वक रत्नमयी पूजा की थी। उन्होंने रत्नों का अर्घ बनाया, गंगा के जल की जलधारा दी, रत्नो की ज्योति के दीपक चढ़ाये, मोतियों से अक्षत की पूजा की, अमृत के पिण्ड से नैवेद्य अर्पित किया, कल्पवृक्ष के टुकड़ों (चूर्णो) से धूप की पूजा की, पारिजात आदि देववृक्षों के फूलों के समूह से पुष्पो की अर्चा की, और फलो के स्थान पर रत्नो सहित समस्त निधियाँ चढ़ा दीं। इस प्रकार उन्होंने रत्नमयी पूजा की थी।

सम्राट् भरत की भक्तिपरक रत्नमयी पूजा के उपरान्त स्वर्ग के देवों ने भगवान् गोम्मटदेव की विशेष पूजा की । केवलज्ञानलब्धि के समय अनेक अतिशय प्रकट हुए, जैसे–सुगन्धित वायु का संचरण, देवदुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, छत्रत्रय, चंवरों का डुलना, गन्ध कुटी आदि का स्वयमेव प्रकट हो जाना।

आचार्य जिनसेन के अनुसार भगवान् बाहुबली के नाम के अक्षर स्मरण में आते ही प्राणियों का समूह पवित्र हो जाता है। उनके चरणों के प्रताप से सर्पो के मुंह के उच्छवास से निकलती हुई विष की अग्नि शान्त हो जाती है।

तपोनिधि भगवान् गोम्मटेश की विराट् प्रतिमा की संस्थापना की

सहस्राब्दी के उपलक्ष्य में 1681 के महामस्तकाभिषेक के अवसर पर भारतीय डाक व तार विभाग ने एक बहुरंगी डाक-टिकट प्रकाशित करके भगवान् गोम्मटेश की मुक्ति-साधना के प्रति राष्ट्र की श्रद्धा को अभिव्यक्त किया था। अपने इसी वैशिष्ट्य के कारण भगवान् गोम्मटेश शताब्दियों से जन-जन की भावनाओ के प्रतिनिधि रूप में सम्पूजित हैं। आचार्य पुष्पदन्त ने सहस्राधक वर्ष पूर्व सत्य ही कहा था कि भगवान् गोम्मटेश्वर के पवित्र जीवन की गाथा पर्वत की गुफाओं तक में गायी जाती है–मंदरकंदरतं गाइय जस!

जैन पुराण शास्त्रों में भगवान् बाहुबली के प्रकरण मे कुछ विवादास्पद सन्दर्भो का उल्लेख मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द के 'भाव पाहुड' की गाथा सं. 44 में बाहुबली का उल्लेख इस प्रकार मिलता है–"हे धीर-वीर, देहादि के सम्बन्ध से रहित किन्तु मान-कषाय से कलुषित बाहुबली स्वामी कितने काल तक आतापन योग में स्थित रहे?" श्वेताम्बर साहित्य मे तपोरत भगवान् बाहुबली में शल्य भाव की विद्यमानता मानी गई है। श्वेताम्बर साहित्य के अनुसार बाहुबली दीक्षा लेकर ध्यानस्थ हो गए और यह निश्चय कर लिया कि कैवल्य प्राप्त किए बिना भगवान् ऋषभदेव के समवशरण में नहीं जाऊंगा। तीर्थकर ऋषभदेव के समवशरण में जाने पर बाहुबली को अपने से पूर्व के दीखित छोटे भाइयों को नमन करना पड़ता। ऐसी स्थिति में उन्हें सर्वज्ञ होने के उपरान्त ही भगवान् के समवशरण में जाना श्रेयस्कर लगा होगा।

जैन पुराण शास्त्र में उपरोक्त धारणाओं के मूल स्रोत की प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। किन्तु आचार्य रविषेण कृत 'पद्मपुरण', महाकवि स्वयम्भू कृत 'पउमचरिउ', आचार्य जिनसेन कृत 'हरिवंशपुराण' एवं आचार्य जिनसेन कृत 'आदिपुराण' और महाकवि पुष्पदन्त कृत 'महापुराण' का पारायण करने से तपोरत भगवान् बाहुबली में शल्यभाव की विद्यामानता स्वयमेव निरस्त हो जाती है–

ततो भ्रात्रा समं वैरमवबुध्य महामनाः।
संप्राप्तो भोगवैराग्य परमं भुजविक्रमी।।
संत्यज्य स ततो भोगान् भूत्वा निर्वस्त्रभूषणः।
वर्षं प्रतिमया तस्थौ मेरुवन्निः प्रकम्पकः।।
वल्मीकविवरोद्यातैरत्युग्रैः स महोरगैः।
श्यामादीनां च वल्लीभिः वेष्टितः प्राप केवलम्।।

(पद्मपुराण, पर्व 4/74-76)

आचार्य रविषेण के अनुसार उदारचेता बाहुबली भाई के साथ वैर का कारण जानकर भोगों से विरक्त हो गए और एक वर्ष के लिए मेरु पर्वत के समान निष्प्रकम्प खड़े रहकर प्रतिमा योग धारण कर लिया। उनके पास अनेक वामियां लग गई जिनके बिलों से निकले हुए विशाल सर्पो और लताओं ने उन्हें वेष्टित कर लिया और अन्ततः इसी दशा में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

महाकवि स्वयंभू कृत 'पउमचरिउ' (संधि 4/12) में वाहुवली स्वेच्छा से तपोवन में जाते हैं–

किं आएं साहमि परम-मोक्खु।
जहिं लब्भइ अचलु अणन्तु सोक्खु।।
सुणिसल्लु करेंवि जिणु गुरु भणेवि।
थिउ पञ्च मुट्ठिसिरें लोउ देवि।।
ओलम्बिय-करयलु एक्कु वरिसु।
अविओलु अचलु गिरि-मेरु सरिसु।।

अर्थात् इस पृथ्वी से क्या? मै मोक्ष की समाराधना करूंगा, जिससे अचल, अनन्त और शाश्वत सुख मिलता है। बाहुबली ने निःशल्य होकर जिनगुरु का ध्यान किया और पंचमुष्टियों से केशलोचन किया। बाहुबली दोनों हाथ लम्बे कर एक वर्ष तक मेरु पर्वत की तरह अचल और शान्त चित्त होकर खड़े रहे। महाकवि स्वयंभू ने सन्धि 4/13 में तपोरत बाहुबली में

थोड़ी-सी कषाय अर्थात् भरतभूमि पर खड़े रहने का परिज्ञान, का उल्लेख किया है, शल्य का नहीं। आचार्य जिनसेन कृत 'हरिवंशपुराण' (सर्ग 11/68) में बाहुबली के एक वर्ष के प्रतिमायोग का उल्लेख मिलता है। इसी पद्य में बाहुबली के कैलाश पर्वत पर तपस्या करने का उल्लेख भी आया है। जैंन पुराणों में हरिवंशपुराण ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसमें भरत एवं बाहुबली के युद्ध की निश्चित संग्राम भूमि अर्थात् वितता नदी के पश्चिम भाग का उल्लेख मिलता है। सम्भवतया हरिवंशपुराणकार ने ऐसा लिखते समय किसी प्राचीन कृति का आधार लिया होगा। बाहुबली के कैलाश पर्वत पर तपस्या करने के उल्लेख से यह सिद्ध हो जाता है कि तपोरत बाहुबली में शल्य-भाव की विद्यमानता परवर्ती लेखकों की कल्पना मात्र है। महाकवि पुष्पदन्त ने 'महापुराण' (18/5/8) में बाहुवली के कैलाश पर्वत पर तपस्या करने का उल्लेख इस प्रकार किया है–'गए केलासु परायउ भयुबलि।' उन्होनें बाहुबली के चरित्र की विशेषता में 'खाविउं खम भूसणु गुणावंतहं' 'और 'पइं जित्ति खमा वि खम भावे' जैसी काव्यात्मक सूक्तियां लिखकर उन्हे गुणवानों मे सर्वश्रेष्ठ एवं क्षमाभूषण के रूप में समादृत किया है। आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण पर्व (36/137) में सत्य ही कहा है कि तपोरत बाहुबली स्वामी रसगौरव, शब्दगौरव और ऋद्धिगौरव से युक्त थे, अत्यन्त निःशल्य थे और दश धर्मो के द्वारा उन्हें मोक्षमार्ग में दृढ़ता प्राप्त हो गई थी। इस प्रकार उपरोक्त पांचों जैन पुराणों के तुलनात्मक विवेचन से यह सिद्ध होता है कि तपोरत बाहुबली में शल्य भाव नहीं था।

भगवान् बाहुबली का कथानक जैन समाज में अत्यधिक लोकप्रिय रहा है। जैन धर्म की पौराणिक रचनाओं में बाहुबली स्वामी का प्रकरण बहुलता से मिलता है। प्रारम्भिक रचनाओं मे यह कथानक संक्षेप में दिया गया है और परवर्ती रचनाओं में इसका क्रमशः विस्तार होता गया। भगवान् बाहुबली को धीर-वीर उदात्त नायक मानकर अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना हुई है। आधुनिक कन्नड भाषा के अग्रणी साहित्यकार श्री जी. पी. राजरत्नम् ने गोम्मट-साहित्य की विशेष रूप से ग्रन्थ-सूची तैयार की

है, जिसमें कतिपय ऐसे ग्रन्थों का उल्लेख है, जिनकी जानकारी अभी भी अपेक्षित है। संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में निबद्ध 'अनन्त वे मधुर' और 'चारुचन्द्रमा' से प्रायः अधिकांश विद्वान् अपरिचित हैं। पौराणिक मान्यताओं में भगवान् बाहुबली के स्वरूप के विशद विवेचन के लिए बाहुबली साहित्य का मन्थन अत्यावश्यक है। उदाहरण के लिए आचार्य रविषेण (ई. 643-680) ने 'पद्मपुराण' (पर्व 4/77) में भगवान् बाहुबली को इस अवसर्पिणी काल का सर्वप्रथम मोक्षगामी बतलाया है–

ततः शिवपदं प्रापदायुषः कर्मणः क्षये प्रथमं सोऽवसर्पिण्यां मुक्तिमार्ग व्यशोधयत्।।

इसके विपरीत भगवान् बाहुबली के कथानक को जनमानस में प्रतिष्ठित कराने में अग्रणी आचार्य जिनसेन ने भगवान् ऋषभदेव के पुत्र सर्वज्ञ अनन्तवीर्य को इस अवसर्पिणी युग में मोक्ष प्राप्त करने के लिए सब में अग्रगामी (सर्वप्रथम मोक्षगामी) बतलाया है–

सबुद्धोऽनन्तवीर्यश्च गुरोः संप्राप्तदीक्षणः।
सुरैरवाप्तपूजर्द्धिग्रह्यो मोक्षवतामभूत्।।

(आदिपुराण, पर्व 24/181)

इस प्रकार की समस्याओं के समाधान के लिए गम्भीर अध्ययन अपेक्षित है। भगवान् बाहुबली को इस अवसर्पिणी युग का सर्वप्रथम मोक्षगामी स्वीकार करने के कुछ कारण यह हो सकते हैं कि बाहुबली का कथानक आदि युग से जन-जन की जिज्ञासा एवं मनन का विषय रहा है। जैन पुरणों में प्रायः परम्परा रूप मे भगवान् ऋषभदेव की वन्दना की परिपाटी चली आ रही है। इस पद्धति का अनुकरण करते हुए प्रायः सभी पुराणकारों एवं कवियों ने तीर्थकर ऋषभदेव की वन्दना के साथ भरत एवं बाहुबली प्रकरण का उल्लेख किया है। भगवान् बाहुबली की तपश्चर्या, केवलज्ञान लब्धि और मोक्ष का प्रायः सभी पुराणों मे बहुलता से उल्लेख मिलता है। बाहुबली प्रथम कामदेव थे और उन्होंने चक्रवर्ती भरत से पहले

मोक्ष प्राप्त किया था। इसी कारण उन्हें सर्वप्रथम मोक्षगामी भी कहा जाता है।

चक्रवर्ती सम्राट् भरत द्वारा पोदनपुर स्थित भगवान् बाहुबली की 525 धनुष ऊंची स्वर्ण निर्मित प्रतिमा का आख्यान श्रवणबेलगोल स्थित भगवान् गोम्मटेश की ऐतिहासिक मूर्ति के निर्माण का मुख्याधार है। इस लुप्तप्राय तीर्थ का गोम्मटदेव से विशेष सम्बन्ध रहा है। अजेय सेनापति चामुण्डराय द्वारा श्रवणबेलगोल में भगवान् बाहुबली की प्रतिमा के निर्माण से पूर्व के जैन साहित्य में पोदनपुर की सुख-समृद्धि का उल्लेख बहुलता से मिलता है। इस महान् तीर्थ के माहात्म्य को देखते हुए पूज्यपाद देवनन्दि (लगभग 500 ई.) ने निर्वाणभक्ति (तीर्थवन्दना संग्रह, पद्य 26) में इस तीर्थ की गणना सिद्ध क्षेत्र में की है। यदि निर्वाण भक्ति का यह अंश प्रक्षिप्त नहीं है तो पोदनपुर की गणना निश्चय ही प्राचीन तीर्थक्षेत्रों में की जा सकती है।

एक जनश्रुति के अनुसार चक्रवर्ती सम्राट् भरत ने अपने अनुज बाहुबली की तपश्चर्या एवं मोक्षसाधना के उपलक्ष्य में भगवान् गोम्मटेश की राजधानी पोदनपुर में बाहुबली के आकार की 525 धनुष ऊंची स्वर्ण प्रतिमा बनवाई थी। कालान्तर में प्रतिमा के निकटवर्ती क्षेत्र में कुक्कुट सर्पों का वास हो गया और मूर्ति का नाम कुक्कुटेश्वर पड़ गया। कालान्तर में मूर्ति लुप्त हो गई और उसके दर्शन केवल दीक्षित व्यक्तियों के लिए मन्त्र शक्ति से प्राप्त रह गये। जैनाचार्य जिनसेन (आदिपुराण के रचयिता से भिन्न लोककथाओं में उल्लिखित अन्य) के मुखारविन्द से भगवान् बाहुबली की मूर्ति का वर्णन सुनकर सेनापति चामुण्डराय की माता कालिकादेवी ने मूर्ति के दर्शन की प्रतिज्ञा की। अपनी धर्मपरायण पत्नी अजितादेवी से माता की प्रतिज्ञा के समाचार को जानकर चामुण्डराय परिवार जनों के साथ भगवान् गोम्मटेश की मूर्ति के दर्शनार्थ चल दिए। मार्ग में उन्होंने श्रवणबेलगोल के दर्शन किए। रात्रि के समय उन्हें देवी ने स्वप्न में कहा कि कुक्कुट सर्पों के कारण पोदनपुर के भगवान् गोम्मटेश

के दर्शन सम्भव नहीं हैं किन्तु तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् गोम्मटेश तुम्हें इन्द्रगिरि की पहाड़ी पर दर्शन देंगे। चामुण्डराय की माता काललदेवी को भी ऐसा ही स्वप्न आया। सेनापति चामुण्डराय ने स्नान-पूजन से शुद्ध होकर चन्द्रगिरि की एक शिला से दक्षिण दिशा की तरफ मुख करके एक स्वर्ण-बाण छोड़ा जो बड़ी पहाड़ी (इन्द्रगिरि) के मस्तक की शिला में जाकर लगा। बाण के लगते ही भगवान् गोम्मटेश्वर का मुख मंडल प्रकट हो गया। तदुपरान्त सेनापति चामुण्डराय ने कुशल शिल्पियों के सहयोग से अगणित राशि व्यय करके भगवान् गोम्मटेश की विश्वविख्यात प्रतिमा का निर्माण कराया। मूर्ति के बन जाने पर भगवान् के अभिषेक का विशेष आयोजन किया गया। अभिषेक के समय एक आश्चर्य यह हुआ कि सेनापति चामुण्डराय द्वारा एकत्रित विशाल दुग्ध राशि के रिक्त हो जाने पर भी भगवान् गोम्मटेश की मूर्ति की जंघा से नीचे के भाग पर दुग्ध गंगा नहीं उतर पाई। अभिषेक अपूर्ण रह गया। ऐसी स्थिति में चामुण्डराय ने अपने गुरु अजितसेन से मार्गदर्शन की प्रार्थना की। आचार्य अजितसेन ने एक साधारण वृद्धा नारी गुल्लिकायाज्जि को भक्तिपूर्वक 'गुल्लिकायि' (फल का कटोरा) में लाए गए दूध से भगवान् का अभिषेक करने की अनुमति दे दी। महान् गुल्लिकायाज्जि द्वारा फल के कटोरे में अल्पमात्रा में लाए गए दूध की धार से प्रतिमा का सर्वांग अभिषेक सम्पन्न हो गया और सेनापति चामुण्डराय का मूर्ति-निर्माण का दर्प भी दूर हो गया।

भगवान् गोम्मटेश की सातिशययुक्त प्रतिमा के निर्माण सम्बन्धी लोक साहित्य में ऐतिहासिक तथ्यों का समावेश हो गया है। भक्तिपरक साहित्य अथवा दन्तकथाओं से इतिहास को पृथक् कर पाना सम्भव नहीं होता। उदाहरण के लिए इन्द्रगिरि पर सेनापति चामुण्डराय द्वारा भगवान् गोम्मटेश के विग्रह की स्थापना के उपरान्त भी श्री मदनकीर्ति (12वीं शताब्दी) ने पोदनपुर स्थित भगवान् गोम्मटेश की प्रतिमा के अतिशय का चमत्कारपूर्ण वर्णन इस प्रकार किया है–

पादांगुष्ठनखप्रभासु भविनामाभान्ति पश्चाद् भवाः।
यस्यात्मीयभवा जिनस्य पुरतः स्वस्योपवासप्रमाः।।
अद्यापि प्रतिभाति पोदनपुरे यो वन्द्यवन्द्यः स वै।
देवो बाहुबली करोतु बलवद् दिग्वाससां शासनम्।।

(मदनकीर्ति, तीर्थ वन्दन संग्रह, पृ. 3)

कवि के अनुसार पोदनपुर के भगवान् बाहुबली के चरणनखों में भक्तो को अपने पूर्व भवों के दर्शन होते हैं। इस सम्बन्ध में कवि की रोचक कल्पना यह है कि दर्शकों को उसके व्रतों की संख्या के अनुसार ही पूर्व भवों का ज्ञान हो पाता है।

मेरी निजी धारणा है कि इन्द्रगिरि स्थित भगवान् बाहुबली की कलात्मक प्रतिमा का निर्माण अनायास ही नहीं हो गया। इस प्रकार के भव्य निर्माण में शताब्दियों की साधन एवं विचार मंथन का योग होता है। दक्षिण भारत में राष्ट्रकूट शासन के अन्तर्गत महान् धर्मगुरु आचार्यप्रवर वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र ने श्रुत साहित्य एवं जैन धर्म की अपूर्व सेवा की है। इन महान् आचार्यो की सतत साधना एवं अध्यवसाय से जैन सिद्धान्त ग्रन्थ एवं पौराणिक साहित्य का राष्ट्रव्यापी प्रचार-प्रसार हुआ। परमप्रतापी राष्ट्रकूट नरेश आमोघवर्ष (प्रथम) की आचार्य वीरसेन एव जिनसेन में अनन्य भक्ति थी। आचार्य जिनसेन स्वामी ने जीवन के उत्तरार्द्ध में आदिपुराण की रचना की। आदिपुराण के 42 पर्व पूर्ण होने पर उनका समाधिमरण हो गया। समाधिमरण से पूर्व ही उन्होंने भगवान् बाहुबली से सम्बन्धित पर्व 34, 35 और 36 का प्रणयन कर लिया था। भगवान् बाहुबली के चरणों में अपनी आस्था का अर्घ्य समर्पित करते हुए उन्होंने (पर्व 36/212) में भगवान् गोम्मटेश्वर की वन्दना करते हुए कहा था कि योगिराज बाहुबली को जो पुरुष हृदय में स्मरण करता है उसकी अन्तरात्मा शान्त हो जाती है और वह निकट भविष्य में जिनेन्द्र भगवान् की अपराजेय विजयलक्ष्मी (मोक्षमार्ग) को प्राप्त कर लेता है-

जगति जयिनमेनं योगिनं योगिवर्यै-
रधिगतमहिमानं मानितं माननीयैः।
स्मरति हृदि नितान्तं यः स शान्तान्तरात्मा
भजति विजयलक्ष्मीमाशु जैनीमजय्याम्।।

आचार्य जिनसेन अपने युग के परमप्रभावक धर्माचार्य थे। तत्कालीन दक्षिण भारत के राज्यवशों एव जनसाधारण मे उनका विशेष प्रभाव था। शक्तिशाली राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (प्रथम) ने सम्भवतया उन्हीं के प्रभाव से जीवन के अन्तिम भाग में दिगम्बरी दीक्षा ली थी। ऐसे महान् आचार्य एवं कवि के मानस पटल पर अंकित भगवान् बाहुबली की विशाल प्रतिमा को मूर्त रूप देने का विचार जैन धर्मावलम्बियों में निश्चित रूप से आया होगा। धर्मपरायण सम्राट् अमोघवर्ष (प्रथम) का अपने अधीनस्थ राजा बकेय से विशेष स्नेह था। उदार सम्राट् ने राजा बकेय द्वारा निर्मित जिनमन्दिर के लिए तलेमुर गाव का दान भी किया था। जैन धर्म परायण राजा बंकेय ने अपने पौरुष से बंकापुर नाम की राजधानी बनाई जो कालान्तर में जैन धर्म का एक प्रमुख सास्कृतिक केन्द्र बन गयी। सम्राट् अमोघवर्ष (प्रथम) के पुत्र अकाल वर्ष और राजा बंकेय के पुत्र लोकादित्य मे प्रगाढ़ मैत्री थी। सम्राट् अकालवर्ष के राज्यकाल मे राजा लोकादित्य की साक्षी में उत्तरपुराण के पूर्ण हो जाने पर महापुराण की विशेष पूजा का आयोजन हुआ। उत्तरपुराण की पीठिका के आशीर्वचन मे कहा गया है– महापुराण के चिन्तवन से शान्ति, समृद्धि, विजय, कल्याण आदि की प्राप्ति होती है। अत. भक्तजनो को इस ग्रन्थराज की व्याख्या, श्रवण, चिन्तवन, पूजा, लेखन कार्य आदि की व्यवस्था मे रुचि लेनी चाहिए। परवर्ती राष्ट्रकूट नरेशों एवं गंगवशीय शासकों में विशेष स्नेह सम्बन्ध रह है। राष्ट्रकूट नरेश इन्द्र चतुर्थ का गगवंशीय राजा मारसिह ने अभिषेक किया था। राजा इन्द्र चतुर्थ ने जीवन के अन्तिम भाग में सल्लेखना द्वारा श्रवणबेलगोल में देहोत्सर्ग किया। गंगवंशीय राजा मारसिह ने बकापुर मे

आचार्य अजितसेन के निकट तीन दिन तक उपवास रखकर समाधिमरण किया था।

बंकापुर के सांस्कृतिक केन्द्र की गतिविधियों का नियमन आचार्य अजितसेन के यशस्वी मार्गदर्शन में होता था। उनके अगाध पांडित्य के प्रति दक्षिण भारत के राज्यवंशों में विशेष सम्मान भाव था। गगवशीय राजा मारसिंह, राजा राचमल्ल (चतुर्थ), सेनापति चामुण्डराय एवं महाकवि रन्न उनके प्रमुख शिष्य थे। आचार्य अजितसेन की प्रेरणा से स्थापित बंकापुर के सांस्कृतिक केन्द्र में महापुराण के महातपी बाहुबली भगवान् की तपोरत विराट् मूर्ति के निर्माण का विचार निरन्तर चल रहा था।

सेनापति चामुण्डराय ने अपने प्रतापी शासक राजा मारसिंह की समाधि के समय सम्भवतया भगवान् बाहुबली की विशाल प्रतिमा के निर्माण का स्वप्न लिया होगा। दक्षिण भारत के शिल्पियो को संगठित करने में जैन धर्म के यापनीय सघ की प्रभावशाली भूमिका रही है। इस महान् मूर्ति के निर्माण की संकल्पना में आदिपुराण को साकार करने के लिए समर्थ आचार्य अजितसेन और आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती का वरद्हस्त सेनापति चामुण्डराय को उपलब्ध था। आचार्य अजितसेन की परिकल्पना से भगवान् गोम्मटेश्वर का प्रबल पाषाण पर मूल्यांकन आरम्भ हो गया। आचार्यद्वय–अजितसेन एवं नेमिचन्द्र की कृपा से भगवान् गोम्मटेश की लोकोत्तर मूर्ति का निर्माण सम्भव हुआ और इस प्रकार अपराजेय सेनापति चामुण्डराय की धनलक्ष्मी भगवान् गोम्मटेश के चरणों मे सार्थक हुई।

माता गुल्लिकायाज्जि को भगवान् गोम्मटेश्वर के मस्तकाभिषेक के अवसर पर असाधारण गौरव देने में भी सम्भवतया कुछ ऐतिहासिक कारण रहे हैं। दक्षिण भारत में यापनीय संघ के आचार्यों का अनेक राज्यवंशों एव जनसाधारण पर अपने असाधारण कृतित्व का प्रभुत्व रहा है। कन्नड़ भाषा के प्रारम्भिक अभिलेखों मे यापनीय संघ के साधुओं का अनेकशः उल्लेख

मिलता है। इस सम्प्रदाय में अनेक प्रतिभाशाली आचार्य एवं कवि हुए हैं, जिन्होंने संस्कृत, प्राकृत, कन्नड आदि भाषा में शताधिक प्रतिष्ठित ग्रन्थों की रचना की है।

भगवान् गोम्मटेश्वर के विग्रह के यशस्वी निर्माता राजा चामुण्डराय अनेक युद्धों के विजेता थे। उन्होंने अपने स्वामी राजा मारसिंह एवं राजा राचमल्ल (चतुर्थ) के लिए अनेक युद्ध किए थे। उनके पराक्रम से शत्रु भयभीत हो जाते थे। त्यागब्रह्मदेव स्तम्भ पर उत्कीर्ण एक पाषाण लेख (106/281) में उनके कुल एवं विजय अभियानों का ऐतिहासिक विवरण इस प्रकार मिलता है-

ब्रह्म-क्षत्र-कुलोदयाचल-शिरोभूषामणिर्भानुमान्
ब्रह्म-क्षत्रकुलाब्धि-वर्द्धन-यशो-रोचिस्सुधा-दीधितिः।
ब्रह्म-क्षत्र-कुलाकराचल-भव-श्री-हार वल्लीमणिः
ब्रह्म-क्षत्र-कुलाग्निचण्डपवनश्चावुण्डराजोऽजनि।
कल्पान्त-क्षुभिताब्धि-भीषण-बलं पातालमल्लानुजम्
जेतुं वज्विलदेवमुद्यतभुजस्येन्द्र-क्षितीन्द्राज्ञया।
पत्युश्श्री जगदेकवीर नृपतेर्जैत्र-द्विपस्याग्रतो
धावद्दन्तिनि यत्र भग्नमहितानीकं मृगानीकवत्।
अस्मिन् दन्तिनि दन्त-वज्र-दलित-द्विट्-कुम्भि-कुम्भोपले
वीरोत्तंस-पुरोनिषादिनि रिपु-व्यालांकुशे च त्वयि।
स्यात्कोनाम न गोचरर्प्रतिनृपो मद्बाण-कृष्णोरग-
ग्रासस्येति नोलम्बराजसमरे यः श्लाघितः स्वामिता।
खातः क्षार-पयोधिरस्तु परिधिश्चास्तु त्रिकूटर्पुरी
लंकास्तु प्रतिनायकोऽस्तु च सुरारातिस्तथापि क्षमे।
तं जेतुं जगदेकवीर-नृपते त्वत्तेजसेतिक्षणान्-
निर्व्यूढं रणसिंग-पार्त्थिव-रणे येनोर्ज्जितं गर्ज्जितम्।

वीरस्यास्य रणेषु भूरिषु वय कण्ठग्रहोत्कण्ठया
तप्तास्सम्प्रति लब्ध-निर्व्वृतिरसास्त्वत्खड्ग-धाराम्भसा।
कल्पान्तं रणरंगसिंग-विजयी जीवेति नाकांगना
गीर्व्वाणी-कृत-राज-गन्ध-करणि यस्मै वितीर्ण्णाशिषः।
आक्रष्टुं भुज-विक्रमादभिलषन् गंगाधिराजय-श्रियं
येनादौ चलदंक-गंगनृपतिर्व्यर्त्थाभिलाषीकृतः।
कृत्वा वीर-कपाल-रत्न-चषके वीर-द्विषश्शोणितम्
पातुं कौतुकिनश्च कोणप-गणाः पूर्ण्णाभिलाषीकृताः।

धर्मपरायण माननीय श्री हर्गडे जी (लगभग ई. 1200) ने इसी स्तम्भ पर रक्ष देवता की मूर्ति का निर्माण कराने के लिए इस दुर्लभ अभिलेख को तीन ओर से घिसवा दिया। किन्तु श्री हर्गडे जी के इस भक्तिपरक अनुष्ठान के कारण इस शिलालेख के महत्त्वपूर्ण अश लुप्त हो गए है। परिणामस्वरूप जैन समाज महान् सेनानायक चामुण्डराय और गोम्मट विग्रह के निर्माण की प्रामाणिक जानकारी से वंचित रह गया है। चामुण्डराय के पुत्र आचार्य अजितसेन के शिष्य जिनदेवण ने लगभग 1040 ई. में श्रवणवेलगोल में एक जैन मन्दिर (अभिलेख 67 (121)) वनवाकर अपने यशस्वी पिता की भांति भगवान् गोम्मटेश के चरणो मे श्रद्धा अर्पित की थी। आचार्य अजितसेन की यशस्वी शिष्य परम्परा कनकनन्दि, नरेन्द्रसेन (प्रथम), त्रिविधचक्रेश्वर, नरेन्द्रसेन, जिनसेन और उभयभाषा चक्रवर्ती मल्लिषेण की श्रवणवेलगोल के विकास एवं संरक्षण मे रुचि रही है।

श्रवणबेलगोल स्थित भगवान् गोम्मटस्वामी की नयनाभिराम प्रतिमा अपने निर्माणकाल से ही जन-जन की आस्था के प्रतीक रूप में सम्पूजित रही है। एक लोककथा के अनुसार स्वर्ग के इन्द्र एव देवगण भी इस अद्वितीय प्रतिमा की भुवनमोहिनी छवि के दर्शन के निमित्त भक्ति भाव से पृथ्वी की परिक्रमा करते है। भगवान् गोम्मटस्वामी के विग्रह के निर्माण मे अग्रणी सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र ने कर्मकाण्ड की गाथा म 969 में भगवान् वाहुवली स्वामी की विशाल प्रतिमा के लोकोत्तर स्वरूप

का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि उसे सर्वार्थसिद्धि के देवों ने और सर्वावधि-परमावधिज्ञान के धारी योगियों ने दूर से देखा।

इन्द्रगिरि पर स्थित भगवान् गोम्मटेश की तपोरत प्रतिमा के चरणों में अपनी भक्ति का अर्घ्य समर्पित करते हुए आचार्यश्री नेमिचन्द्र ने कहा है-

उपाहिमुत्तं धणधाम-वज्जियं,
सुसम्मजुत्तं मय-मोहहारयं।
वस्सेय पज्जंतमुववास-जुत्तं,
तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं।।

(गोम्मटेस-थुदि, पद सं. 8)

अर्थात् समस्त उपाधियों से मुक्त होकर, धनधाम आदि सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़कर, मद-मोह आदि विकारों को निरस्त करके, सुखद समभाव से परिपूरित जिन्होंने एक वर्ष का उपवास किया, उन भगवान् गोम्मटेश्वर का मै नित्य नमन करूं।

दक्षिण भारत मे कर्नाटक राज्य के उदार होयसल वंशी नरेशों के राज्यकाल में जैनधर्म का विशेष संरक्षण हुआ। होयसल नरेश राजा विनयादित्य का समय भारतीय इतिहास में 'जैन मन्दिरों के निर्माण का स्वर्णयुग' माना जाता है। श्रवणबेलगोल से प्राप्त एक अभिलेख (लेख सं. 53 (143) में कहा गया है कि उन्होंने कितने ही तालाव व जैन मन्दिर निर्माण कराये थे। यहाँ तक कि ईंटों के लिए जो भूमि खोदी गई वहाँ तालाव बन गये, जिन पर्वतों से पत्थर निकाला गया वे पृथ्वी के समतल हो गये, जिन रास्तों से चूने की गाड़ियाँ निकली वे रास्ते गहरी घाटियाँ हो गये। इसी वंश के प्रतापी राजा विष्णुवर्धन (ई. 1109 से 1141) के राज्यकाल में होयसलेश्वर एव शातलेश्वर के विश्व प्रसिद्ध शिवालयों का निर्माण हुआ। उपरोक्त मन्दिरों के लिए विशाल नंदी-मण्डप वनाए गए। सैकड़ों शिल्पियों के संयुक्त परिश्रम से कई मास में नन्दियों की मूर्ति

बनकर तैयार हुई। विशाल नन्दियों की मूर्ति को बैलगाडियों और वाहनो द्वारा देवालय तक ले जाना असम्भव था। नवनिर्मित नन्दी की प्रतिमाएँ मन्दिर तक कैसे पहुंची इसका रोचक विवरण श्री के. वी. अय्यर ने 'शान्तला' में एक स्वप्न-कथा के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

"देव, नन्दी-पत्थर के नन्दी चले आ रहे है! वे जीवित हैं! उनका शरीर सोने के समान चमक रहा है! वहाँ जो प्रकाश फैला है, वह नन्दियों के शरीर की कांति ही है। प्रभो, उनकी आंखें क्या हैं, जलते हुए अंगारे है! हम लोगों ने जो कुछ देखा, वही निवेदन कर रहे हैं। महाप्रभो, इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। यदि यह असत्य हो, तो हम अपने सिर देने के लिए तैयार हैं। कैसा आश्चर्य है! पत्थर के नन्दी चले आ रहे है। भगवान् बाहुबली स्वामी–विराट् शिला-प्रतिमा–स्वयं नन्दियों को चलाते आ रहे हैं! अटारी पर खड़े होकर अपनी आँखों से हमने यह दृश्य देखा है। फौरन ही आपके पास आकर समाचार सुना दिया है। शिला-कृतियां जीवित हो उठी हे–यह कैसा अद्भुत काल है। अप्पा जी (नरेश विष्णुवर्धन) ने कहा–'तुम लोग धन्य हो कि सबसे पहले ऐसे दृश्य को देखने का सौभाग्य प्राप्त किया! जाओ, सबको यह संतोष का समाचार सुनाओ कि जीवित नन्दी पैदल चले आ रहे हैं और भगवान् बाहुवली उन्हे चलाते आ रहे हैं।

जब उपस्थित लोगों को यह मालूम हुआ, तव उनके आनन्द की सीमा न रही। उन्नत सौधाग्रों तथा वृक्षों के शिखरों पर चढ़कर लोग इस दृश्य को देखने लगे। लगभग तीन कोस की दूरी पर भगवान् बाहुबली–श्रवलबेलगोल के गोम्मटेश्वर स्वामी–नन्दियों को चलाते आ रहे थे। महोन्नत शिलामूर्ति जो कि बारह पुरुषों के आकार-सी बड़ी है–एक सजीव, सौम्य पुरुष के रूप में दिखाई दे रही थी। गोम्मटेश्वर के प्रत्येक कदम पर धरती काँपने लगती थी। उनके पद-तल मे जितने लता-गुल्म पड़ते थे, चूर-चूर हो जाते थे। अहंकार की भाँति जमीन के ऊपर सिर

उठाये हुए शिला-खण्ड भगवान् बाहुबली के पदाघात से भूमि में धँस जाते थे। नन्दियों के बदन से सोने की-सी छवि छिटकती थी। उनके गले मे बंधे हुए, पीठ कर लटकते हुए नाना प्रकार के छोटे-बड़े घंटे, कमर पर, बगल में, पैरों में लगे हुए घुँघरू मधुर निनाद कर रहे थे, जिनकी प्रतिध्वनि कानन में सर्वत्र गूंज रही थी। × × ×

वे नन्दी ! दीदी, सुनहले रंग के नन्दी। मेरु पर्वत की भाँति उन्नत, पुष्ट, उत्तम आभरणों से सजे हुए नन्दियों को परम सौम्य एवं सुन्दर भगवान् बाहुबली को चलाते हुए आना ऐसा भव्य दृश्य था जिसकी महत्ता का परिचय उसे स्वयं देखने पर ही हो सकता है। शब्दों से उसका वर्णन करना सचमुच असभव ही है। लोग परस्पर कहने लगे–'इससे बढ़कर पुण्य का दृश्य और कहाँ देखने को मिलेगा। इसे देखकर हमारी आँखें धन्य हुई। मरते दम तक मन मे इस दृश्य को रखकर जी सकते हैं।' × × ×

बाहुबली स्वामी नन्दियों को देवालय के महाद्वार तक चलाते आये। तब अप्पाजी, तुम, छोटी दीदी, मैं तथा उपस्थित सब लोगों ने आनन्द तथा भक्ति से हाथ जोडकर बाहुबली तथा नन्दियों के चरणों पर सिर रखकर प्रणाम किया। महाद्वार के ऊपर से लोगों ने पुष्पों से महाबलि स्वामी का मस्तकाभिषेक किया।" (पृ. 232, 233, 240)

प्रस्तुत अश के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि भगवान् बाहुबली जैन एवं जैनेतर धर्मो के परमाराध्य पुरुष के रूप मे शताब्दियो से वन्दनीय रहे है। शैव मन्दिर के निर्माण की परिकल्पना मे भगवान बाहुबली का भक्ति एव श्रद्धा से स्मरण और उनका सुगन्धित पुष्पों से देवालय के महाद्वार पर पुष्पाभिषेक यह सिद्ध करता है कि भगवान् बाहुबली जैन समाज के ही नहीं अपितु सम्पूर्ण कर्नाटक राज्य की अर्चा के प्रमुख देवपुरुष रहे है। सम्राट् विष्णुवर्धन के प्रतापी सेनापति ने विषम परिस्थितियों मे भी होयसल राज्य की कीर्ति-पताका के लिए कठोर श्रम किया था। शातला के लेखक श्री के. वी. अय्यर के अनुसार–

"पत्तों की आड में छिपे हुए सुगन्धि पुष्प की भाँति गंगराज ने होयसल राज्य का निर्माण करके निष्काम कर्मी कहलाकर वे परम पद को प्राप्त हुए।" इन्हीं महान् गगराज ने गोम्मटेश्वर का परकोटा बनवाया, गंगवाडि परगने के समस्त जिन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया, तथा अनेक स्थानों पर नवीन जिनमन्दिर निर्माण करायें। प्राचीन कुन्दकुन्दान्वय के वे उद्धारक थे। इन्ही कारणो से वे चामुण्डराय से भी सौगुणे अधिक धन्य कहे गये हैं।

राजा विष्णुवर्धन के उत्तराधिकारी नरसिंह प्रथम (ई0 1141 से 1172) अपनी दिग्विजय के अवसर पर श्रवणबेलगोल आए और गोम्मट देव की विशेष रूप से अर्चा की। उन्होंने अपने विशेष सहायक पराक्रमी सेनापति एवं मन्त्री हुल्ल द्वारा बेलगोल में निर्मित चतुर्विंशति जिन मन्दिर का नाम 'भव्यचूड़ामणि' कर दिया और मन्दिर के पूजन, दान तथा जीर्णोद्धार के लिए 'सवणेरु' ग्राम का दान कर भगवान् गोम्मटेश के चरणो मे अपने राज्य की भक्ति को अभिव्यक्त किया। मन्त्री हुल्ल ने नरेश नरसिंह प्रथम की अनुमति से गोम्मटपुर के तथा व्यापारी वस्तुओं पर लगने वाले कुछ कर (टेक्स) का दान मन्दिर को कर दिया। होयसल राज्य के विघटन पर दक्षिण भारत में विजयनगर सर्वधर्म सद्भाव की परम्परा मे अटूट आस्था रखते थे। उनके राज्यकाल मे एक बार जैन एवं वैष्णव समाज मे गम्भीर मतभेद हो गया। जैनियों में से आनेयगोण्डि आदि नाडुओं ने राजा बुक्काराय से न्याय के लिए प्रार्थना की। राजा ने जैनियों का हाथ वैष्णवों के हाथ पर रखकर कहा कि धार्मिकता में जैनियों और वैष्णवों में कोई भेद नहीं है। जैनियों को पूर्ववत् ही पच्चमहावाद्य और कलश का अधिकार है। जैन दर्शन की हानि व वृद्धि को वैष्णवों को अपनी ही हानि व वृद्धि समझना चाहिए। न्यायप्रिय राजा ने श्रवणबेलगोल के मन्दिरों की समुचित प्रवन्ध व्यवस्था और राज्य में निवास करने वाले विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में सद्भावना की कड़ी को जोड़कर भगवान् गोम्मटेश के चरणों मे श्रद्धा के सुमन अर्पित किए थे। वास्तव में भगवान् गोम्मटेश

राष्ट्रीय एकता एवं विश्वबन्धुत्व के अनुपम उपमेय हैं।

मैसूर राज्यवंश आरम्भ से ही भगवान् गोम्मटेश की असीम भक्ति के लिए विख्यात रहा है। इस तीर्थ की प्रबन्ध व्यवस्था एवं विकास में मैसूर नरेशों, मन्त्रियों, राज्य अधिकारियों एवं जनसाधारण का विशिष्ट सहयोग रहा है। श्रवणबेलगोल के मन्दिरो पर आई भयंकर विपदा को अनुभव करते हुए मैसूर नरेश चामराज ओडेयर ने वेलगोल के मन्दिरों की जमीन को ऋण से मुक्त कराया था। एक विशेष आज्ञा द्वारा उन्होंने मन्दिर को रहन करने व कराने का निषेध किया था। श्रवणबेलगोल के जैन मठ के परम्परागत गुरु चारुकीर्ति जो तेलगु सामन्त के त्रास के कारण अन्य किसी स्थान पर सुरक्षा की दृष्टि से चले गये थे। मैसूर नरेश ने उन्हें ससम्मान वापिस बुलाया और पुनः मठ में प्रतिष्ठित करके श्रवणबेलगोल की ऐतिहासिक परम्परा को प्राणवान् बनाया। जैन शिलालेख सग्रह मे संग्रहित अभिलेख 84 (250), 140 (352), 444 (365), 83 (246), 433 (353), 434 (354) मैसूर राज्यवश की गोम्मटस्वामी में अप्रतिम भक्ति के द्योतक हैं। मैसूर राज्यवंश एव उसके प्रभावशाली जेनेतर पदाधिकारियों की भगवान् गोम्मटेश के चरणों में अटूट आस्था का विवरण देते हुए श्वेताम्बर मुनि श्री शील विजय जी ने अपनी दक्षिण भारत की यात्रा (वि. सं. 1731-32) में लिखा है–

"मैसूर का राजा देवराय भोज सरीखा दानी है और मद्य-मांस से दूर रहने वाला है। उसकी आमदनी 65 लाख की है। जिसमें से 18 लाख धर्म कार्य में खर्च होता है। यहाँ के श्रावक बहुत धनी, दानी और दयापालक हैं। राजा के ब्राह्मण मंत्री विशालाक्ष (वेलान्दुर पंडित) विद्या, विनय और विवेकयुक्त हैं। जैन धर्म का उन्हें पूरा अभ्यास है वे जिनागमों की तीन बार पूजा करते हैं, नित्य एकाशन करते हैं और भोजन में केवल 12 वस्तुएँ लेते हैं। प्रतिवर्ष माघ की पूनों को गोम्मटस्वामी का एक सौ आठ कलशों से पंचामृत अभिषेक कराते हैं। बड़ी भारी रथ यात्रा होती है।" (नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य का इतिहास, पृ. 556)।

मैसूर राज्यवंश परम्परा से भगवान् बाहुबली के मस्तकाभिषेक में श्रद्धा से रुचि लेता आया है। सन् 1826 में आयोजित मस्तकाभिषेक के अवसर पर संयोगवश श्रवणबेलगोल में महान् सेनापति चामुण्डराय के वंशज मैसूर नरेश कृष्णराज वडेयर के प्रधान अंगरक्षक की मृत्यु हो गई थी। उनके पुत्र पुट्ट दैवराजे अरसु ने अपने पिता की पावन स्मृति में गोम्मटस्वामी की वार्षिक पाद पूजा के लिए उक्त तिथि को 100 'वरह' का दान दिया। गोम्मटेश्वर तीर्थक्षेत्र की पूजा-अर्चा आदि के लिए इसी प्रकार से अनेक भक्तिपरक अभिलेख श्रवणबेलगोल से प्राप्त होते है।

श्रवणबेलगोल स्थित भगवान् गोम्मटस्वामी की विशाल एवं उत्तुंग प्रतिमा का रचनाशिल्प एवं कला कौशल दर्शनार्थियों को मन्त्रमुग्ध कर देता है। ऐसी स्थिति में कला प्रेमियो को अनायास जिज्ञासा होती है कि आज से सहस्राधिक वर्ष पूर्व भगवान् बाहुबली की इतनी विराट् मूर्ति का निर्माण कैसे किया गया होगा, किस प्रकार इस विशालकाय मूर्ति को पर्वत पर लाया गया होगा और कैसे इसे पर्वत पर स्थापित किया गया होगा? इन्द्रगिरि पर्वत पर स्थिति भगवान् गोम्मटेश्वर की प्रतिमा के निर्माण, कला-कौशल, रचना-शिल्प आदि के सम्वन्ध में महान् पुरातत्ववेत्ता श्री के. आर. श्रीनिवासन् द्वारा प्रस्तुत शोधपूर्ण जानकारियां अत्यन्त उपादेय हैं। विद्वान् लेखक ने भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित 'जैन कला एवं स्थापत्य' खंड 2 के अन्तर्गत 'दक्षिण भारत' (600 से 1000 ई0) की मूर्ति कला का विवेचन करते हुए अपनी मान्यताओ को इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

"श्रवणबेलगोल की इन्द्रगिरि पहाड़ी पर गोम्मटेश्वर की विशाल प्रतिमा मूर्तिकला में गंग राजाओं की और, वास्तव मे, भारत के अन्य किसी भी राजवंश की महत्तम उपलब्धि है। पहाड़ी की 140 मीटर ऊंची चोटी पर स्थित यह मूर्ति चारों ओर से पर्याप्त दूरी से ही दिखाई देती है। इसे पहाड़ी की चोटी के ऊपर प्रक्षिप्त ग्रेनाइट की चट्टान को काटकर बनाया गया है। पत्थर की सुन्दर रवेदार उकेर ने निश्चय ही मूर्तिकार को व्यापक रूप से

संतुष्ट किया होगा। प्रतिमा के सिर से जांघों तक अंग-निर्माण के लिए चट्टान के अवांछित अंशों को आगे, पीछे और पार्श्व से हटाने मे कलाकार की प्रतिभा श्रेष्ठता की चरम सीमा पर जा पहुंची है। × × × × पार्श्व के शिलाखण्डों मे चीटियों आदि की बांबियां अकित की गयी हैं और कुछेक में से कुक्कुट-सर्पों अथवा काल्पनिक सर्पों को निकलते हुए अंकित किया गया है। इसी प्रकार दोनों ही ओर निकलती हुई माधवी लता को पांव और जांघो से लिपटती और कंधो तक चढ़ती हुई अंकित किया गया है, जिनका अंत पुष्पों या बेरियों के गुच्छों के रूप में होता है। × × × यह अंकन किसी भी युग के सर्वोत्कृष्ट अंकनों में से एक है। नुकीली ओर सवेदनशील नाक, अर्धनिमीलित ध्यानमग्न नेत्र, सौम्यस्मित-ओष्ठ, किंचित् बाहर को निकली हुई ठोड़ी, सुपुष्ट गाल, पिण्डयुक्त कान, मस्तक तक छाये हुए घुंघराले केश आदि इन सभी से आकर्षक, वरन् देवात्मक मुखमण्डल का निर्माण हुआ है। आठ मीटर चौडे बलिष्ठ कंधे, चढ़ाव-उतार रहित कुहनी और घुटनों के जोड़, संकीर्ण नितम्व जिनकी चौड़ाई सामने से तीन मीटर है ओर जो वेडौल और अत्यधिक गोल हैं, ऐसे प्रतीत होते हैं मानो मूर्ति को सतुलन प्रदान कर रह हों, भीतर की ओर उरेखित नालीदार रीढ़, सुदृढ़ और अडिग चरण, सभी उचित अनुपात में, मूर्ति के अप्रतिम सौंदर्य और जीवन्तता को बढ़ाते हैं, साथ ही वे जैन मूर्तिकला की उन प्रचलित परम्पराओं की ओर भी संकेत करते है जिनका दैहिक प्रस्तुति से कोई सम्वन्ध न था– कदाचित् तीर्थकर या साधु के अलौकिक व्यक्तित्व के कारण, जिनके लिए मात्र भौतिक जगत् का कोई अस्तित्व नहीं। केवली के द्वारा त्याग की परिपूर्णता-सूचक प्रतिमा की निरावरणता, दृढ़ निश्चयात्मकता एवं आत्मनियन्त्रण की परिचायक खड्गासनमुद्रा और ध्यानमग्न होते हुए भी मुखमण्डल पर क्षलकती स्मिति के अकन मे मूर्तिकार की महत् परिकल्पना और उसके कला-कौशल के दर्शन होते हैं। सिर और मुखाकृति के अतिरिक्त हाथों, उंगलियों, नखों, पैरो तथा एड़ियो का अकन इस कठोर दुर्गम चट्टान पर जिस दक्षता के साथ किया गया है, वह आश्चर्य की वस्तु है। सम्पूर्ण प्रतिमा को वास्तव में

पहाड़ी की ऊंचाई और उसके आकार-प्रकार ने संतुलित किया है तथा परम्परागत मान्यता के अनुसार जिस पहाड़ी चोटी पर बाहुबली ने तपश्चरण किया था वह पीछे की ओर अवस्थित है और आज भी इस विशाल प्रतिमा को पैरों और पार्श्वों के निकट आधार प्रदान किये हुए है, अन्यथा यह प्रतिमा और भी ऊंची होती। जैसा कि फर्ग्युसन ने कहा है: 'इससे महान और प्रभावशाली रचना मिश्र से बाहर कहीं भी अस्तित्व मे नहीं है और वहां भी कोई ज्ञात प्रतिमा इसकी ऊँचाई को पार नहीं कर सकी है।' ××× इसके अतिरिक्त है समूचे शरीर पर दर्पण की भांति चमकती पालिश जिससे भूरे-स्वेत ग्रेनाइट प्रस्तर के दाने भव्य हो उठे हैं; और भव्य हो उठी है इनमें निहित सहस्र वर्ष से भी अधिक समय से विस्मृत अथवा नष्टप्राय यह कला जिसे सम्राट् अशोक और उसके प्रपौत्र दशरथ के शिल्पियों ने उत्तर भारत में गया के निकट बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों की आजीविक गुफाओं के सुविस्तृत अंतः भागों की पालिश के लिए अपनाया था। ××× मूर्ति के शरीरांगों के अनुपात के चयन में मूर्तिकार पहाड़ी-चोटी पर निरावृत्त मूर्ति की असाधारण स्थिति से भली-भांति परिचित था। यह स्थिति उस अण्डाकार पहाड़ी की थी जो मीलों विस्तृत प्राकृतिक दृश्यावली से घिरी थी। मूर्ति वास्तविक अर्थ में दिगम्बर होनी थी, अर्थात् खुला आकाश ही उसका वितान और वस्त्राभरण होने थे। मूर्तिकार की इस निस्सीम व्योम-वितान के नीचे अवस्थित कलाकृति को स्पष्ट रूप से इस पृष्ठभूमि के अंतर्गत देखना होगा और वह भी दूरवर्ती किसी ऐसे कोण से जहाँ से समग्र आकृति दर्शक की दृष्टि-सीमा में समाहित हो सके। ऐसे कोण से देखने पर ही शरीरांगों के उचित अनुपात और कलाकृति की उत्कृष्टता का अनुभव हो सकता है।" (पृष्ठ 225-227)

गोम्मटेश्वर द्वार के बायीं ओर एक पाषाण पर अंकित शिलालेख 85 (234) में कन्नड कवि बोप्पण 'सुजनोत्तम' ने भगवान् गोम्मटेश्वर के अलौकिक विग्रह के निर्माण, रचना-कौशल, जनश्रुतियों आदि का हृदयग्राही विवेचन किया है। बत्तीस पद्यों में प्रस्तुत की गई यह काव्यात्मक प्रशस्ति

वास्तव में कविराज वोप्पण के मुख में प्राकृतिक रूप से स्थित बत्तीस दांतों की सम्मिलित पूजा है। भगवान् गोम्मटेश की कलात्मक प्रतिमा की प्रशंसा में कवि का कला प्रेमी मन इस प्रकार से अभिव्यक्त हुआ है–

अतितुंगाकृतिया दोडागददरोल्सौन्दर्य्यमौन्नत्यमु
नुतसौन्दर्य्यमुमागे मत्तितिशयंतानागदौन्नत्यमुं।
नुतसौन्दर्य्यमुमूर्ज्जितातिशयमुं तन्नल्लि निन्दिर्द्दुवें
क्षितिसम्पूज्यमो गोम्मटेश्वर जिनश्रीरूपमात्मोपमं।

× × × × × ×

मरेदुं पारदु मेले पक्षिनिवहं कक्षद्वयोद्देशदोल्
मिरुगुत्तुं पोरपोण्मुगुं सुरभिकाश्मीरारुणच्छायमी-
तेरदाश्चर्य्यमनी त्रिलोकद जनं तानेय्दे कण्डिर्द्दुदा-
न्नैरिवन्नेंट्टने गोम्मटेश्वरजिनश्री मूर्त्तियं कीर्त्तिसल्।।

अर्थात् 'जब मूर्ति बहुत बड़ी होती है तब उसमें सौन्दर्य प्रायः नहीं आता। यदि बड़ी भी हुई और सौन्दर्य भी हुआ तो उसमें दैवी प्रभाव का अभाव हो सकता है। पर यहाँ इन तीनों के मिश्रण से गोम्मटेश्वर की छटा अपूर्व हो गर्व है। कवि ने एक दैवी घटना का उल्लेख किया है कि एक समय सारे दिन भगवान् की मूर्ति पर आकाश से 'नमेरु' पुष्पों की वर्षा हुई जिसे सभी ने देखा। कभी कोई पक्षी मूर्ति के ऊपर होकर नहीं उड़ता। भगवान् की भुजाओं के अधोभाग से नित्य सुगन्ध और केशर के समान रक्त ज्योति की आभा निकलती रहती है।

सहस्राधिक वर्ष से भगवान् बाहुबली की अनुपम प्रतिमा जन-जन के लिए वन्दनीय रही है। दिग्विजयी सम्राटों, कुशल मन्त्रियों, शूरवीर सेनापतियों, मुसलमान राजाओं, अंग्रेज गवर्नर जनरल, देश-विदेश के कलाविदों एवं जनसाधारण ने इस मूर्ति में निहित सौन्दर्य की मुक्त कंठ से सराहना की है। कायोत्सर्ग मुद्रा में यह महान् मूर्ति जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति का सन्देश दे रही है। सुप्रसिद्ध कला-प्रेमी एवं चिन्तक श्री

हेनरिक जिम्मर ने भगवान् गोम्मटेश की कलात्मक एवं आध्यात्मिक सम्पदा का निरूपण करते हुए लिखा है–

'आकृति एवं अंग-प्रत्यंग की संरचना की दृष्टि से यद्यपि यह प्रतिमा मानवीय है, तथापि अधर लटकती हिमशिला की भॉति अमानवीय, मानवोत्तर है और इस प्रकार जन्म-मरण रूप संसार से, दैहिक चिन्ताओ से, वैयक्तिक नियति, इच्छाओं, पीड़ाओं एवं घटनाओं से सफलतया असंपृक्त तथा पूर्णतया अन्तर्मुखी चेतना की निर्मल अभिव्यक्ति है। ... किसी अभौतिक अलौकिक पदार्थ से निर्मित ज्योतिस्तंभ की नाईं वह सर्वथा स्थिर, अचल और चरणों में नमित एवं सोत्साह पूजनोत्सव में लीन भक्त-समूह के प्रति सर्वथा निरपेक्ष पूर्णतया उदासीन खड्गासीन है।' (महाभिषेक स्मरणिका, पृ. 185)

भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की गौरवशाली परम्परा में राष्ट्रीय नेताओ एवं उदार धर्माचार्यों की प्रेरणाा से भारतीय जन-मानस में प्राचीन भारत के गौरव के प्रति विशेष आकर्षण का भाव बन गया। स्वतन्त्र भारत में प्राचीन भारतीय विद्याओं के उन्नयन एवं संरक्षण के लिए विशेष प्रयास किए गए हैं। भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री श्री जवाहर लाल नेहरू का भारतीय विद्याओं एवं इतिहास से जन्मजात रागात्मक सम्बन्ध रहा है। महान् कलाप्रेमी श्री नेहरू ने 7 सितम्बर 1651 को अपनी एकमात्र लाडली सुपुत्री इन्दिरा गांधी के साथ भगवान् गोम्मटेश की प्रतिमा के दर्शन किए थे। भगवान् गोम्मटेश के लोकोत्तर छवि के दर्शन से वह भाव-विभोर हो गए और उन गौरवशाली क्षणों में उन्हें अपने तन-मन की सुध नहीं रही। आत्मविस्मृति की इस अद्‌भुत घटना का उल्लेख करते हुए उन्होंने मठ की पुस्तिका में लिखा है– I came, I saw and left enchanted ! (मैं यहां आया, मैंने दर्शन किए और विस्मय-विमुग्ध रह गया !)

वास्तव में भारतीय कलाकारों ने इस अद्वितीय प्रतिमा में इस देश के महान् आध्यात्मिक मूल्यों का कुशलता से समावेश कर दिया है। इसीलिए

इस प्रतिमा की शरण में आए हुए देश-विदेश के पर्यटक एवं तीर्थयात्री अपनी-अपनी भाषा एवं धर्म को विस्मरण कर विश्व-बन्धुत्व के उपासक बन जाते हैं। भगवान् गोम्मटेश की इस अलौकिक प्रतिमा ने विगत दस शताब्दियों से भारतीय समाज विशेषतः कर्नाटक राज्य की संस्कृति को प्राणवान् बनाने में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। भगवान् बाहुबली के इस अपूर्व जिन बिम्ब के कारण ही श्रवणबेलगोल राष्ट्रीय तीर्थ बन गया है। इस महान् कलाकृति के अवदान से प्रेरित होकर श्री न. स. रामचन्द्रैया ने विनीत भाव से लिखा है–

"बाहुबली की विशाल हृदयता को ही इस बात का श्रेय है कि सभी देशों और अंचलों से, उत्तरोत्तर बढ़ती हुई संख्या में, यहां आने वाले तीर्थ-यात्री भाषा तथा धर्म के भेदभाव को भूल जाते हैं। न केवल जैनों ने, बल्कि शैवों और वैष्णवों ने भी, यहां मन्दिर बनवाये हैं और इस जैन तीर्थ-स्नान को अनेक प्रकार से अलंकृत किया है। गोम्मट ही इस आध्यात्मिक साम्राज्य के चक्रवर्ती सम्राट् है। साहित्य एवं कला के साथ यहां धर्म का जो सम्मिश्रण हुआ है उसके पीछे इसी महामानव की प्रेरणा थी। कर्नाटक की संस्कृति में जो कुछ भी महान् है उस सबका वह प्रतीक बन गया है।" कालिदास कह गये हैं कि महान् लोगों की आकांक्षाएं भी महान् ही होती हैं–'उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना।' बाहुबली मानव-उत्कृष्टता के उच्चतम शिखर पर पहुंचे हुए थे। मानव इतिहास में इससे अधिक प्रेरणादायक उदाहरण और कोई नहीं मिल सकता। बोप्पण के वृत्त की एक पंक्ति यहां उद्धृत करने योग्य है। 'एमक्षिति सम्पूज्यमो गोम्मटेश्वर जिनश्रीरूप आत्मोपमम् !' इससे हमें वाल्मीकि की सुविदित उपमा का स्मरण हो आता है–'गगनं गगनाकारं सागरं सागरोपमम्।' गोम्मट की भव्य तथा विशाल उत्कृष्टता अद्वितीय है। (मैसूर, पृ. 146)

भगवान् गोम्मटेश के इसी भव्य एवं उत्कृष्ट रूप के प्रति श्रद्धा अर्पित करने की भावना से देश की लोकप्रिय प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने भगवान् बाहुबली सहस्राब्दी प्रतिष्ठापना समारोह के अवसर पर

हेलीकाप्टर से गगन-परिक्रमा करते हुए भगवान् गोम्मटेश का सद्यजात सुगन्धित कुसुमों एव मत्र-पूत रजत-पुष्पो से अभिषेक किया था। इसी अवसर पर आयोजित एक विशाल सभा में भगवान् गोम्मटेश के चरणों मे श्रद्धा अभिव्यक्त करते हुए उन्होंने इस महान् कला-निधि को शक्ति और सौन्दर्य का, बल का प्रतीक बतलाया था। महामस्तकाभिषेक के आयोजन की संस्तुति करते हुए उन्होने इस अवसर को भारत की प्राचीन परम्परा का सुन्दर उदाहरण कहा था। भगवान् गोम्मटेश की विशेष वन्दना के निमित्त वह अपने साथ आस्था का अर्घ्य–चन्दन की माल, चांदी जड़ा श्रीफल और पूजन सामग्री ले गई थीं। उपर्युक्त सामग्री को आदरपूर्वक श्रवणबेलगोल के भट्टारक स्वामी को भेंट करते हुए उन्होंने कहा था–"इसे देश की ओर से और मेरी ओर से, अभिषेक के समय बाहुबली के चरणों में चढ़ा दीजिए।"

–1617 दरीबाकला, दिल्ली-11006

विशेष प्रस्तुत निबन्ध मे चर्चित शिलालेख जैन शिलालेख संग्रह (भाग एक) मे उद्धृत है।

सारा राष्ट्र ही जैन है

घटना फरवरी 1981 की है। भारत की लोकप्रिय प्रधानमत्री बाहुबली भगवान् श्रवणबेलगोला के महामस्तकाभिषेक समारोह मे अपने श्रद्धा सुमन अर्पित की राजधानी लोट आई। 26 फरवरी 1981 को ससद मे व्यंगात्मक ढग से कुछ सासदो ने प्रश्न उठाया कि "क्या आप जैन हो गई है?" जो इतनी दूर जेन प्रतिभा पर श्रद्धासुमन अर्पित करने गई। श्रीमती गाधी ने उत्तर दिया "मै महान भारतीय विचारो की एक प्रमुख धारा के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने वहा गई थी, जिसका भारतीय इतिहास वे सस्कृति पर गहरा प्रभाव है और स्वतंत्रता संग्राम मे उन सिद्धांतो को अपनाया गया था। राष्ट्रपिता गाधी जी ने जैनियों के मूल सिद्धात अपरिग्रहक अहिसा के बल पर ही आज़ादी का मार्ग प्रशस्त किया था। **मैं ही क्यों समस्त राष्ट्र ही जैन है**, क्योकि हमारा राष्ट्र अहिंसावादी है ओर जैन धर्म का मूल सिद्धात अहिंसा है। हम जैन धर्म के आदर्श को नहीं छोडेंगें"

इसके पश्चात संसद में एक दम शान्ति हो गई।

जैन संस्कृति एवं साहित्य के विकास में दक्षिण भारत का योगदान

–रमा कान्त जैन

गोदावरी नदी के दक्षिण में अवस्थित आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, कर्णाटक, केरल तथा महाराष्ट्र का वह भूभाग जो कभी गंगों, चालुक्यों और राष्ट्रकूटों के आधिपत्य में रहा, सामान्यतया दक्षिण भारत माना जाता है। यहां की मुख्य भाषाएं तेलुगु, तमिल, कन्नड़ और मलयालम हैं।

यद्यपि वर्तमान काल के चौबीसों तीर्थंकर उत्तर भारत में ही हुए, इतिहास काल के प्रारम्भ से ही दक्षिण भारत जैन धर्म के अनुयायियों से युक्त रहा और कई शताब्दियों तक जैन धर्म का एक सुदृढ़ गढ़ बना रहा। जैन संस्कृति और साहित्य के संवर्द्धन में दक्षिण भारत का विशिष्ट योगदान रहा है। वर्ष 2001 की जनगणनानुसार दक्षिण के चार राज्यों में 5,43,344 जैनधर्मानुयायी बसते हैं–सबसे अधिक 4,12,659 कर्णाटक में हैं।

दक्षिण भारत में जैन धर्म का प्रवेश

हरिषेण के **वृहत्कथाकोश,** रत्ननन्दी के **भद्रबाहुचरित,** चिदानन्द कवि के **मुनिवंशाभ्युदय** और पं. देवचन्द्र की **राजावलिकथे** में निबद्ध जन अनुश्रुति के अनुसार उत्तर भारत में 12 वर्षीय भीषण दुर्भिक्ष पड़ने की आशंका से अन्तिम श्रुतकेवलि भद्रबाहु ने जैन मुनियों के विशाल संघ के साथ दक्षिण की ओर विहार किया था। भद्रबाहु श्रवणबेलगोल में कटवप्र पहाड़ी पर रुक गये और अपने शिष्य विशाखाचार्य को अन्य मुनियों के साथ पाण्ड्य और चोल राज्यों में जाने का आदेश दिया। उनकी समाधि वीर निर्वाण संवत् 162 (ई.पू. 365) में हुई थी। **किन्तु यह जैन धर्म और उसके अनुयायियों के दक्षिण भारत में प्रवेश का प्रथम चरण नहीं रहा होगा, अपितु उसके पूर्व ही कर्णाटक और तमिलनाडु के पाण्ड्य**

और चोल राज्यों में उनका प्रसार हो चुका होगा तभी विशाल मुनि संघ को शान्तिपूर्ण चर्या हेतु आचार्य वहां ले गये।

जैन मुनियों का दक्षिण भारतवासियों पर प्रभाव

जैन-मुनियों की सरल-सादी जीवनचर्या, विनम्र स्वभाव, निष्कपट व्यवहार और नैतिक शिक्षाओं ने दक्षिण की सभ्य विद्याधर जाति को मोह लिया। साधुओं ने भी घनिष्टता बढ़ाने के लिये स्थानीय बोलियों और भाषाओं को सीखा और उनमें साहित्य सृजन किया। दक्षिण भारत में जैन धर्म को जनसम्मान और राज्याश्रय दोनों ही प्राप्त रहे और ईस्वी सन् की प्रथम कई शताब्दियों तक जैन धर्मानुयायी दक्षिण भारतीय समाज में अग्रणी पंक्ति में बने रहे। तदनन्तर शैव, वैष्णव और वीर–शैव सम्प्रदायों के कट्टर विद्वेष और राज्याश्रय समाप्त हो जाने के कारण उनकी स्थिति में ह्रास हुआ। तदपि दक्षिण भारतीय समाज पर जैन धर्म और उसके अनुयायियों का प्रभाव अभी बना हुआ है। आज भी दक्षिण में वर्णमाला सीखने के पूर्व विद्यार्थियों को 'ओनामासीधं (ओम् नमः सिद्धेभ्यः) सिखाया जाता है जो राष्ट्रकूट काल में जैन गुरुओं द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में डाली गई अपनी गहरी छाप का परिणाम है। तमिल समाज के उच्च वर्गो में जैन संस्कार अभी भी विद्यमान हैं। शैव धर्म के पुनरुत्थान और राजनीतिक कारणों से भारी संख्या में जैनों का धर्मान्तरण हुआ, किन्तु धर्म परिवर्तित लोगों ने अपने जैन रीति-रिवाजों को अपनाये रखा। उनके आचार वैसे ही बने रहे। तमिल शब्द 'शैवम' विशुद्ध शाकाहारी के लिये प्रयुक्त होता है और वहां के ब्राह्मण शुद्ध शाकाहारी होते हैं जो स्पष्टतया जैन धर्म का प्रभाव है।

प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के साहित्य भण्डार की अभिवृद्धि में दक्षिणात्य जैनाचार्यों का योगदान

प्रथम शती ईस्वी से ही दक्षिण भारत में अनेक प्रकाण्ड विद्वान् और

प्रभावक जैन आचार्य हुए जिन्होंने प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओं में अध्यात्म, धर्म, दर्शन, न्याय, श्रमणाचार, श्रावकाचार, व्याकरण, छन्द, वैद्यक, पुराण ग्रन्थ और टीका ग्रन्थ आदि की रचना करके जैन भारती के भण्डार को धार्मिक एवं लौकिक साहित्य से भरा।

ईस्वी सन् की प्रथम सहस्राब्दि में आचार्य कुन्दकुन्द, गुणधर, उमास्वामि, स्वामी समन्तभद्र, शिवकोटि, कवि परमेश्वर, सर्वनन्दि, पूज्यपाद, देवनन्दि, वज्रनन्दि, पात्रकेसरि, श्रीवर्द्धदेव, भट्ट अकलंक देव, जटासिंहनन्दि, स्वामी वीरसेन, महाकवि स्वयम्भू, विद्यानन्दि, जिनसेन स्वामी, उग्रादित्याचार्य, महावीराचार्य, शाकटायन पल्यकीर्ति, राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथम, गुणभद्र, सोमदेव सूरि, महाकवि पुष्पदन्त, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, वीरनन्दि, वादिराज सूरि, वादीभसिंह सूरि, यतिमल्लिषेण तथा अमृतचन्द्र सूरि प्रभृति विद्वान् उल्लेखनीय हैं।

जैनधर्मानुयायियों द्वारा दक्षिण भारतीय भाषाओं के साहित्य में योगदान

दक्षिण भारतीय भाषाओं में **तमिल** भाषा सबसे प्राचीन है। इसकी अपनी वर्णमाला, अपनी लिपि, स्वतन्त्र शब्द भण्डार, व्याकरण, उक्ति वैचित्र्य और अभिव्यक्ति की विद्या तथा धार्मिक व लौकिक विषयों पर विविध विपुल साहित्य है। ई. पू. द्वितीय-प्रथम शती से तमिल में लिपिबद्ध शिलालेख मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। तमिल साहित्य की अभिवृद्धि तमिलनाडु में जैन मुनि संघों के प्रवेश के साथ मानी जाती है। प्राचीनतम उपलब्ध कृति **तोलकाप्पियम्** पद्य में निबद्ध व्याकरण ग्रन्थ है। इसके कर्ता प्रतिमा योगी तोलकाप्पियर हैं। इसके 'मरबियल' विभाग में जीवों का वर्गीकरण जैन सिद्धान्त के अनुसार है। गुणवीर पण्डित ने भी **नेमिनाथम्** नामक एक अन्य व्याकरण रचा।

तमिल के 18 नीति ग्रन्थों में **तिरूक्कुरल, नालडियार** और **पलमोलि**

का स्थान सर्वोपरि है; ये जैन कृतियां मानी जाती हैं। कणिमेदैयार की **तिणैमालै** और **एलादि,** विलम्बिनाथर की **नान्माणिक्कडिगै** और माक्कारियाशन की **श्रीपंचमूलम्** भी 18 नीति काव्यों में समाहित जैन कृतियां हैं। तमिल के प्रसिद्ध पंच महाकाव्यों में से तीन – **शिलप्पदिकारम्, वलयापति** और **जीवक चिन्तामणि** तथा पांचों उप काव्य – **नीलकेशी, चूड़ामणि, यशोधर काव्यम्, उदयणन कदै** और **नागकुमार काव्यम्** भी जैन कृतियां हैं।

उपर्युक्त के अतिरिक्त जैन रचनाकारों ने स्तोत्र, उक्ति संग्रह, छन्द शास्त्र, गणित, ज्योतिष आदि पर भी गम्भीर रचनाएं एवं टीकायें लिखकर तमिल साहित्य की अभिवृद्धि की।

द्वितीय शती ईस्वी से प्रचलन प्राप्त **कन्नड़** भाषा का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथम कृत **कविराजमार्ग** है। तदनन्तर दसवीं शती ईस्वी से सत्रहवीं शती ईस्वी तक कन्नड़ भाषा में जैनधर्मानुयायियों द्वारा विविध विषयक विपुल साहित्य की रचना की गई। दसवीं शती ईस्वी में किन्हीं कोट्याचार्य ने गद्य में **वड्डाराधने** की और महाकवि आदि–पम्प ने **आदिपुराण** की रचना की थी। सत्रहवीं शती ईस्वी तक कन्नड़ में जैन कवियों द्वारा 19 पुराण रचे गये। इनके अतिरिक्त **लीलावती, हरिवंशाभ्युदय,** और **जीव संबोधने** नामक काव्य; **मालतीमाधव** नामक नाटक; **काव्यालोकन** नामक अलंकार ग्रन्थ; **छन्दोम्बुधि** नामक छन्द शास्त्र; **भाषाभूषण** और **शब्द स्मृति** नामक व्याकरण ग्रन्थ; तथा **जातकतिलक** एवं **नरपिंगलि** नामक ज्योतिष ग्रन्थों की रचना हुई। राजा दित्य ने गणित पर 6 ग्रन्थ रचे। **गोवैद्य, कल्याणकारक** और **बालगृहचिकित्सा** नामक वैद्यक ग्रन्थों का तथा जैन धर्म एवं दर्शन विषयक **समय परीक्षे, धर्मामृत, आचारसार, प्राभृतत्रय** और **तत्वार्थ परमात्म प्रकाशिका** का प्रणयन हुआ। चामुण्डराय ने नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के **गोम्मटसार** पर **वीर मार्तण्डी** नाम्नी कन्नड़ टीका रची। **षटपदि ग्रन्थ, सांगत्य ग्रन्थ, शतक ग्रन्थ**, और **सूपशास्त्र** सदृश लोकोपकारी ग्रन्थों का भी प्रणयन हुआ।

भरतेश वैभव और **शतकत्रयी** के रचयिता रत्नाकरवर्णी मध्यकाल के उल्लेखनीय कन्नड़ कवि हैं।

यूं तो **तेलुगु** भाषा भी 2000 वर्ष प्राचीन है, आरम्भ में संस्कृत और प्राकृत को राज्याश्रय प्राप्त रहने से तेलुगु का व्यवहार आम जनता में घरों तक सीमित रहा। सातवाहन नरेशों ने शिलालेखों और दानपत्रों में तेलुगु का प्रयोग प्रारम्भ किया। ग्यारहवीं शती ई. में हुए नन्नय भट्ट तेलुगु के ज्ञात आदि-कवि पंडित माने जाते हैं उसके पूर्व का साहित्य धार्मिक विद्वेष की अग्नि में स्वाहा हो गया। तदपि उस अज्ञात युग में भी वांचियार नामक जैन लेखक द्वारा तेलुगु में छन्द शास्त्र लिखे जाने का श्रीपति पण्डित का और सन् 941 ई. में हुए पद्म कवि द्वारा जिनेन्द्र पुराण रचे जाने का उल्लेख मिलता है। जैन कवि भीमना के **राघवपाण्डवीय काव्य** को ब्राह्मण नन्नय भट्ट ने ईर्ष्यावश नष्ट करा दिया था। 1100 ई. में हुए जैन कवि मल्लना अपरनाम पावुलूरि ने **पावुलूरि गणित** रचा। कवि अघवर्ण ने तेलुगु में एक छन्दशास्त्र और दो व्याकरण ग्रन्थों की रचना की थी। आधुनिक काल में वेदम वेंकट शास्त्री ने **बोब्बिलियुद्धमु** नामक ऐतिहासिक नाटक और **बोब्बिलिराजुकथा** की रचना की और डॉ. चिलुकूरि नारायणराव ने जैन धर्म पर तेलुगु में पुस्तक लिखी।

मलयालम साहित्य के इतिहास में जैन कृतियों और कृतिकारों का उल्लेख सम्प्रति देखने में नहीं आया।

उपसंहार

इस प्रकार दक्षिण भारत को अनेक प्रकाण्ड विद्वान्, वाग्मी और प्रभावक जैन आचार्यों को जन्म देने का श्रेय है जिन्होंने जैन धर्म और संस्कृति के प्रचार-प्रसार में अभूतपूर्व योगदान दिया। 'पूज्यपाद' जैसे सम्मानसूचक विरुदों से विभूषित अकलंकदेव के **प्रमाण संग्रह** का मंगल

श्लोक कई शताब्दियों तक दक्षिण भारत के शिलालेखों तथा जैन एवं जैनेतर कृतियों में अपनाया गया।

अहिंसा को अपनाने वाले जैनधर्मानुयायी शत्रु राज्यों के प्रति शस्त्र उठाने में अक्षम रहे, जन सामान्य की इस आम धारणा का निरसन दक्षिण भारत के इतिहास से बखूबी होता है। वहां अनेक जैनधर्मानुयायियों ने न केवल राजसत्ताएं स्थापित की अपितु नैष्ठिक जैन रहते हुए भी अद्भुत शौर्य से रणभूमि में विपक्षियों के दांत खट्टे किये। दक्षिण में सर्वाधिक जीवि गंगवंशीय राज्य के संस्थापक ददि्दग और माधव कोंगुणिवर्म जैनधर्मानुयायी थे। दसवीं शती ईस्वी में हुए गंग नरेशों के महामन्त्री एवं प्रधान सेनापति चामुण्डराय, जो 'सम्यकत्व रत्नाकर' जैसी उपाधियों से विभूषित थे, को रणभूमि में अनेक बार अपना हस्तकौशल दिखाने हेतु 'वैरिकुलकालदण्ड' जैसे विरुदों से सम्मानित किया गया था।

मध्यकाल में मुसलमानी राज्य के कारण जब उत्तर भारत में दिगम्बर जैन साधुओं की परंपरा विच्छिन्न हो गई थी दक्षिण में जैन मुनि अपनी चर्या का पूर्ववत् पालन करते रहे थे। 20 वीं शती ईस्वी के प्रथम पाद में ब्रिटिश शासन की कृपा से दिगम्बर जैन मुनियों का उत्तर भारत में भी पुनः पदार्पण हुआ। मूडबद्री, हुम्मच और श्रवणबेलगोल के जैन मठ और वहां के भट्टारक सम्पूर्ण भारत में श्रद्धास्पद बने रहे।

श्रवणबेलगोल में विन्ध्यगिरि के शिखर पर प्रतिष्ठापित गोम्मटेश्वर बाहुबलि का 57 फुट उत्तुंग प्रतिबिम्ब मूर्तिविज्ञान और रूपशिल्प की अनुपम कलाकृति है, विश्व के आश्चर्यो में परिगणित है। इस मूर्ति के अनुकरण पर न केवल दक्षिण में ही अपितु उत्तर भारत में भी कई स्थानो पर बाहुबली की मूर्ति प्रतिष्ठापित की गई। इस विशालकाय मूर्ति का मस्तकाभिषेक सामान्यतया 12 वर्ष के अन्तराल पर बड़ी धूमधाम से होता है जिसमें देश-विदेश से लाखों श्रद्धालु सम्मिलित होते हैं।

जैन बद्री (श्रवणबेलगोला)

भगवान् बाहुबली की विशाल मूर्ति विन्ध्यगिरि पर्वत पर विराजमान है। पहाड़ पर 600 सीढ़ियों द्वारा चढ़कर पहुँचते हैं। यह पर्वत जैनों का ही नही, अपितु अजैन तथा परदेसियों की दृष्टि में भी बहुत पवित्र है इसीलिये सभी यात्री नंगे पैर ही इस पर चढ़ते हैं। ये सीढ़ियाँ मुंबई के **प्रसिद्ध जौहरी दानवीर सेठ माणिकचंद हीराचंद,** जे.पी. ने सन् 1884 में बनवाई थीं। थोड़ी दूर जाने पर एक के बाद एक, पत्थर के दो तोरणद्वार मिलते हैं। कुछ ही दूर चढ़ने पर नीचे के मैदान में स्थित श्रवणबेलगोला गॉव तथा उसका पवित्र सरोवर और शस्य श्यामल क्षेत्रभूमि के मनमोहक दृश्य खुले रूप में दिखाई देते हैं। आगे चढ़ने पर एक मन्दिर मिलता है जिसको यहॉ के सेठ पद्मराजैया ने बनवाया था, इसे **"ब्रह्मदेव मंदिर"** कहते है। ब्रह्मदेव दक्षिण में क्षेत्रपाल माने जाते हैं। ब्रह्मदेव सिंदूर से रंगे हुए पाषाण मात्र हैं। यहाँ के लोग इसे **'जारुगुप्पे अप्प'** कहते हैं। इसे हिरीसाल निवासी रंगय्या ने सन् 1677 में बनवाया था। इसकी दूसरी मजिल पर 5 फुट ऊँची काले पत्थर की भगवान् पार्श्वनाथ की पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। अब कुछ और चढ़ने पर, भगवान् बाहुबली के मंदिर के सबसे बाहरी प्रकोष्ट के द्वार पर पहुँच जाते हैं।

दक्षिण के जैन मंदिरों के विषय में यह बात ध्यान में रखना जरूरी है कि वे प्रथमतः द्राविड़ स्थापत्य के अनुरूप होते है। दूसरे, उत्तर प्रान्तों के जैन मंदिरों से उनका सबसे बड़ा अन्तर बनावट का है। दक्षिण के मंदिर बनावट में दो तरह के होते हैं:– एक बसदि जिनमें प्रायः खंभोवाली सुखनासी और नवरंग होते हैं और मूर्तियां सबसे भीतर के गर्भगृह में विराजमान रहती हैं। मूर्तियों के दोनों तरफ यक्ष-यक्षी का होना जरूरी बात है। इन मंदिरों में परिक्रमा नहीं होती, उत्तर के मंदिरों में बिना परिक्रमा

का मंदिर तो क्या, चैत्यालय भी नहीं मिलेगा। दक्षिण के दूसरी तरह के मंदिरों को 'बेट्ट' कहते हैं। ये बहुधा पर्वतों के खुले शिखरों पर होते हैं जिनमें किसी घेरे के अन्दर बाहुबली की खड्गासन मूर्ति होती है। ऐसे बेट्ट दक्षिण में तो बहुत से हैं परन्तु उत्तर में कोई नहीं है।

जैनबद्री में कुल 38 मंदिर हैं जिनमें से 8 विन्ध्यगिरि पर इसी परकोटे में और 16 चन्द्रगिरि पर तथा 14 श्रवणबेलगोला ग्राम में हैं। विन्ध्यगिरि के मंदिरों के चारों तरफ जो परकोटा है उसके कपाट नहीं हैं। प्रातः 6 बजे से शाम के 6 बजे तक सबके लिये खुला रहता है। भक्तिभाव प्रदर्शन करने में यहां के अजैन जैनों को भी मात करते हैं। भगवान् उन सबके हैं जो उन्हें श्रद्धा-भक्ति से भजता है।

इस घेरे में जो 8 मंदिर हैं उनका वर्णन इस प्रकार है :-

1. **चौबीस तीर्थङ्कर बसदि**–यह बहुत ही छोटा मंदिर है इस मंदिर के भीतर एक गर्भगृह, उसके बाद सुखनासी तथा द्वारमंडप है। इस मंदिर में किसी तीर्थकर की कोई खास मूर्ति नहीं है, बल्कि पत्थर की एक पटिया पर नीचे की ओर तीन मूर्तियां खड़ी हैं और उनके ऊपर 21 छोटी-छोटी मूर्तियां गोल प्रभामंडल में अंकित की गई हैं। सन् 1648 में चारुकीर्ति, पंडित धर्मचन्द्र आदि ने इसका निर्माण किया था।

2. **ओदेगल बसदि**– इस प्राकार में सबसे बड़ा मंदिर यही है। यह एक ऊँचे चबूतरे पर बना है और सीढ़ियां चढ़कर ऊपर जाते हैं। दीवारों को संभालने के लिये टेकें लगाने के कारण इसका यह नाम पड़ा है। इसके गर्भगृहों के तीनों द्वार क्रमशः पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण दिशा की तरफ हैं जिनमें आदिनाथ, शान्तिनाथ और नेमिनाथ की विशाल मूर्तियां स्थापित हैं। इस कारण इस मंदिर का नाम 'त्रिकूट बसदि' भी पड़ गया है। यह होयसल राज्यकाल का बना हुआ है।

3. **चेन्नण्ण बसदि**–इसमें चन्द्रप्रभु भगवान् की 2.1/2 फुट ऊँची प्रतिमा विराजमान है। मंदिर में एक गर्भगृह है, एक द्वारमंडप है और

भीतर ओसार है। इस मंदिर के आगे एक मानस्तंभ खड़ा है। इसे चेन्नण्ण ने सन् 1673 में बनवाया था।

4. **सिद्धर बसदि**–यह मंदिर है तो छोटा-सा ही, पर इसमें 3 फुट ऊँची सिद्ध भगवान् की मूर्ति विराजमान है। मूर्ति के दोनों ओर 6-6 फुट ऊँचे मूर्तियों से खचित स्तंभ हैं। दोनों स्तंभों पर अनेक मूर्तियां अंकित हैं।

5. **अखण्डबागिलु (अखंड दरवाजा)**–यह एक ही अखण्ड ग्रेनाइट की शिला को काटकर बनाया गया है। इसके ऊपरी भाग में गजब की नक्काशी की गई है। बीच में लक्ष्मी जी एक खिले कमल में विराजमान हैं जिन्हें दो हाथी स्नान करा रहे हैं, इसे भी चामुण्डराय ने ही बनवाया था। इसकी दाई ओर भगवान् बाहुबली जी तथा बाई ओर भरत जी का मंदिर है। इनका निर्माण भरतेश्वर दण्डनायक ने सन् 1130 में किया था।

6. **सिद्धरगुण्डु**–अखण्ड दरवाजे की दाई ओर एक बड़ी शिला है जिसे सिद्धरगुण्डु (सिद्धशिला) कहते हैं। इस शिला पर अनेक लेख हैं और ऊपरी भाग में कई जैनाचार्यो की नामसहित मूर्तियॉ अंकित हैं।

7. **गुल्लिकायिज्जी बागिलु**–अखण्ड दरवाजे के सिवाय यह दूसरा दरवाजा है। इसका यह नाम पड़ने का कारण यह है कि इसकी दाई ओर की शिला पर बैठी हुई एक स्त्री का चित्र खुदा है जो 1 फुट का है। लोगों ने उसे गुल्किायिज्जी समझ लिया है परन्तु शिलालेख नं. 418 से विदित होता है कि यह चित्र मल्लिसेटि की पुत्री का है, जिसने यहां समाधिमरण किया था।

8. **त्यागद ब्रह्मदेव स्तंभ**–इसका दूसरा नाम 'चागद कंब' है। इस पर चामुण्डराय ने अपना और मूर्ति बनानेवाले कारीगर का परिचय दिया था परन्तु दुर्भाग्य से हेगडे कन्न नाम के महाशय ने अपनी करतूत अमर करने के लिये उक्त लेखों को घिसवा डाला, जिससे इस मूर्ति के स्थापनकाल, कारीगर का नाम तथा चामुण्डराय के प्रशस्त जीवन संबंधी महत्वपूर्ण घटनाएं लुप्त हो गईं।

डॉ. फर्ग्युसन ने इस स्तंभ की बड़ी तारीफ़ की है। इसके नीचे के भाग में कई सचित्र शिलालेख हैं। चँवरधारियों से आवेष्टित गुरु-शिष्य की मूर्ति को लोग चामुण्डराय और नेमिचन्द्र 'सिद्धान्त चक्रवर्ती' की मूर्ति बताते है।

यह स्तंभ भी उसी चामुण्डराय ने बनवाया था जिसने भगवान् बाहुबली की यह प्रतिमा बनावाई थी। चामुण्डराय गंग वंश के राजा राचमल्ल (चतुर्थ) के कमान्डर-इन-चीफ और प्रधानमंत्री थे। वे गोम्मटसार आदि ग्रंथों के रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती के शिष्य थे। उनकी ही आज्ञानुसार उन्होंने इस मूर्ति का निर्माण कराकर उन्हीं के हाथों से इसकी प्रतिष्ठा कराई थी। यह घटना, इस स्तंभ पर उत्कीर्ण की गई है।

आइये, अब भगवान् बाहुबली के दरबार को चलें। यह जो सामने छोटा-सा दरवाजा दिखाई दे रहा है यही उस दरबार के अदर जाने का रास्ता है। पर यह दरवाजा है कैसा? इसमें न कोई जोड़, न तोड़, न कहीं सीमेन्ट है और न कही चूना लगा है। एक बड़ी पर्वतशिला को कोर करके यह दरवाजा बनाया गया है।

इसकी दाहिनी ओर भगवान् बाहुबली का मंदिर है और बाई ओर भरत भगवान् का। भरत भगवान् का मंदिर यहां क्यों बनाया गया है? भगवान् बाहुबली के इस रूप में तपस्या करने में यह ही तो कारण हैं। यदि ये न होते, तो कौन जाने, भगवान् बाहुबली भी कलिकाल के हम पामर प्राणियों का उद्धार करने के लिये यहां खड़े होते या नहीं?

इस अखंडबागिलु की ऊपरी कमान को तो देखिये। कमल में स्थित लक्ष्मी जी को दो हाथी क्षीरोदधि के जल से स्नान करा रहे हैं। इस अखण्ड-बागिलु को भी चामुण्डराय ने ही बनवाया था।

आंगन पार करते ही यात्री भगवान् बाहुबली की प्रतिमावाले प्राकार के दरवाजे पर पहुंच जाता है। कड़ी धूप में चढ़ने वाला यात्री यहॉं की शीतल छाया में विश्राम पाकर आनन्द पाता है और बाद में आंगन के द्वार में घुसकर भगवान् बाहुबली के दरबार में हाजिर होता है। खुद आंगन का एक बड़ा दरवाजा है।

यह दरवाज़ा बहुत विशाल है। त्रिलोकीनाथ का यह दरबार है; दरबार का दरवाजा बड़ा होना ही चाहिये। इस दरवाजे के दाई ओर एक शिलालेख है, जिस पर भगवान् भरत बाहुबली की कथा सविस्तार लिखी है और चामुण्डराय द्वारा निर्माण की बात भी लिखी है जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्व की है।

अहो! दरवाजे के आगे यह बाई क्यों खड़ी है? यह बाई है कौन? खड़ी इसलिये है कि इसे यहां खड़े होने का हक है। यही वे जग प्रसिद्ध भक्तराज गुल्लिकायिज्जी हैं; और इनकी मूर्ति भी चामुण्डराय ने ही यहां स्थापित की है। इस स्तंभ के ऊपरी भाग में तो यक्ष ब्रह्मदेव बैठे हैं इसकी एक विशेषता है। यहाँ से देखने पर श्री बाहुबली का मस्तिष्क एवं चरण दोनों दिखते हैं।

भगवान् बाहुबली का सबसे पहला महामस्तकाभिषेक करने का बड़ा भारी गौरवान्वित पद चामुण्डराय को नहीं, बल्कि बुढ़िया गुल्लिकायिज्जी को मिला। चामुण्डराय ने इस करुण प्रसंग को भी पत्थर पर अंकित कराकर अपनी इस हार को ऐसे अलौकिक ढंग से अमर बनाया है, जिससे उनके हृदय की विशालता भी अमर हो गई। चलिये, अब अंदर चलें।

जिस सन्त के दर्शन के लिये आँखें वर्षो से तरस रही थीं; उस सन्त के साक्षात् दर्शन करके आत्मा, हृदय, और आँखों को ऐसे स्वर्गीय और अननुभूत सुख तथा तृप्ति का अनुभव होता है जिसे भाषा के शब्द व्यक्त नहीं कर सकते। आइये, पहले इस परकोटे और उसकी दीवारों को देखें।

अखण्डबागिलु द्वार से घुसने पर 65 सीढियाँ चढ़ने के बाद यात्री पर्वतशिखर के ऊपर अवस्थित एक बड़े आंगन में प्रविष्ट होता है। इस आंगन के अन्दर एक और आंगन है और इसी में गोम्मटेश्वर भगवान् की मूर्ति स्थापित है। इस परकोटे को भक्तराज गंगराज ने सन् 1166 में बनवाया था। इन्होंने और इनके वंशजों ने जैन बद्री और इसके आसपास के 80 मी. की परिधि के ग्रामों में सैंकड़ों ऐसे विशाल मंदिर बनवाये थे

जिनकी लागत उस जमाने में भी कम से कम पचास लाख रुपयों से कम न रही होगी। चामुण्डराय द्वारा निर्मित दो-तीन मंदिरों का ही पता चलता है परन्तु गंगराज और उनके वंशजों द्वारा निर्मित मंदिरों की संख्या सौ से कम नहीं।

इस परकोटे की दीवारें मानो लोहे की बनी हैं। लगभग 1000 वर्ष से अधिक इन्हें बने हो गये, पर क्या मजाल है कि जरा भी कहीं से मोच खा जायें? पत्थर की 2-2 फुट चौड़ी शिलाओं को काटकर उन्हें एक के ऊपर एक रखकर ये दीवारें खड़ी की गई हैं। इस परकोटे की बाहरी मुडगारियों पर यक्ष-यक्षियों से आवेष्टित बिम्ब हैं। सामने की सिद्धर बसदि की मुडगारी पर अष्ट दिग्पालों से आवेष्टित जिनबिम्ब हैं। इन्हीं दिग्पालों में 'मदन' नामक एक यक्ष है। यही रचना उदयपुर संस्थान-स्थित केशरियानाथजी के मंदिर पर भी दिखाई देती है।

बाहुबली भगवान् की मूर्ति इतनी सुन्दर और सजीव है कि जो कोई इसे देखता है वहीं इस पर फिदा हो जाता है।

इस मूर्ति की सुन्दरता के विषय में इतना ही कहा जा सकता है, जिस किसी भी स्थापत्य-कला-विज्ञ ने इसे देखा है वह इसकी कला से मोहित हुए बिना नहीं रहा। भारत सरकार के तत्कालीन पुरातत्व तथा स्थापत्य विभागों के डायरेक्टर-जनरल डॉ. फर्ग्युसन ने इस मूर्ति के विषय में लिखा है:-

"Nothing grandur or more imposing exists out of Egypt and there no known statue surpasses it in height, though it must be confessed they do excel in perfection of the Art they exhibit."

यह मूर्ति गोम्मटेश्वर भगवान् की है। दक्षिण भारत में ये इसी नाम से प्रसिद्ध है परंतु दिल्ली, आगरा, फिरोज़ाबाद, मेरठ आदि उत्तरी भारत के किसी जैनी से पूछो कि आप इन्हें किस नाम से जानते और पूजते हैं तो वे इनका नाम 'बाहुबली' ही बतायेंगे। अधिक सच बात तो यह है कि

उत्तर भारतीयों के लिये 'गोम्मटेश्वर' का नाम ही एक नई चीज है। इसका कारण यह है कि जैनों के प्रसिद्ध त्रेसठ शलाका पुरुषों में से किसी का भी नाम 'गोम्मटेश्वर' नहीं था। भगवान् जिनसेन ने भी अपने प्रसिद्ध 'आदिपुराण' में इनके गोम्मटेश्वर नाम का वर्णन नहीं किया।

मूर्ति के सम्मुख का मण्डप नौ देवताओं से सजा हुआ है। इनमें से आठ सहस्रीक दिग्पाल अपनी-अपनी सवारियों में आसीन बताये गये हैं। बीच की छत में इन्द्र महाराज भगवान् के स्नान के लिये हाथ में कलश लिये हुऐ खड़े बताये गये हैं। इन छतों की कारीगरी गजब की है। इन छतों को मंत्री बलदेव ने 12 वीं शताब्दी में बनवाया था। मूर्ति के सामने पत्थर की बाड़ लगी है जिसे सन् 1160 में भारतमैया ने बनवाया था।

इस मूर्ति के निर्माण-काल के विषय में भी मतभेद है। 'इन्सक्रिपशन्स ऑफ श्रवणबेलगोला' के लेखक प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता मि लुवीस राइस, C.I.E., M.R.A.S. सन् 973 को इसकी प्रतिष्ठा का वर्ष मानते हैं। श्री गोविन्द मंजय्येश्वर पै का मत है कि सन् 981 के मार्च की 13 वीं तारीख रविवार को इस मूर्ति की प्रतिष्ठा हुई थी। इस संबध में कई मतमतान्तर प्रचलित हैं। सबसे प्रसिद्ध मत यह है:-

कल्यब्दे षट् शताख्ये विनुतविभव संवत्सरे मासि चैत्रे
पंचम्यां शुक्लपक्षे दिनमणिदिवसे कुंभलग्ने सुयोगे।
सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटितभगणे सुप्रशस्तां चकार
श्रीमच्चामुण्डराजो बेल्गुलनगरे गोम्मटेशप्रतिष्ठाम्।।

अर्थात्-कलि संवत् 600 में, विभव संवत्सर के चैत्र महीने की सुदी 5 रविवार को कुंभ लग्न में चामुण्डराय ने बेलगोल ग्राम में शुभकारिणी गोम्मटेश भगवान् की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। इतना होने पर भी इस विषय में विद्वानों की भिन्न-भिन्न राय हैं। डॉ. आर. शामा शास्त्री के मतानुसार यह तिथि ता. 3 मार्च 1028 को पड़ती है। तो डॉ.ए. बेंकट सुब्बैया के मत से यह तिथि 21 अप्रैल 980 की है। श्री एस. श्रीकंठ शास्त्री के

मतानुसार यह तारीख 10 मार्च 907 की है। सच बात तो यह है अभी तक यह विषय अनिर्णीत ही है।

भगवान् बाहुबली क्यों पूज्य हुए इसका कारण स्पष्ट ही है। इस अवसर्पिणी काल में सबसे पहले कामदेव तो ये हैं ही, परन्तु मोक्षगामी जीवों में भी ये सबसे पहले हैं। भगवान् ऋषभदेव ने यद्यपि इनसे पहले दीक्षा ली थी, परन्तु उनसे भी पहले भगवान् बाहुबली ने मोक्ष प्राप्त किया, इसी कारण मोक्षमार्ग के प्रणेता के रूप में वे सर्वत्र पूज्य हुए।

यह मूर्ति बिलकुल दिगम्बर नग्नावस्था में है। चट्टान सीधी खड़ी है और उत्तरोनमुख है। शरीर का भारी बोझ सँभालने के लिये टांगों के आगे-पीछे की शिला को बमीठों के रूप में छोड़ दिया गया है। इसके सिवाय इस मूर्ति का कोई आधार नहीं है। इन दोनों ओर के बमीठों से माधवी लता पहले टांगों से और उसके बाद सुदीर्घ भुजाओं से लिपटती हुई ऊपर तक चली गई है।

ऐसी सुन्दर विशाल मूर्ति उस समय में बनाई गई जबकि वैज्ञानिक साधनों का यहां किसी को पता तक न था, इसलिये उन कारीगरों को कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा, उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। सभी अंग ऐसे तो नपे-तुले बने हैं कि कोई भी विशेषज्ञ इसमें कोई दोष नहीं निकाल सकता। बमीठों पर चरणों के दोनों ओर मराठी, प्राचीन कन्नड़ और तमिल लिपि में बड़े-बड़े शिलालेख हैं जिनमें लिखा है: **श्री चावुणराजे करवियले** (श्री चामुण्डराज ने बनवाई) और **श्री गंगराजे सुत्ताले करवियल** (गंगराज ने परकोटा बनवाया)। मराठी भाषा के इतिहास में ये दोनों वाक्य गद्य के सबसे प्राचीन नमूने माने गये हैं।

यह मूर्ति होयसल शिल्पकला की अन्य मूर्तियों के समान न तो आभूषणों से लदी है और न मिश्र या ग्रीक देवताओं की तरह ठसक के साथ बैठी ही है, फिर भी शोभा और शालीनता की दृष्टि से संसार की सभी मूर्तियों से बढ़कर है। खुद कारीगरों को भी कल्पना न थी कि जिस

पत्थर को वे तराश रहे हैं, उसमें से अन्त में जाकर ऐसी सर्वांगसुन्दर मूर्ति निकल आयेगी।

इस मूर्ति की ऊँचाई 57 फुट है। परन्तु पहले की सभी पुस्तकों में यह 70 फुट या 63 फुट की बताई है। कंधों की विशालता तो गज़ब की है, मानो बाहुबली भगवान् के सारे शरीर का बल इन भुजाओं में ही इकट्ठा हो गया है।

सर्वमान्य मान्यता यही है कि इस मूर्ति के कर्ता चामुण्डराय ही हैं। ये नरकेशरी गंगवंशीय राजा राचमल्ल (चतुर्थ) के प्रधान सेनापति तथा प्रधान मंत्री थे। राचमल्ल ने सन् 974 से 984 तक गंगवाड़ी में राज्य किया था। निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह मूर्ति सन् 983 में निर्माण की गई होगी। इसके पास का प्रकोष्ट गंगराज ने सन् 1116 में बनवाया था।

यह विशाल मूर्ति किस प्रकार यहाँ स्थापित हुई; इस सम्बंध में शंका की कोई गुंजाइश नहीं है। यह मूर्ति ग्रेनाइट की एक ही शिला काटकर बनाई गई है इसलिये प्रत्यक्ष रूप से ही यह नितान्त असंभव है कि यह कहीं दूसरी जगह बनाकर फिर बाद में विन्ध्यगिरि जैसे चिकने और ढलवाँ पहाड़ पर लाकर सीधी खड़ी कर दी गई हो। पहाड़ पर की शिलाओं का अभ्यास करने से यह बात निश्चित रूप से मालूम हो जाती है कि इसी पहाड़ के शिखर पर पहले एक बृहदाकार शिलाखंड था और उसी को काटकर यह मूर्ति बनाई गई है।

अजंता, एलिफेंटा और कन्नरी आदि सभी मंदिर पहाड़ों की शिलाओं को कोर करके बनाये गये हैं। उनके मुकाबले में शिखर की शिला को काटकर मूर्ति निकालना तो अपेक्षाकृत आसान ही काम था।

भगवान् बाहुबली की यह मूर्ति इतनी सुन्दर और सजीव है कि यदि इसे जैन-मूर्तिकला का प्रतीक कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं। जैन-मूर्तिकला और उसका मूर्ति शिल्प कला-वैभव इतना महान और

प्राचीन है कि पाश्चात्य विद्वानों को मुक्तकण्ठ से यह स्वीकार करना पड़ा है कि भारत की संस्कृति और धर्मो में मूर्तिपूजा के प्रणेता जैन हैं।

यहां यह कहना असंगत न होगा कि जैन धर्म की मूर्तिपूजा संबंधी मौलिक भावना अन्य सभी धर्मो से बिलकुल जुदी है और बहुत अंशों में तो उनसे बिलकुल विपरीत ही है। जैनों की मूर्तिपूजा चरम त्याग, क्षमा, दया, आत्मसंयम, आत्मचिंतन आदि बातों पर अवलम्बित है जबकि दूसरे धर्मों के देव संसारी माया-मोह में फॅसे रहने के कारण सांसारिक वैभवों में लिप्त और अनुरक्त दिखाई पड़ते हैं। अन्य धर्मवालों के देव तरह-तरह के आभूषणों से सज्जित, विविध सांसारिक वासनाओं को प्रदीप्त करनेवाले हाव-भावों और लीलाओं में संलग्न दिखाई पड़ते हैं। बाहुबली की मूर्ति की स्थापना डंकणाचार्य द्वारा प्रतिपादित होयसल-मूर्तिकला के प्रतीक शारीरिक सौंदर्य को बताने के लिये या मिश्र देश के अधिकार, अहंकार, साम्राज्य आदि भावव्यंजक देवों की महिमा बताने के लिये या जातीय मद को व्यक्त करने वाली रोमन पूर्व-पुरुषों की महत्ता बताने के लिये नहीं हुई परंतु जैन धर्म द्वारा अनुमोदित ऊंचे स्वरूपाचरण की **'वपुषा प्ररूपयन्ती'** परिभाषा का दर्शन कराने के लिये की गई है।

मैंने ईसाइयों को यहां सजदा करते देखा है। पूछने पर उन्होंने बताया कि उनके धर्म में भी त्याग और आत्मसंयम की बड़ी तारीफ की गई है। और उन तारीफों को इस मूर्ति में ऐसी कुशलता और खूबी से उतारा गया है कि हमें तो यही लगता है कि यह मूर्ति सचमुच ही हमारे धर्म के तत्वों को प्रतिपादित कर रही है। भगवान् बाहुबली की मूर्ति विश्ववंद्य मूर्ति है और इसीलिये जैन बद्री का तीर्थ भी विश्वतीर्थ है।

सन् 1799 में चौथे मैसूर युद्ध में टीपू सुलतान को हराकर आर्थर वेलेस्ली (जो बाद में ग्रांड ड्यूक ऑफ वेलिंग्डन के नाम से मशहूर हुआ और जो सन् 1799 से 1805 तक भारत का गवर्नर-जनरल रहा था) भी इस आश्चर्यकारी मूर्ति के दर्शन करने के लिये यहाँ आया था और इसे

देखकर घड़ी भर तो दंग रह गया था। उसने भी इसकी कला और लोकोत्तर कारीगरी की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।

भगवान् बाहुबली के आंगन के चारों तरफ एक अन्तर्गृह (परकोटा) है। इसमें किसी जमाने में (सन् 1817-18 में तो जरूर था) बड़ा अन्धकार था; दिन में भी मूर्तियां नहीं दिखती थीं। परन्तु धन्यवाद दीजिये समस्त भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी-मुंबई को और उसके सद्गत मैनेजर श्री बाबूलाल जी जैन (ये सज्जन टूंडला के पास सखावतपुर गांव के निवासी पद्मावतीपुरवाल जाति के थे) को जिन्होंने इनमें जालियाँ लगवा कर इन्हें प्रकाशित कर दिया। बामियों के पीछे जो पत्थर की दीवार लगा दी गई है वह भी उक्त कमेटी ने 4000 रु. खर्च करके बनवाई है। कर्नाटक सरकार ने भगवान् के मन्दिर को ही नहीं, सारे पर्वत को ही बिजली की रोशनी से जगमगा दिया है। ऊपर छत पर हासन निवासी सेठ एस. पुटसामैया श्रॉफ ने सर्चलाइट लगवा दी है।

कर्नाटक माता महासती अत्तिमब्बे

भगवान् गोम्मटेश्वर की प्राण प्रतिष्ठा के समय विशाल मेला जो यहाँ लगा था उसमें देश देशान्तर के लोग आए थे उनमें एक थी कर्नाटक की देवी अत्तिमब्बे। वे तैलप सम्राट आहवमल्ल के प्रधान सेनापति सुभट मल्लप की पुत्री थीं। वे यौवनकाल मे ही विधवा हो गई थीं। एक वर्ष का बालक ही उनके जीवन का आधार था। अजितसेन महाराज के उपदेश से जैन धर्म के प्रचार प्रसार करने में उनकी रुचि हुई। वे अपने पति के द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति का सदुपयोग करते हुए प्रत्येक विवाह के अवसर पर नवदम्पत्ति को शांतिनाथ का एक स्वर्णविग्रह और एक शास्त्र उपहार के रूप में देती थीं और साथ ही कम से कम पॉच शास्त्र लिखवाने की उन्हें प्रेरणा भी देती थीं। उनके कारण पन्द्रह सौ स्वर्ण पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ घर-घर पहुँची और धवला, जय धवला की सौ-सौ प्रतियॉं जिनालयों में स्थापित हुई।

इसके अतिरिक्त गाँव-गाँव में पाठशालाएँ, कुएँ, धर्मशालाएँ आदि की योजना कराती थीं और दीन-दुःखियों की सेवा करती थीं। यही कारण था कि वे दान चिन्तामणि अत्तिमब्बे कहलायीं। उन्हें कर्नाटक माता भी कहा जाता था। उनके स्पर्श मात्र से रोगी बालक निरोग हो जाते थे। ऐसे अतिशयों के कारण उन्हें भक्तशिरोमणी, संस्कृति मुकुटमणि कहकर आदर किया जाता था। उन्होंने अपने जीवनकाल में जैनधर्म का बहुत प्रचार-प्रसार किया।

('जैन बद्री के बाहुबली' से साभार)

त्यागाय श्रेय से वित्तमवित्तः संचिनोतियः।
स्वशरीरं स पङ्केन, स्नास्यामीति विलिम्पति।।

– इष्टोपदेश, 16

जो निर्धन मनुष्य दान करने तथा अपने सुख (हित) के लिये धन को एकत्रित करता है वह मनुष्य मैं स्नान करूँगा इस विचार से अपने शरीर को कीचड़ से लीपता है।

कटवप्र : एक अप्रतिम समाधि-स्थल

– प्रा. नरेन्द्रप्रकाश जैन

अतिशय क्षेत्र श्रवणबेलगोल स्थित चिक्कवेट्ट का प्राचीन नाम कटवप्र (संस्कृत) या कलवप्पु (कन्नड़) है। 'कट' या 'कल' शब्द का अर्थ है 'मृत्यु' तथा 'वप्र' या 'वप्पु' पर्वत को कहते हैं। इसका इतिहास 2300 वर्ष प्राचीन है। ईसा पूर्व तीसरी सदी में भगवान् महावीर की परम्परा के अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु उत्तर से चलकर यहाँ आए थे और अपनी अल्पायु शेष जानकर उन्होंने यहाँ काय और कषाय को कृश करते हुए सल्लेखना विधि से देहोत्सर्ग किया था। सम्राट् चन्द्रगुप्त भी अपना विशाल साम्राज्य अपने पुत्र बिम्बसार को सौंपकर 48 वर्ष की उम्र में आचार्य भद्रबाहु और उनके संघस्थ दो हजार मुनियों की सेवा-परिचर्या करते हुए यहाँ आकर उनके शिष्य बन गए थे। अपने दीक्षा-गुरू के महाप्रयाण के बारह वर्ष बाद उन्होंने भी समाधिपूर्वक देह-त्याग का आदर्श प्रस्तुत किया था। बाद में उनकी स्मृति में ही कटवप्र का एक नाम 'चन्द्रगिरि' प्रचलित हो गया।

ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी से ईसा की छठवीं शताब्दी तक जैन श्रमणों (मुनियों) के निरन्तर आवागमन होते रहने से ही इस श्रीक्षेत्र का **'श्रवणबेलगोल'** नाम प्रसिद्ध हुआ। यहाँ जैनों की बस्ती थी, इसलिए लोग इसे **'जैन बद्री'** भी कहते हैं। चन्द्रगिरि पर ध्यान करने वाले मुनि आहार के लिए नीचे बस्ती में आते थे। यहाँ पर उपलब्ध पाँच सौ से अधिक शिलालेखों से जैन धर्म और उसके अनुयायियों का गौरव प्रकट होता है। ईसवी सन् 600 के एक शिलालेख में कहा गया है कि इसी पवित्र कटवप्र की शीतल शिलाओं पर आचार्य भद्रबाहु और मुनि चन्द्रगुप्त का अनुसरण करते हुए सात सौ मुनि महाराजों ने तपश्चरणपूर्वक देह-त्याग का मार्ग अंगीकार किया। प्राचीन इतिवृत्त और पुराणों में कहा

गया है कि यह कटवप्र ज्ञानोदय एवं आध्यात्मिक साधना के लिए आने वाले धर्मनिष्ठ सन्तों का प्रिय बसेरा था। समाधि-मरण की यह परम्परा यहाँ बारहवीं सदी तक चलती रही। उस समय यह पर्वत कोलाहल-रहित एक शान्त स्थान था। बाद में यात्रियों का आवागमन बढ़ जाने पर यह क्रम टूट सा गया।

यहाँ के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, शिवकोटि, पूज्यपाद, गोल्लाचार्य, प्रभाचन्द्र, वादिराज आदि की चरण-रज से यह स्थान पवित्र होता रहा है। आचार्य भद्रबाहु और मुनि चन्द्रगुप्त के देहावसान के बाद भी जिन महानात्माओं ने यहाँ से समाधि प्राप्त की, उनमें आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती, आचार्य धर्मनिष्ठ, माँ काललदेवी, महाराजा विष्णुवर्धन के प्रतापी महादण्डनायक गंगराज, उनकी माँ पोचब्बे, कर्नाटक-माता नाम से प्रसिद्ध दानशीला अत्तिमब्बे, जैन धर्म की प्रभावक महिला-रत्न महारानी शान्तला की माँ माचिकब्बे, तीन राजवंशों गंग, राष्ट्रकूट एवं विजय नगर के राजा क्रमशः मारसिंह, इन्द्र और देवराज आदि के नाम उल्लेख्य हैं। तपश्चरण और समाधि से पवित्र इस पर्वत को **तीर्थगिरि** और **ऋषिगिरि** के नाम से भी जाना जाता है।

चन्द्रगिरि पर द्राविड़ वास्तु-शैली से निर्मित चौदह कलापूर्ण मंदिर हैं, जो एक परकोटे में बने हुए हैं। यह कोटा या परकोटा **'सुत्तालय'** कहलाता है। यहाँ तक 225 कम ऊँचाई वाली सीढ़ियों से आसानी से पहुँचा जा सकता है। यहाँ का सबसे पुराना मन्दिर चन्द्रगुप्त बसदि है। यह मन्दिर दक्षिणाभिमुखी है। इस मंदिर के एक जलान्ध्र में 60 चित्र–फलक हैं, जिनमें श्रुतकेवली भद्रबाहु और सम्राट् चन्द्रगुप्त के जीवन के दृश्य उकेरे गए हैं। **यह चित्रफलक कारीगरी का एक उत्कृष्ट नमूना है।**

यहाँ के सभी मन्दिरों में विराजमान तीर्थकर प्रतिमाओं में गजब का आकर्षण है। यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियों की सूक्ष्म पच्चीकारी को देखकर कलाकारों की छैनी का लोहा मानना पड़ता है। सभी मन्दिरों को तीन

भागों गर्भगृह, नवरंग और द्वार मण्डप के रूप में विभाजित किया गया है। मंदिर-परिसर में अनेक शिलालेख भी संरक्षित हैं।

चन्द्रगिरि पर ध्यान करने योग्य अनेक शिलायें और कन्दरायें हैं। जिस कन्दरा में भद्रबाहु ने शरीर का त्याग किया और जिसमें मुनि चन्द्रगुप्त ने भी बारह वर्षो तक उत्कट आत्म साधना की, वह **'भद्रबाहु गुफा'** कहलाती है। इसमें उन महान् आचार्यश्री के चरण स्थापित हैं। गुफा को चट्टान की एक कुदरती छत ने कमरे का रूप दे दिया है। भक्तों की मान्यता है कि इन चरणों की भावपूर्वक पूजा करने से मनोकामनाएं पूर्ण होती हैं।

चन्द्रगिरि प्राकृतिक सौन्दर्य का दिव्य धाम है। **लोग तो कश्मीर को धरती का स्वर्ग कहते हैं, किन्तु भव्यजीवों का स्वर्ग तो यह चन्द्रगिरि है।** इस कलिकाल में धर्माराधन और तप-त्याग के द्वारा स्वर्ग के रास्ते मुक्ति की ओर गमन करने के लिए चन्द्रगिरि एक उत्तम स्थान है। यहाँ की सुरम्य चट्टानों में अद्भुत चुम्बकीय आकर्षण है। यात्री का यहाँ बार-बार आने का मन होता है।

– 104, नई बस्ती
फीरोजाबाद (उ.प्र.)

अंबर-लोह-महीणं कमसो जहमल-कलंक-पंकाणं।
सोज्झावणयण-सोसे साहेंति जलाडणलाऽऽइच्चा।।

– ध्यानशतक, 97

जिस प्रकार जल वस्त्रगत मैल को धोकर उसे स्वच्छ कर देता है उसी प्रकार ध्यान जीव से कर्मरूप मैल को धोकर उसे शुद्ध कर देने वाला है।

श्रुतकेवली भद्रबाहु और उनका समाधिमरण

–डॉ. श्रेयांस कुमार जैन

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद तीन अर्हत् केवली गौतम, सुधर्म और जम्बूस्वामी ने संघ का नेतृत्व किया। अनन्तर द्वादशांग श्रुत के ज्ञाता विष्णु, नन्दिमित्र अपराजित गोवर्द्धन और भद्रबाहु पांच श्रुतकेवली हुए।[1] गोवर्द्धनाचार्य के साक्षात् शिष्य प्रभावशाली तेजोमय व्यक्तित्व सम्पन्न श्रुतकेवली[2] भद्रबाहु अप्रतिम प्रतिभावान् थे और इनका व्यक्तित्व सूर्य के समान तेजस्वी था।[3] भद्रबाहु अध्यात्म के सबल प्रतिनिधि श्रुतधारा को अविरल और अखण्डित रूप में श्रुतधर गोवर्द्धनाचार्य से ग्रहण कर उसे सुरक्षित रखने वाले अन्तिम श्रुतकेवली थे, जिन्हें महर्षि कुन्दकुन्द ने अपने गमक गुरू के रूप में स्वीकार किया है।[4] श्रुतधर भद्रबाहु दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में सम्मानास्पद को प्राप्त हुए हैं। श्वेताम्बर इन्हें यशोभद्र का शिष्य स्वीकार करते हैं।[5]

बृहत्कथाकोषकार ने भद्रबाहु का जन्म पौण्ड्रवर्द्धन राज्य के कोटिकपुर (कोटपुर) ग्राम में बताया है और राज्य पुरोहित सोमशर्मा–सोमश्री के पुत्र कहा है। एक बार गोली के ऊपर गोली चढ़ाते हुए उन्होंने चौदह गोलियां एक दूसरे के ऊपर चढ़ा दी, यह खेल गोवर्द्धनाचार्य ने देखा और अपने निमित्त ज्ञान से जाना कि यह चौदह पूर्व के ज्ञाता होंगे तभी उनके पिता से बालक भद्रबाहु को अपने साथ ले जाने की अनुमति ली और साथ रख कर आगम का अभ्यास करा दिया। दीक्षा ग्रहण कर वह श्रुतधर हो गये। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के **'तित्थोगालिय पइन्ना'** आवश्यकचूर्णि, निर्युक्ति आदि ग्रन्थों में श्रुतधर भद्रबाहु के कुछ जीवन प्रसंग हैं, किन्तु उनके माता-पिता आदि गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित सामग्री नहीं है। नन्दीसूत्र में इन्हें 'प्राचीन' गोत्रीय कहा है।[6] **दश श्रुतस्कन्धनिर्युक्ति** में भी प्राचीन गोत्री कहकर वन्दन किया है।[7] **तित्थोगालिय पइन्ना** में इनके श्रेष्ठ शरीर

रचना के विषय में लिखा है–

सत्तमत्तोथिरबाहु जाणुयसीससुपडिच्छिय सुबाहो।
नामेण भद्दबाहो अबिही साधम्म सद्दोत्ति।। 4 ।।
सोवियचोद्दस पुव्वी वारस वासाइ जोगपडिवभो।
सुत्तत्थेणं निबंधइ अत्थं अज्झयणबंधस्स।। 715।।

योग साधक श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु महासत्व सम्पन्न थे, उनकी भुजाएं प्रलम्बमान सुन्दर सुदृढ़ और सुस्थिर थीं। ये सामर्थ्य–सम्पन्न, अनुभव सम्पन्न, श्रुत सम्पन्न अनुपम व्यक्तित्व थे। कल्पसूत्र स्थविरावली में इनके स्थविर गौदास, स्थविर अग्निदत्त, स्थविर भत्तदत्त, स्थविर सोमदत्त, इन चार शिष्यों का उल्लेख है।[8] श्वेताम्बर परम्परा आचार्य भद्रबाहु को श्रुतधर और आगम के रचनाकार के रूप में प्रस्तुत करती है। उन्होंने छेदसूत्रों की रचना की है। आगम साहित्य में छेदसूत्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दश श्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प व्यवहार, निशीथ, इन चार छेदसूत्रों की रचना आचार्य भद्रबाहु के द्वारा की गई है।

दिगम्बर साहित्य में आचार्य भद्रबाहु का व्यक्तित्व बहुत महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है। चन्द्रगिरि के शिलालेख में उनके विषय में लिखा है कि जिसमे समस्त शीलरूपी रत्नसमूह भरे हुए हैं और जो शुद्धि से प्रख्यात है, उस वंश रूपी समुद्र में चन्द्रमा के समान श्री भद्रबाहु स्वामी हुए। समस्त बुद्धिशालियों में श्री भद्रबाहु स्वामी अग्रेसर थे। शुद्ध सिद्ध शासन और सुन्दर प्रबन्ध से शोभा सहित बढ़ी हुई है व्रत की सिद्धि जिनकी तथा कर्मनाशक तपस्या से भरी हुई है कीर्ति ऐसे ऋद्धिधारक श्री भद्रबाहु स्वामी थे।[9] इनकी महिमा का ज्ञान शिलालेख में इस प्रकार किया गया है–

वर्ण्न्यः कथन्नु महिमा भण भद्रबाहो–
म्मोहो-मल्ल-मदमर्दन वृत्तबाहोः।
यच्छिष्यताप्तसुकृतेन स चन्द्रगुप्तः–
श्शुश्रुष्यतेस्म सुचिरं वन-देवताभिः।। जै.शि.सं.भा.1/पृ. 101

भला कहो तो सही कि मोहरूपी महामल्ल के मद को चूर्ण करने वाले श्री भद्रबाहु स्वामी की महिमा कौन कह सकता है? जिनके शिष्यत्व के पुण्यप्रभाव से वनदेवताओं ने चन्द्रगुप्त की बहुत दिनों तक सेवा की।

श्रुतकेवली भद्रबाहु के विविध जीवन प्रसंगों से उनका माहात्म्य स्पष्ट है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराएं उनको अति महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करती हैं फिर भी उनके शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। श्रुतधर भद्राबाहु और निमित्तधर भद्रबाहु के पार्थक्य का भी उल्लेख मिलता है।

दिगम्बर परम्परा के हरिषेण कृत बृहत्कथाकोष एवं रत्ननन्दी कृत 'भद्रबाहुचरित' के उल्लेखानुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु अवन्ति देश पहुँचे।[10] वहाँ के शासक श्री चन्द्रगुप्त ने अपने द्वारा देखे गये 16 स्वप्न भद्रबाहु स्वामी को सुनाये। उन्होंने उनका फल अनिष्टसूचक बताया, जिससे सम्राट को वैराग्य हो गया। उसने श्रुतकेवली भद्रबाहु से श्रमण दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा लेने वाले अन्तिम सम्राट चन्द्रगुप्त थे।[11] गोवर्द्धनाचार्य के बाद 29 वर्ष जिनशासन की प्रभावना काल श्री भद्रबाहु का रहा है।

श्वेताम्बर परम्परा श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य चन्द्रगुप्त को नहीं मानती है। आवश्यकचूर्णि में श्रुतकेवली भद्रबाहु की नेपाल यात्रा का कथन किया गया है।[12] श्वेताम्बरीय साहित्य तित्थोगालिय पइन्ना, आवश्यकनिर्युक्ति, परिशिष्ट पर्व आदि ग्रन्थों में श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन प्रसंग उपलब्ध हैं, किन्तु उनके शिष्य चन्द्रगुप्त का उल्लेख नहीं है और न दक्षिण यात्रा का ही उल्लेख है। हाँ, ऐसा उल्लेख अवश्य है कि भद्रबाहु विशाल श्रमण संघ के साथ दुष्काल में बंगाल में रहे जैसा कि श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थ परिशिष्ट पर्व में लिखा है–

इतश्च तस्मिन् दुष्काले कराले काल रात्रिवत्।
निर्वाहार्थं साधुसंघस्तीर नीर निधेर्ययौ।।

अर्थात् जीवन निर्वाहार्थ साधुसंघ समुद्री किनारों पर दुष्करल की घड़ियों

में विहरण कर रहा था। यही अभिमत आचार्य हेमचन्द्र सूरि का है।

दिगम्बरीय साहित्य में श्रुतकेवली भद्रवाहु के साथ उनके शिष्य चन्द्रगुप्त का उल्लेख[13] तो ही है साथ में उत्तर में दुष्काल पड़ने के कारण दक्षिण में विहार का प्रसंग तो बहुत विस्तार से प्रतिपादित किया गया है। श्री भद्रबाहु ने कथानक में प्रसंग है[14] कि एक दिन आचार्य श्री भद्रबाहु ने गोचरी के लिए नगर में जिनदास श्रेष्ठी के घर मे प्रवेश किए तो वहाँ पालने में लेटे हुए बालक ने देखकर कहा, 'जाओ जाओ' तब भद्रबाहु ने उससे पूछा कितने समय के लिए? उस अबोध बालक ने द्वादश वर्ष के लिए जाओ, ऐसा कहा। आचार्य बिना आहार ग्रहण किए उद्यान में लौटे वहाँ समस्त संघ को बुलाकर बताया कि यहाँ मालव (अवन्ति उज्जयिनी) देश में 12 वर्ष का दुष्काल पड़ेगा। समस्त संघ दक्षिण की विहार करने की तैयारी में जुट गया। अनन्तर 12000 साधुओं के साथ दक्षिण की ओर जब भद्रबाहु आगे वढ़े तब अनेक श्रेष्ठियों ने रोकने का प्रयत्न किया, किन्तु वे वहाँ नहीं रुके। संघ के साथ श्रुतकेवली भद्रवाहु धन, जन, धान्य, सुवर्ण, गाय, भैंस आदि पदार्थो से भरे हुए अनेक नगरों में होते हुए पृथिवी तल के आभूषण रूप इस श्रवण बेलगोल के चन्द्रगिरि (कटवप्र) नामक पर्वत पर पहुँचे।[15] इसी पर्वत पर उन्हें निमित्त ज्ञान से ज्ञात हो गया कि मेरी आयु अल्प है, ऐसा समझकर उन्होने समाधिरण करने का विचार बनाया। भगवान् जिनेन्द्र की देशना के आधार पर आचार्य लिखते हैं-

मन्दाक्षत्वेऽतिवृद्धत्वे चोपसर्गे व्रतक्षये,
दुर्भिक्षे तीव्ररोगे चासाध्ये कायबलात्यते।
धर्मध्यानतनूत्सर्गं हीयमानादिके सति,
संन्यासविधिना दक्षैर्मृत्युः साध्यः शिवाप्तये।।

इन्द्रियों की शक्ति मन्द हो जाने पर अतिवृद्धपना एवं उपसर्ग आ जाने पर शरीरिक बलक्षीण होने पर तथा धर्मध्यान और कायोत्सर्ग करने की शक्ति हीन हो जाने पर सल्लेखना अवश्य ग्रहण करना चाहिए।

सल्लेखना और समाधिमरण ये दोनों पर्यायवायी शब्द हैं। आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्डश्रावकाचार में सल्लेखना का लक्षण लिखते हैं–

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रूजायां च निःप्रतिकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः।। 122।। रत्न.श्रा.

अर्थात् निष्प्रतीकार उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग के उपस्थित होने पर धर्म की रक्षा के लिए, शरीर के परित्याग का नाम सल्लेखना है। सल्लेखना तुरन्त बाद समाधिमरण ग्रहण करने की प्रेरणा दी है।

अन्तः क्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्।। 123।। रत्न.श्रा.

जीवन के अन्त समय में समाधिरूप क्रिया का आश्रय लेना ही जीवन भर की तपस्या का फल है। ऐसा सर्वदर्शी भगवन्तों ने कहा है।

आचार्य शिवकोटि ने सल्लेखना और समाधिमरण भेद नहीं रहने दिया। आचार्य उमास्वामी ने भी सल्लेखना और समाधिमरण को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है।

समाधिमरण व्रत-तप का फल है, जैसा कि कहा भी है–

तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्युः समाधिना।। मृत्यु महोत्सव

अर्थात् तपे हुए तप, पालन किए हुए व्रत, पढ़े हुए शास्त्रों का फल समाधिमरण में है बिना समाधिमरण के ये सब व्यर्थ है।

इसलिए जब तक शक्ति रहे, तब तक समाधिमरण में प्रयत्न करना चाहिए।

आचार्य शिवकोटि ने समाधिमरण के कर्ता की स्तुति करते हुए कहा है कि जिन्होंने भगवती आराधना को पूर्ण किया, वे पुण्यशाली और ज्ञानी हैं और उन्हें जो प्राप्त करने योग्य था, उसे प्राप्त कर लिया।

सल्लेखक/क्षपक एक तीर्थ है, क्योंकि संसार से पार उतारने में निमित्त है। उसमें स्नान करने से पाप कर्मरूपी मल दूर होता है। अतः जो दर्शक समस्त आदर भक्ति के साथ उस महातीर्थ में स्नान करते हैं, वे भी कृतकृत्य होते हैं तथा वे सौभाग्यशाली हैं।[16] पण्डित आशाधर जी ने कहा है– "जिस महासाधक ने संसार परम्परा को सम्पूर्ण रूप से उन्मूलन करने वाले समाधिमरण को धारण किया है, उसने धर्मरूपी महान् निधि को पर-भव में जाने के लिए साथ ले लिया है। इस जीव ने अनन्त बार मरण प्राप्त किया, किन्तु समाधि सहित पुण्य मरण नही हुआ। यदि समाधि सहित पुण्य-मरण होता, तो यह आत्मा संसार रूपी पिंजड़े में कभी भी बन्द होकर नहीं रहता।[17] भगवती आराधना में ही कहा गया है कि जो जीव एक पर्याय में भी समाधिपूर्वक मरण करता है, वह सात-आठ पर्याय से अधिक संसार परिभ्रमण नहीं करता है।[18] कहा है– जो महान् फल बड़े बड़े व्रती संयमी आदि को काय-क्लेश आदि उत्कृष्ट तप तथा अहिंसा आदि महाव्रतों को धारण करने से प्राप्त नहीं होता, वह फल अन्त समय में समाधिपूर्वक शरीर त्यागने से प्राप्त होता है।[19]

उक्त भावों को धारण कर ही श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ने सल्लेखना/समाधि ग्रहण की थी।

बृहत्कथाकोष में बताया गया है कि भद्रबाहु की समाधि अवन्ति (उज्जयिनी) में ही हुई थी यथा–

प्राप्य भाद्रपदं देशं श्रीमदुज्जयिनीभवम्।
चकाराऽनशनं धीरः स दिनानि बहून्यलम्।।
समाधिमरणं प्राप्य भद्रबाहुर्दिवं ययौ।

(हरिषेणकृत वृहत्कथाकोष)

अर्थात् भद्रबाहु अवन्ति के भद्रपाद नामक स्थान में विराजे, वहीं उनका अनशन की अवस्था में समाधिमरण हो गया।

रत्ननन्दी ने भी यही लिखा है कि भद्रबाहु दक्षिण की ओर बढ़े किन्तु

थोड़े ही दूर जाकर प्राकृतिक संकेतों के आधार पर उन्हें अपना अन्तिम समय सन्निकट प्रतीत हुआ।[20] उन्होंने वहीं रुक कर समाधि ग्रहण कर ली।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार नेपाल में भद्रबाहु की समाधि मानी जाती है। वहाँ लिखा है कि जैन शासन को द्वितीय शताब्दी मध्यकाल में दुष्काल के भयंकर वात्याचक्र से जूझना पड़ा। उचित शिक्षा के अभाव में अनेक श्रुत सम्पन्न मुनि काल-कवलित हो गये। भद्रबाहु के अतिरिक्त कोई भी मुनि चौदह पूर्व का ज्ञाता नही बचा था। वे उस समय नेपाल की पहाड़ियों में महाप्रयाण ध्यान की साधना कर रहे थे। सघ को इससे गम्भीर चिन्ता हुई। आगमनिधि की सुरक्षा के लिए श्रमण सघाटक नेपाल पहुँचा। वहाँ संघ ने निवेदन किया कि आप मुनिजनों को दृष्टिवाद की ज्ञानराशि से लाभान्वित करें।[21]

रामचन्द्र मुमुक्षु रचित पुण्यास्रव कथाकोष के अन्तर्गत भद्रबाहुचरित में वर्णित है कि दक्षिण की एक गुफा में आकाशवाणी से अपनी अल्पायु सुनकर भद्रबाहु ने विशाखाचार्य को ससंघ चोलदेश भेज दिया और स्वयं अपने शिष्य चन्द्रगुप्त के साथ वहीं रुक गये और वही की गुफा में आत्मस्थ होकर रहने लगे।[22] महाकवि रइधू ने लिखा है कि जब भद्रबाहु मध्यरात्रि को ध्यान में स्थित थे तभी वाणी उत्पन्न हुई कि तुम्हारी निषिद्धिका (समाधिभूमि) यहाँ ही होगी।[23] इस आकाशवाणी को सुनकर श्री भद्रबाहु स्वामी ने जान लिया कि– समाधिमरण/सल्लेखना धारण करने का समय है।

साधक की दीर्घकालीन साधना का फल समाधिमरण है। दीर्घकाल से व्रताचरण करते हुए भव्य जीव की सफलता समाधिमरण से होती है।

जब जाना कि "अपने पवित्र मुनिपद की आयु अब थोड़ी ही रह गयी है" तब उन्होंने श्री विशाखाचार्य के नेतृत्व संघ को आगे भेज कर उसी पर्वत पर समाधि ग्रहण कर ली। उनकी सेवा हेतु चन्द्रगुप्त वहीं रुक गये। भद्रबाहु ने शरीर अशक्तता के कारण चतुर्विध प्रकार के आहार का त्याग

कर समाधि ग्रहण कर ली। गुरु आज्ञापूर्वक चन्द्रगुप्त (प्रभाचन्द्र) ने कान्तार चर्या की। श्रुतकेवली भद्रबाहु ने चेतन का ध्यान करते हुए धर्मध्यान पूर्वक प्राण त्याग किये और स्वर्ग सिधारे।[24] कुछ कथाकारों द्वारा लिखा गया है कि दुष्काल मगध में पड़ा और वहाँ के राजा चन्द्रगुप्त को दीक्षा देकर और अपने साथ लेकर दक्षिण देश को गये। स्वयं तो मुनि चन्द्रगुप्त के साथ एक गुहाटवी में रुक गये और विशाखाचार्य के नेतृत्व में संघ, चोल, तमिल, पुन्नाट देश की ओर भेज दिया।

उक्त कथानकों एवं शिलालेखों के आधार पर श्रुतकेवली भद्रबाहु के भाद्रपद देश, दक्षिणाटवी, शुक्लसर या शुक्लतीर्थ आदि समाधि स्थल के नाम प्राप्त होते हैं, किन्तु शिलालेखीय प्रमाण यथार्थ मालूम होते हैं। अतः विचार करने पर उक्त नाम श्रवणबेलगोल के ही प्रतीत होते हैं। शब्द भेद होने पर भी अर्थभेद नहीं होना चाहिए, ऐसा लगता है।[25]

समाधिमरण जीवन की अन्तिम बेला में की जाने वाली एक उत्कृष्ट साधना है। इसी उद्देश्य से श्रुतकेवली भद्रबाहु ने शरीर की क्षीणता और अपनी अल्पायु निमित्त ज्ञान से जानकर समाधि ग्रहण की थी। प्रत्येक साधक व्रत धारण का फल-समाधिमरण यह भली-भांति जानता है। इसलिए समाधिमरण की पवित्र भावना/याचना करता है– **दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो, सुगइगमणं समाहिमरणं ...**। अर्थात् दुःखों का क्षय हो, कर्मो का क्षय हो, बोधिलाभ हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो! साधक को मृत्यु का भय नहीं रहता, वह तो प्रसन्नता पूर्वक ज्ञान वैराग्य भावना तत्पर होकर मृत्यु को महोत्सव मानता है।[26] साधक समाधि के लिए अरिहन्त सिद्ध की प्रतिमाओं से युक्त पर्वत आदि योग्य स्थान का चयन करते हैं।[27] इसीलिए श्रुतकेवली भद्रबाहु ने सर्वदृष्टि से उचित चन्द्रगिरि (कटवप्र) को समाधि के लिए चुना। भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की तपस्या और सल्लेखना विधि के द्वारा इस छोटी पहाड़ी (चिक्कवेट्ट) पर शरीर त्याग से यह स्थल तीर्थ बन गया। श्रुतकेवली भद्रबाहु और सम्राट चन्द्रगुप्त का अनुकरण करते हुए समाधिमरण के लिए पवित्र स्थान के

रूप में यह चन्द्रगिरि पहाड़ी इतनी प्रसिद्ध हुई कि यहाँ के सबसे प्राचीन 600 ई. के शिलालेख में इसे कटवप्र या कल्पवप्पु (समाधिशिखर) तीर्थगिरि एवं ऋषिगिरि कहा गया है।

सल्लेखना पूर्वक श्रुतकेवली भद्रबाहु ने वी.नि. 155 में चन्द्रगिरि पर समाधिमरण को प्राप्त कर अपने को कृत्कृत्य किया। सल्लेखना उच्चतम आध्यात्मिक दशा का सूचक है। मृत्यु का आकस्मिक वरण नहीं है और न वह मौत का आह्वान है। वरन जीवन के अन्तिम क्षणों में सावधानी पूर्वक चलना है।

इसे जीवन की अन्तिम साधना कहा जा सकता है। वास्तव में जीवन रूपी मन्दिर का भव्य कलश है। इसी चिन्तन पूर्वक श्रुतकेवली भद्रबाहु ने समाधिमरण धारण कर कर्मभार को हल्का किया। अपने साधक जीवन के रहस्य को पहचाना और साधना को सफल कर स्वर्गस्थ हुए।

रीडर–संस्कृत विभाग, दि. जैन कॉलेज, बड़ौत

सन्दर्भः

1. सुयकेवलणाणी पच जणा विण्हु नन्दिमित्तो य।
अपराजिय गोवद्धण तह भद्दबाहु य सजादा।। नन्दीसंघ वलात्कारगण स.ग प्रा पा.

2. जो हि सुदेणाभिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्ध।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा।।
जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुदकेवली तम्हा।। 9 10।। समयसार

3. यो भद्रबाहुः मुनिपुगव पट्टपद्म।
सूर्यः स वो दिशतु निर्मलसघवृद्धिभ।। जैनसिद्धान्तभास्कर भाग 1 किरण 4 पृ. 51

4. वारस अगवियाणं चउदस पुव्वंगविउल वित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरु भयवओ जयओ।। 62।।
सद्दवियारो हुओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहिय।
सो तह कहियं णायं सीसेणं य भद्दबाहुस्स।। 61।। बोधपाहुड़

5. भद्रबाहु ने वैराग्यपूर्वक श्रुतधर आचार्य यशोभद्र के पास वी.नि. 139 (वि.पू. 331) मे मुनिदीक्षा ग्रहण की। गुरू के पास 17 वर्ष तक रहकर उन्होंने आगमो का गम्भीर अध्ययन किया।

6. भद्रबाहुं च पाईणं (नन्दी स्थविरावली)

7. वंदामि भद्दबाहुं पाईण चरिम सथल सुयनाणिं

8 थेररसणं अज्जभद्दबाहुस्स पाईत्त सगुत्तस्स इमे चत्तारि अतेवासी
अहावच्चा अभिन्नाया हुत्था ते जहा थेरे गोदासे थेरे अगिदत्ते
थेरे भवदत्ते 4 थेरे सोमदत्ते।

9 शिलालेख संग्रह भा. 1

10. चन्द्रावदातसत्कीर्तिश्चन्द्रवन्मोदकर्तृ (कृन्न) णाम्।
चन्द्रगुप्तिर्नृपस्तत्राऽचकच्चारु गुणोदय· ।। 6।। भद्रबाहुचरित परि.

11 मउडधरेसु चरियो जिणदिक्ख धरदिचद्दगुत्तो य।
तत्तो मउडधरादुंप्पवज णंव गेण्हति।। तिलो प. 4/1481

12. 'नेपाल' वत्तिणीए य भद्दवाहुसाभी अच्छति चोद्दस्स पुब्वी। आश्यकचूर्णि भाग-2 पत्राक 187

13. श्रीभद्रस्सर्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुत·।
श्रुतकेवलिनाथेषु चरम परमो मुनि ।।
श्री चन्द्रप्रकाशोज्ज्वलसान्द्रकीर्ति, श्री चन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्य·।
यस्य प्रभावाद्वनदेवताभिगराधित स्वम्य गणो मुनीनाम्।। शिलालेख न.3
जै शि.सं भा.1

14 वृहत्कथाकोष (भद्रबाहु कथा)

15 अथखलु ..... गुरुपरम्पराणामभ्यागतमहापुरुपसन्ततिसमयद्योतान्वय श्री भद्रवाहु स्वामिना उज्जयिन्या अप्टांगमहानिमित्त तत्त्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसम्वत्सरकालवैपम्यमुपलभ्यकथिते सर्वसंघ उत्तरपथात् दक्षिणापथं प्रस्थितः .... कटवप्रनामकोपलक्षिते .... शिखरिणिजीवितिशेषम् अल्पतरकाल अवुध्याध्वनः सुचकित तप समाधिमाराधयितुमापृच्छय निरवशेषसंघं विसृज्य शिप्येणैकेन पृथुलकास्तीर्णतलासु शिलासु शीतलासु स्वदेह सन्नयस्यागधितवान्। उद्धृत श्वेताम्वरमत समीक्षान पृ. 161

16. भगवती आराधना 1996 व 1992

17. सागारधर्मामृत 7/58 और 8/27-28
18. भगवती आराधना
19. शान्तिसोपान 81
20. अथाऽसौ विहरन्स्वामी भद्रबाहुः शनैः शनैः ।
    प्रापन्महाटवीं तत्र शुश्रव गगनध्वनिम्।।
    श्रुत्वा ....
    आयुरलिपष्ठमात्मीयमज्ञासीद् बोधलोचनः ।। तृतीय परि. भद्रबाहुचरित्त
21. आवश्यकचूर्णिः भाग 2 पत्रांक 187
22. पुण्यास्रव कथाकोष (जीवराजग्रन्थमालासोलपुर) पृ. 365
23. तुम्महॅणिसही इत्थुजिहो सई गयणसद्दुएरिसु तहुघोसइ।।
    (भद्रबाहु चाणक्य चन्द्रगुप्त कथा)
24. भद्दबाहु चेयणि झाएप्पिणु धम्मज्झाणं णाण चएप्पिणु।।
    भद्रबाहु चा. चन्द्र. कथा रइधू (286)
25. भद्रबाहु चरित प्रस्तावना पृ. 11 (सम्प. डॉ. राजा राम जैन)
26. संसारासक्तचित्ताना मृत्युभीतैः भवेन्नृणाम्।
    मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञानवैराग्यवासिनाम्।। मृत्यु महोत्सव।
27. अरिहतसिद्धसायर पउमसरं खीरपुप्फ फालभरिदं।
    उज्जाण भवण पासादं णाग जक्खधर।। 560 मूलाराधना।

वीरवर चामुण्डराय

–डॉ. श्रेयांस कुमार जैन

भारत वसुन्धरा पर अनेक सम्राट और मंत्री हुए हैं, जो कुशल प्रशासक के साथ महान् साहित्यकार थे, उन्हीं में वीरमार्तण्ड श्री चामुण्डराय विश्रुत हैं। ब्रह्मक्षत्रियवंशोत्पन्न[1] चामुण्ड के पिता गंगवंश के राज्याधिकारी थे और माता श्रीमती कालिका देवी धार्मिक महिला थीं। माता–पिता से धार्मिक संस्कार प्राप्त चामुण्ड ने श्री अजितसेन गुरू से शिक्षा–दीक्षा ग्रहण की[2] और कन्नड़ तथा संस्कृत भाषा पारंगत हुए। दिगम्बर जैन साधु से शिक्षा प्राप्त होने से आपने जैन धर्म सिद्धान्त का विशेष ज्ञान प्राप्त कर लिया था। सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य से भी शिक्षा ग्रहण कर संस्कृत में ग्रन्थ रचना अधिकार को प्राप्त हो गये थे।

बाहुबलिचरित्र में लिखा है कि द्राविड़देश में एक मथुरा नामक नगरी थी, जो वर्तमान में मडूरा (मदुरै) नाम से प्रसिद्ध है, वहाँ देशीयगण के स्वामी श्री सिंहनन्दी आचार्य के चरणकमल सेवक गंगवंश तिलक श्री राचमल्ल राजा हुए।[3] इनके मुख्य मंत्री श्री चामुण्ड थे, जैसा कि लिखा है–

तस्यामात्यशिखामणिः सकलवित्सम्यक्त्वचूड़ामणि–
र्भव्याम्भोजवियन्मणिः सुजनवन्दिव्रातचूड़ामणिः।
ब्रह्मक्षत्रियवैश्यशुक्तिसुमणिः कीर्त्यौघमुक्तामणिः
पादन्यस्तमहीशमस्तकमणिश्चामुण्डभूपोऽग्रणीः।। बाहु.चरित-11

इस कथन के अनुसार श्री चामुण्ड भूप महामंत्री हुए, वह एक दिन राचमल्ल की सभा में विराजमान थे, उस समय किसी सेठ ने आकर प्रणाम करके कहा कि महाराज! उत्तर दिशा में पोदनपुर नगर है, वहाँ पर भरत चक्रवर्ती द्वारा स्थापित कायोत्सर्ग मुद्रा में श्री बाहुबली का बिम्ब है, जो

वर्तमान में गोम्मट इस नवीन नाम से भूषित है। इत्यादि वृतान्त को सुनकर राजा राचमल्ल और चामुण्ड मंत्री दोनों अत्यन्त हर्षित हुए। चामुण्ड ने उस बिम्ब को वहीं से भाव नमस्कार किया। अनन्तर घर जाकर अपनी माता को बताया। माता ने उस बिम्ब के दर्शन की इच्छा व्यक्त की। श्री चामुण्ड ने देशीयगण में प्रधान श्री अजितसेन मुनि को नमस्कार करके बाहुबली स्वामी के बिम्ब के समाचार कहे और उनके समक्ष इस प्रकार की प्रतिज्ञा धारण की कि "मैं जब तक श्री बाहुबली की प्रतिमा का दर्शन नहीं करूँगा, तब तक दूध नहीं पीऊँगा।" अनन्तर सम्राट के सामने अपनी यात्रा का उद्देश्य निवेदित किया। सम्राट से आज्ञा लेकर सिद्धान्ताम्भोधिचन्द्र, सिद्धान्तामृतसागर आदि गुणों के धारक श्री नेमिचन्द्र स्वामी आचार्य एवं अनेक विद्वानों के समागम युक्त चतुरंग सेना सहित अपनी माता को भी साथ लेकर गोम्मट स्वामी श्री बाहुबली के बिम्ब दर्शन के लिए उत्तर दिशा की ओर श्री चामुण्ड ने प्रयाण किया। गमन करते हुए विन्ध्याचल पर्वत पर पहुँच कर जिनमन्दिर के दर्शन किए, वहीं उसी मन्दिर के मण्डप में सो गए। रात्रि में कूष्माण्डिनी देवी ने आचार्य श्री नेमिचन्द्र, चामुण्ड और चामुण्ड की माता को स्वप्न में कहा, "पादेनपुर जाने का मार्ग कठिन है। इस पर्वत में रावण द्वारा स्थापित श्री बाहुबली का प्रतिबिम्ब है, वह धनुष पर सुवर्ण के बाण चढ़ाकर पर्वत को भेदने पर प्रकट होगा" प्रातः काल श्री चामुण्ड ने श्री नेमिचन्द्र स्वामी को स्वप्न का वृतान्त सुनाया। उन्होंने स्वप्न के अनुकूल प्रवृत्ति करने को कहा! तदनुसार श्री चामुण्ड ने स्नान कर आभूषणों से भूषित होकर मुनि के समक्ष दक्षिण दिशा में खड़े होकर धनुष द्वारा सुवर्ण का बाण चलाया, जिससे पर्वत में छिद्र होकर वहाँ पर–

द्विप च ताल समलक्षण पूर्वगात्रो विंशच्छरासन समोन्नतभासमूर्तिः।
सन्माधवीव्रततिनागलसत्सुकायः सद्यः प्रसन्न इति बाहुबली बभूव।।

–बाहु.च. 43

अर्थात् "दशताल सम" लक्षणों से पूर्ण शरीर की धारक और बीस धनुष परिमाण ऊँची श्री बाहुबली की प्रतिमा प्रकट हुई।

श्री चामुण्ड ने भक्तिपूर्वक दर्शन किये और अभिषेक कर अपने आपको धन्य किया।

वहाँ से दक्षिण में पहुँचकर श्रवणबेल्गुल नगर में श्री गोम्मट स्वामी की प्रतिष्ठा की ओर 96 हजार दीनार को नव गोम्मट महोत्सव के निमित्त देकर गृहनगर की ओर प्रस्थान किया जैसा कि कहा भी है–

भास्वद्देशीगणाग्रेसरसुरुचिसिद्धान्तविन्नेमिचन्द्र–
श्रीपादाग्रे सदा षण्णवतिदशशत द्रव्यभूग्रामवर्यान्।
दत्वा श्री गोमटेशोत्सवनिमित्तार्चनविभवाय,
श्रीचामुण्डराजो निजपुरमथुरां सजगाम क्षितीशः।। बाहु च. 61

अर्थात् श्री चामुण्ड ने श्री नेमिचन्द्र स्वामी के चरित्रों की साक्षी पूर्वक 96 हजार दीनार के गाँव श्रीगोम्मट स्वामी के उत्सव अभिषेक व पूजन आदि के निमित्त देकर अपनी नगरी मथुरा में गाजे-बाजे के साथ प्रवेश किया और अपने नरेश श्री राचमल्ल को वृतान्त सुनाया, जिसे सुनकर महाराजा राचमल्लदेव ने श्री नेमिचन्द्र स्वामी के चरणों में नतमस्तक पूर्वक डेढ़ लाख दीनारों के गाँव श्री गोम्मट स्वामी की प्रभावना के निमित्त प्रदान किए और श्री चामुण्ड को जिनमत की महिमा बढ़ाने के फलस्वरूप राय पदवी से विभूषित किया। इसलिए श्री चामुण्डराय नाम तभी से प्रसिद्ध है। इनका अपर नाम गोम्मट था और गोम्मटराय भी कहे जाते थे। श्री नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार में इनके विजय की भावना की है।[4] i180 के शिलालेख से भी ज्ञात होता है कि चामुण्डराय का दूसरा नाम गोम्मट था।[5]

श्रावक शिरोमणि चामुण्डराय ने विन्ध्यगिरि पर श्री बाहुबली की प्रतिमा का निर्माण कराया था। इसका उल्लेख सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड में किया है–

गोम्मटसंग्गहसुत्तं गोम्मटसिहरुवरि गोम्मट जिणो य।
गोम्मटराय विणिम्मिय दक्खिणकुक्कुडजिणो जयदु।। 968।।

अर्थात् गोम्मट शिखर पर चामुण्डराय राजा ने जिनमन्दिर बनवाया, उसमें एक हस्त प्रमाण इन्द्रनीलमणिमय नेमिनाथ तीर्थकर देव का प्रतिबिम्ब विराजमान किया तथा भारत के दक्षिण प्रान्त में श्रवणबेलगोला के पर्वत पर निर्मापित बाहुबली स्वामी की प्रतिमा विराजमान की, वह बिम्ब तथा गोम्मटसार संग्रह ग्रन्थ जयवन्त हो।

चामुण्डराय ने बाहुबली जिनबिम्ब के अतिरिक्त ब्रह्मदेव नामक एक स्तम्भ भी बनवाया था, जिस पर उनकी प्रशस्ति अंकित है। इन्होंने चन्द्रगिरि पहाड़ी पर एक मन्दिर निर्माण कराया था, जो चामुण्डराय वसति नाम से विख्यात है। बाहुबली की प्रतिमा के लिए गोम्मट नाम का प्रयोग सबसे प्राचीन 1158 ई. का है। वहाँ राचमल्ल नरेश के मंत्री का नाम 'राय' लिखा है न कि चामुण्डराय या गोम्मटराय लिखा है।[6]

जस्टिस मांगीलाल जैन चामुण्डराय का अपर नाम गोम्मटराय नहीं स्वीकार करते हैं और न सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमीचन्द्र के समकालीन मानते हैं। साथ में चामुण्डराय के द्वारा गोम्मटेश्वर प्रतिमा निर्माण का भी निषेध करते है, उन्होंने लिखा है– "आचार्य नेमिचन्द्र ने अपने गुरुभाई शिष्य व बालसखा कहे जाने वाले चामुण्डराय का नाम भूलकर भी नहीं लिया और न ही चामुण्डराय ने अपने ग्रन्थों में अपने आपको गोम्मटराय ही लिखा है। यह भी कहा जाता है कि स्वयं चामुण्डराय ने अपने पुराण में आचार्य नेमिचन्द्र का भी जिक्र नही किया है। अतः निष्कर्ष तो यही निकलता है कि न चामुण्डराय गोम्मटराय हैं और न चामुण्डराय नेमिचन्द्रचार्य के समकालीन। यदि मूर्ति चामुण्डराय ने बनाई होती, तो चामुण्डराय पुराण (979 ए.डी.) में वे इसके बनाने का न सही बनाने के संकल्प का तो अवश्य ही जिक्र करते। इस कृति में उन्होंने अपने ब्रह्मक्षत्रिय होने का तथा अपने गुरू अजितसेन का व अपनी उपाधियों का तो उल्लेख किया है, किन्तु अपने सखा गुरुभाई नेमिचन्द्र का उल्लेख नहीं किया है यदि मूर्ति 981 में प्रतिष्ठित हुई होती, **चामुण्डराय पुराण**[7] लिखते समय अथवा समाप्त करते समय इसका निर्माण चल रहा होगा। आश्चर्य यह है कि इस

कृति के समापन के आधार पर निर्माणकाल सन् 981 की मान्यता दृढ़ की गई है जबकि मूर्ति के निर्माण में दस वर्ष का समय लगा था।[8]

जस्टिस जी की उक्त खोज सटीक नहीं है, क्योंकि आचार्य नेमिचन्द्र ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने चामुण्डराय के लिए इस गोम्मटसार ग्रन्थ की रचना की है, रूपक के रूप में प्रस्तुत किया है–

सिद्धंतुदयतडुग्गय णिम्मलवरणेमिचंदकरकलिया।
गुणरयण भूषणं बुहिवेला भरइ भुवणयलं।। 967।। गो.क.

सिद्धान्तरुपी उदयाचल के तट पर उदित निर्मल नेमिचन्द्र की किरण से युक्त गुणरत्नभूषण अर्थात् चामुण्डराय रूपी समुद्र की यति रूपी वेला भुवनतल को पूरित करे।

यहाँ गुणरत्न भूषणपद चामुण्डराय की उपाधि है। आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्सटसार के मंगलाचरण में गुणरमण भूषणुदय जीवसार परूवण वोच्छ" लिखकर प्रकारान्तर से चामुण्डराय का निर्देशन किया है। अन्य मंगल श्लोको में चामुण्डराय की उपाधियों का उल्लेख किया है।[9]

गोम्मटसार द्वारा स्पष्ट है कि चामुण्डराय ने बाहुबली की प्रतिमा का निर्माण कराया था।[10] पण्डित श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री ने तो स्पष्ट लिखा है कि नेमिचन्द्र और चामुण्डराय समकालीन थे। चामुण्डराय ने ही प्रतिमा का निर्माण कराया था। उनका तो यह भी कहना है कि चामुण्डराय का सम्बन्ध जैसा गोम्सटसार ग्रन्थ के साथ है, वैसा ही श्रवणबेलगोला की मूर्ति के साथ है।[11] हॉं यह अवश्य है कि आचार्य नेमिचन्द्र ने उस उत्तुंग मूर्ति का उल्लेख गोम्मट नाम से नहीं किया। वे अपने द्वारा रचित ग्रन्थ को 'गोम्मटसंग्रहसूत्र' कहते हैं। चामुण्डराय को गोम्मट कहते हैं। चामुण्डराय के द्वारा निर्मित जिनालय को और उसमें स्थापित बिम्ब को गोम्मट शब्द से कहते हैं, किन्तु बाहुबली की मूर्ति को गोम्मट शब्द से नहीं कहते, उसे वह दक्षिण कुक्कुडजिन कहते हैं।[12]

एल.के. श्रीनिवासन ने चामुण्डराय की प्रसिद्धि के कारण को बताते हुए लिखा है– "गंग नरेश मारसिंह द्वितीय और राचमल्ल चतुर्थ का महामत्री चामुण्डराय उस काल का सर्वाधिक प्रतिभा सम्पन्न महापुरुष था। उसके समर्पण का प्रमाण एक प्राकृतिक चट्टान में उसके द्वारा बनवाई गई उस सर्वोच्च प्रतिमा से मिलता है, जिसमें उसने भक्ति की शक्ति को सृष्टि में एकाकार कर दिया है, वहाँ के छह अभिलेख श्रवणवेलगोला के साथ चामुण्डराय के सम्बन्धों को रेखांकित करते हैं। विन्ध्यगिरि पर गोम्मटेश्वर बाहुबली के निर्माण ने उसे इतिहास में प्रसिद्ध कर दिया।"[13]

चामुण्डराय ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये उनसे उनके गुरू श्री नेमिचन्द्राचार्य अत्यधिक प्रसन्न थे, उन्होंने अपने शिष्य को ज्ञान कराने हेतु गोम्मटसार जैसे महान ग्रन्थ की रचना की थी। जीवकाण्ड की मन्द प्रबोधिनी टीका की उत्थानिका में अभयचन्द्र सूरि ने लिखा है–

गंगवश के ललामभूत श्रीमद्राचमल्लदेव के महामात्य पद पर विराजमान और रणांगमल्ल, गुणरत्नभूपण सम्यक्त्वरत्ननिलय आदि विविध सार्थक नामधारी श्री चामुण्डराय के प्रश्न के अनुरूप जीवस्थान नामक प्रथम खण्ड के अर्थसंग्रह करने के लिए गोम्मटसार नाम वाले पचसंग्रह शास्त्र का प्रारम्भ करते हुए मैं नेमिचन्द्र मंगलपूर्वक गाथासूत्र कहता हूँ।[14]

अपने व्यक्तित्व और कर्तृत्व के फलस्वरूप वे अनेक अलंकरणों से मण्डित थे। श्री चामुण्डराय समरधुरन्धर, वीरमार्तण्ड, रणरंगसिंह, वेरिकुलकालदण्ड, राजवाससिवर, समरप्रचण्ड, समरपरशुराम, प्रतिपक्षशत्रु, प्रतिपक्षराक्षस, क्रुडामिक आदि योद्धाओं को पराजित करने से प्राप्त भुजविक्रम आदि उपाधियॉ इनकी भूषण थीं। नैतिक दृष्टि से सम्यक्त्वरत्नाकर शौचाभरण, सत्य युधिष्ठिर और सुभटचूडामणि उपाधियो से भी अलंकृत थे। इतने महान् थे कि उनके गौरव का जितना व्याख्यान किया जाय, वह कम है। उनके कार्यो का भी वर्णन करने में कलम अक्षम है।

श्री चामुण्डराय के काल पर भी विचार करना आवश्यक है। ब्रह्मदेव स्तम्भ पर ई. सन् 974 का एक अभिलेख पाया जाता है और 1184 ई. में गोम्मटेश्वर की मूर्ति के पास में ही द्वारपालकों की बायीं ओर प्राप्त लेख से स्पष्ट है कि गोम्मट स्वामी की पोदनपुर में भरत चक्रवर्ती द्वारा निर्मित करायी गई प्रतिमा के विषय में सुना तो विन्ध्यगिरि पर वर्तमान विद्यमान मूर्ति का निर्माण कराया था। इससे स्पष्ट है कि 1184 ई. से पूर्व चामुण्डराय की प्रसिद्धि हो चुकी थी। इन्होंने "त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण" अपरनाम ''चामुण्डरायपुराण'' की कन्नड़ भाषा में रचना की थी, जिसमें अनेक आचार्यो द्वारा रचित संस्कृत प्राकृत भाषा के श्लोक और गाथाओं को उद्धृत किया है। आर्यनन्दि, पुष्पदन्त, भूतवलि, यतिवृषभ, उच्चारणाचार्य, माघनन्दि शामकुण्ड तेम्बुलूराचार्य, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य, सिद्धसेन, समन्तभद्र पूज्यपाद, वीरसेन, गुणभद्र, धर्मसेन, कुमारसेन, नागसेन, चन्द्रसेन, अजितसेन आदि आचार्यो का उल्लेख भी किया है, जिससे स्पष्ट है कि ये मूल परम्परा मान्य हैं, इनके द्वारा चामुण्डरायपुराण शक संवत् 900 ई. सन् 978 में पूर्ण किया गया और 981 ई. सन् में बाहुबली स्वामी की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करायी थी। इससे निश्चित है कि इनका समय दसवीं शती है।

श्री चामुण्डराय ने कन्नड़ और संस्कृत दोनों भाषाओं में ग्रन्थों की रचना की है। कन्नड़ भाषा में लिखित त्रिषष्टिलक्षणपुराण है और संस्कृत में चारित्रसार है। दोनों ही ग्रन्थ वर्ण्य विषय की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण है। त्रिषष्टिलक्षणपुराण में 63 शलाकापुरुषों के जीवन चरित्र को विस्तार के साथ वर्णित किया गया है। यह जातक कथा की शैली में तैयार किया गया है, बहुत महत्त्वपूर्ण है।

चारित्रसार श्रावकों और श्रमणों के आचार का वर्णन करने वाला महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसे चार प्रकरणों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम प्रकरण में सम्यक्त्व और पंचाणुव्रतों का वर्णन है। द्वितीय प्रकरण में सप्तशीलों का विस्तृत विवेचन है। तृतीय प्रकरण में षोडश भावनाओं

का विवरण है। चतुर्थ प्रकरण में अनगार धर्म का सम्पूर्ण वर्णन किया गया है। यह संस्कृत गद्य शैली का अत्युत्तम ग्रन्थ है।

रीडर-संस्कृत विभाग, दि. जैन कॉलेज, बड़ौत

सन्दर्भ-

1. 'जगत्पवित्रब्रह्मक्षत्रियवंशभागे' चा.पु.पृ. 5
2. "सो अजियसेणणाहो जस्स गुरू" गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा 966
3. बाहुबलिचरित्र श्लोक 6
4. अज्जज्जसेण गुणगणसमूह संधारि अजियसेणगुरु।
   भुवणगुरु जस्स गुरू सो राओ गोम्मटो जयऊ।। 733 जीवकाण्ड
   गोम्मट सुत्त लिहणे गोम्मटरायेण या कया देसी।
   सो राओ चिरकालं णामेण य वीरमचडी।। गो.सा.
5. देखो (EC 11) नं 238 पक्ति 16 अग्रेजी सक्षेप का पृ. 98 उद्धृत जीवकाण्ड की भूमिका पृ. 14 (पं. कैलाश चन्द शास्त्री)
6. बाहुबली की प्रतिमा गोमेटश्वर क्यों कही जाती है? अनेकान्त-बाहुबली विशेपांक (1980) वर्ष 33 कि. 4 पृ. 39 (आलेख डा. प्रेमचन्द जैन)
7. इसका नाम त्रिषष्टिलक्षण महापुराण (कन्नड़) है।
8. 'बाहुबली' लेखक-जस्टिम मांगीलाल जैन (प्रकाशक दि. जैन मुनि विद्यानन्द शोधपीठ, बड़ौत)
9. नमिऊण णेमिचंदं असहायपरमक्कमं महावीरं।
   णमिऊण वड्ढमाणं कणयणिहं देवरायपरिपुज्जं।। 358।। कर्मकाण्ड
   असहाय जिणवरिंदे असहाय परक्कमे महावीरे।
   णमिऊण णेमिणाहे। सज्जगुहिट्ठिणमंसियंधिजुंग।। 451।। कर्मकाण्ड
   असहायपराक्रम, देवराज, सत्य युधिष्ठिर ये सब नाम चामुण्डराय के हैं।
10. जेणविणिम्मिय पडिमा वयणं सब्वट्ठसिद्धिदेवेहिं।
    सव्वपरमोहि जोगहिं दिट्ठं सो राओ गोम्मटो जयउ।। 969 ।। कर्मकाण्ड
11. गोम्मटसार जीवकाण्ड भूमिका पृ. 14 (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री)।

12. गोम्मटसंग्गह सुत्तं गोम्मट सिहरूवरि गोम्मट जिणो य।
गोम्मटराय विणिम्मिय दक्खिणकुक्कुडजिणो जयऊ गो.कर्म. 968

13. "The most illustrious person of this period is Chamundraya, the minister of Ganga Marsingha II and Rachmall IV. He combined in himself the best of the qualities of heroism, learning and devotion, the last one expressed through his determination to carve out the greatest standing monolithic statue from natural rock, blending nature with the universe. Six inscriptions record Chamundraya's connection with Shravana Belagola. He is renowned for the erection of the clossus Commata or Bahubali; on Vindhyagiri in Shravana Belagola."

L.K. Shriniwasan, Homogo to Shravanabelagola, A Marg Publication 1981, Page 46-47

14. जीवकाण्ड म.प्र.टी. 503

यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दै,
र्यः स्तुयते सर्वनराडमरेन्द्रैः।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम्।।

– परमात्म-गीतिका, 12

जो सभी मुनिराजों के समूह द्वारा स्मरण किया जाता है, जो सभी नरेन्द्रों और देवेन्द्रों से स्तुत किया जाता है, जो वेद-पुराण-शास्त्रों के द्वारा गाया जाता है– वह देवाधिदेव (अर्हन्त) मेरे हृदय में विराजमान रहे।

गोम्मट-मूर्ति की कुण्डली

–ज्योतिषाचार्य गोविन्द पै

'श्रवणबेलगोल' के गोम्मट स्वामी की मूर्ति की स्थापना तिथि 13 मार्च, सन् 981 मानी गई है। वस्तुतः सम्भव है कि यह तिथि ही मूर्ति की स्थापना-तिथि हो, क्योंकि भारतीय ज्योतिष के अनुसार 'बाहुबलि चरित्र' में गोम्मट-मूर्ति की स्थापना की जो तिथि, नक्षत्र, लग्न, संवत्सर आदि दिये गये हैं, वे उस तिथि में अर्थात् 13 मार्च, 981 में ठीक घटित होते हैं। अतएव इस प्रस्तुत लेख में उसी तिथि और लग्न के अनुसार उस समय के ग्रह स्पष्ट करके लग्न-कुण्डली तथा चन्द्रकुण्डली दी जाती है और उस लग्न-कुण्डली का फल भी लिखा जाता है। उस समय का पञ्चांग विवरण इस प्रकार है–

श्रीविक्रम स. 1038 शकाब्द 903 चैत्र शुक्ल पचमी रविवार घटी 56, पल 58, रोहिणी नाम नक्षत्र, 22 घटी, 15 पल, तदुपरान्त प्रतिष्ठा के समय मृगशिर नक्षत्र 25 घटी 49 पल, आयुष्मान् योग 34 घटी, 46 पल इसके बाद प्रतिष्ठा समय में सौभाग्य योग 21 घटी, 49 पल।

उस समय की लग्न स्पष्ट 10 राशि, 26 अंश 39 कला और 57 विकला रही होगी। उसकी षड्वर्ग-शुद्धि इस प्रकार है–

10/26/39/57 लग्न स्पष्ट–इस लग्न में गृह शनि का हुआ और नवांश स्थिर लग्न अर्थात् वृश्चिक का आठवां है, इसका स्वामी मंगल है। अतएव मंगल का नवांश हुआ। द्रेष्काण तृतीय तुलाराशि का हुआ जिसका स्वामी शुक्र है। त्रिशांश विषम राशि कुम्भ में चतुर्थ बुध का हुआ और द्वादशांश ग्यारहवां धनराशि का हुआ जिसका स्वामी गुरु है। इसलिय यह षड्वर्ग बना–

(1) गृह–शनि, (2) होरा–चन्द्र, (3) नामवंश–मंगल, (4) त्रिशांश–बुध, (5) द्रेष्काण–शुक्र, (6) द्वादशांश गुरु का हुआ। अब इस बात का विचार करना चाहिए कि षड्वर्ग कैसा है और प्रतिष्ठा में इसका क्या फल है? इस षड्वर्ग में चार शुभग्रह पदाधिकारी हैं और दो क्रूर ग्रह। परन्तु दोनों क्रूर ग्रह भी यहां नितांत अशुभ नहीं कहे जा सकते हैं क्योंकि शनि यहां पर उच्च राशि का है। अतएव यह सौम्य ग्रहों के ही समान फल देने वाला है। इसलिय इस षड्वर्ग में सभी सौम्य ग्रह हैं, यह प्रतिष्ठा में शुभ है और लग्न भी बलवान है; क्योंकि षड्वर्ग की शुद्धि का प्रयोजन केवल लग्न की सबलता अथवा निर्बलता देखने के लिए ही होता है, फलतः यह मानना पड़ेगा कि यह लग्न बहुत ही बलिष्ठ है। जिसका कि फल आगे लिखा जायगा। इस लग्न के अनुसार प्रतिष्ठा का समय सुबह 4 बज कर 38 मिनट होना चाहिए। क्योंकि ये लग्न, नवांशाद की ठीक 4 बज कर 38 मिनट पर ही आते हैं। उस समय के ग्रह स्पष्ट इस प्रकार रहे होंगे।

नवग्रह-स्पष्ट-चक्र

रवि	चन्द्र	भौम	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	राहु	केतु	ग्रह
11	1	2	10	1	0	6	0	6	राशि
24	25	7	2	3	5	6	7	7	अश
43	41	26	58	11	36	13	21	21	कला
14	25	48	51	31	42	59	37	37	विकला
58	782	45	108	4	56	2	3	3	गति
45,	52	37	59	41	52	31	11	11	विगति

यहाँ पर ग्रह-लाघव के अनुसार अहर्गण 478 है तथा चक्र 49 है, करणकुतूहलीय अहर्गण 1235.92 मकरन्दीय 1688329 और सूर्यसिद्धान्तीय 714403984956 है। परन्तु इस लेख में ग्रहलाघव के अहर्गण पर से ही ग्रह बनाए गए हैं और तिथि नक्षत्रादिक के घट्यादि भी इसीके अनुसार हैं।

उस समय की लग्न कुण्डली

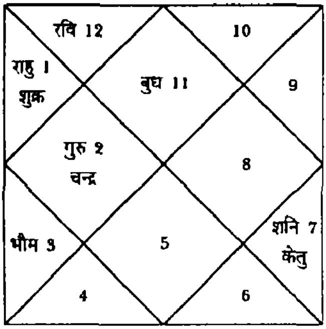

उस समय की चन्द्र-कुण्डली

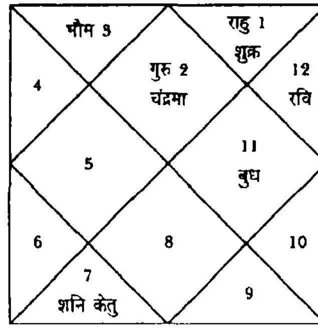

प्रतिष्ठाकर्त्ता के लिए लग्नकुण्डली का फल सूर्य

जिस प्रतिष्ठापक के प्रतिष्ठा-समय द्वितीय स्थान में सूर्य रहता है वह पुरुष बड़ा भाग्यवान् होता है। गौ, घोड़ा और हाथी आदि चौपाये पशुओं का पूर्ण सुख उसे होता है। उसका धन उत्तम कार्यो में खर्च होता है। लाभ के लिए उसे अधिक चेष्टा नहीं करनी पड़ती हैं। वायु और पित्त से उसके शरीर में पीड़ा होती है।

चन्द्रमा का फल

यह लग्न से चतुर्थ है इसलिए केन्द्र में है साथ-ही-साथ उच्च राशि का तथा शुक्लपक्षीय है। इसलिए इसका फल इस प्रकार हुआ होगा।

चतुर्थ स्थान में चन्द्रमा रहने से पुरुष राजा के यहॉ सबसे बड़ा अधिकारी रहता है। पुत्र और स्त्रियों का सुख उसे अपूर्व मिलता है। परन्तु यह फल वृद्धावस्था में बहुत ठीक घटता है। कहा है–

"यदा बन्धुगोबान्धवैरत्रिजन्मा नवद्वारि सर्वाधिकारी सदैव" इत्यादि–

भौम का फल

यह लग्न से पंचम है इसलिए त्रिकोण में है और पंचम मंगल होने से

पेट की अग्नि बहुत तेज हो जाती है। उसका मन पाप से बिलकुल हट जाता है और यात्रा करने में उसका मन प्रसन्न रहता है। परन्तु वह चिन्तित रहता है और बहुत समय तक पुण्य का फल भोग कर अमर कीर्ति संसार में फैलाता है।

बुधफल

यह लग्न में है। इसका फल प्रतिष्ठा-कारक को इस प्रकार रहा होगा–

लग्नस्थ बुध कुम्भ राशि का होकर अन्य ग्रहों के अरिष्टों को नाश करता है और बुद्धि को श्रेष्ठ बनाता है, उसका शरीर सुवर्ण के समान दिव्य होता है और उस पुरुष को वैद्य, शिल्प आदि विद्याओं में दक्ष बनाता है। प्रतिष्ठा के 8वें वर्ष में शनि और केतु से रोग आदि जो पीड़ाएँ होती हैं उनको विनाश करता है।[1]

गुरुफल

यह लग्न से चतुर्थ है और चतुर्थ बृहस्पति अन्य पाप ग्रहों के अरिष्टों के दूर करता है तथा उस पुरुष के द्वार पर घोड़ों का हिनहिनाना, बन्दीजनों से स्तुति का होना आदि बातें है। उसका पराक्रम इतना बढ़ता है कि शत्रु लोग भी उसकी सेवा करते हैं; उसकी कीर्ति सर्वत्र फैल जाती है और उसकी आयु को भी बृहस्पति बढ़ाता है। शूरता, सौजन्य, धीरता आदि गुणों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।[2]

शुक्रफल

यह लग्न से तृतीय और राहु के साथ है। अतएव इसका फल प्रतिष्ठा के 5वें वर्ष में सन्तान-सुख को देना सूचित करता है। साथ-ही-साथ उसके मुख से सुन्दर वाणी निकलती है। उसकी बुद्धि सुन्दर होती है। उसका

मुख सुन्दर होता है और वस्त्र सुन्दर होते हैं। मतलब यह है कि इस प्रकार के शुक्र होने से उस पूजक के सभी कार्य सुन्दर होते हैं।[3]

शनिफल

यह लग्न से नवम है और इसके साथ केतु भी है, परन्तु यह तुला राशि का है। इसलिए उच्च की शनि हुआ अतएव यह धर्म की वृद्धि करने वाला और शत्रुओं को वश में करता है। क्षत्रियों में मान्य होता है और कवित्व शक्ति, धार्मिक कार्यो में रुचि, ज्ञान की वृद्धि आदि शुभ चिह्न धर्मस्थ उच्च शनि के हैं।

राहुफल

यह लगन से तृतीय है अतएव शुभग्रह के समान फल का देने वाला है। प्रतिष्ठा समय राहु तृतीय स्थान में होने से, हाथी या सिंह पराक्रम में उसकी बराबरी नहीं कर सकते; जगत् उस पुरुष का सहोदर भाई के समान हो जाता है। तत्काल ही उसका भाग्योदय होता है। भाग्योदय के लिए उसे प्रयत्न नहीं करना पड़ता है।[4]

केतु का फल

यह लग्न से नवम में है अर्थात् धर्म-भाव में है। इसके होने से क्लेश का नाश होना, पुत्र की प्राप्ति होना, दान देना, इमारत बनाना, प्रशंसनीय कार्य करना आदि बातें होती हैं। अन्यत्र भी कहा है–[5]

> **"शिखी धर्मभावे यदा क्लेशनाशः**
> **सुतार्थी भवेन्म्लेच्छतो भाग्यवृद्धिः।"** इत्यादि

मूर्ति और दर्शकों के लिए तत्कालीन ग्रहों का फल मूर्ति के लिए फल

तत्कालीन कुण्डली से कहा जाता है। दूसरा प्रकार यह भी है कि चर स्थिरादि लग्न नवांश और त्रिशांश से भी मूर्ति का फल कहा गया है।

लग्न, नवांशादि का फल

लग्न स्थिर और नवांश भी स्थिर राशि का है तथा त्रिशांशदिक भी षड्वर्ग के अनुसार शुभ ग्रहों के हैं। अतएव मूर्ति का स्थिर रहना और भूकम्प, बिजली आदि महान् उत्पातों से मूर्ति को रक्षित रखना सूचित करते हैं। चोर-डाकू आदि का भय नहीं हो सकता। दिन प्रतिदिन मनोज्ञता बढ़ती है और शक्ति अधिक आती है। बहुत काल तक सब विघ्न-बाधाओं से रहित हो कर उस स्थान की प्रतिष्ठा को बढ़ाती है। विधर्मियों का आक्रमण नहीं हो सकता और राजा, महाराजा, सभी उस मूर्ति का पूजन करते हैं। सब ही जन-समुदाय उस पुण्य-शाली मूर्ति को मानता है और उसकी कीर्ति सब दिशाओं में फैल जाती है आदि शुभ बातें नवांश और लग्न से जानी जाती हैं।

चन्द्रकुण्डली के अनुसार फल

वृष राशि का चन्द्रमा है और यह उच्च का है तथा चन्द्रराशि चन्द्रमा से बारहवां है और गुरु चन्द्र के साथ में है तथा चन्द्रमा से द्वितीय मंगल और दसवें बुध तथा बारहवें शुक्र है। अतएव गृहाध्याय के अनुसार गृह 'चिरंजीवी' योग होता है। इसका फल मूर्ति को चिरकाल तक स्थायी रहना है। कोई भी उत्पात मूर्ति को हानि नहीं पहुंचा सकता है। परन्तु ग्रह स्पष्ट के अनुसार तात्कालिक लग्न से जब आयु बनाते हैं तो परमाणु तीन हजार सात सौ उन्नीस वर्ष, ग्यारह महीने और 19 दिन आते हैं।

मूर्ति के लिए कुण्डली तथा चन्द्रकुण्डली का फल उत्तम है और अनेक चमत्कार वहाँ पर हमेशा होते रहेंगे। भयभीत मनुष्य भी उस स्थान में पहुंच कर निर्भय हो जायगा।

इस चन्द्रकुण्डली में 'डिम्भाख्य' योग है। उसका फल अनेक उपद्रवों से रक्षा करना तथा प्रतिष्ठा को बढ़ाना है। कई अन्य योग भी हैं किन्तु विशेष महत्वपूर्ण न होने से नाम नहीं दिये हैं।

प्रतिष्ठा के समय उपस्थित लोगों के लिए भी इसका उत्तम फल रहा होगा। इस मुहूर्त में बाण पंचक अर्थात् रोग, चोर, अग्नि, राज, मृत्यु इनमें से कोई भी बाण नहीं है। अतः उपस्थित सज्जनों को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ होगा। सबको अपार सुख एवं शान्ति मिली होगी।

इन लग्न, नवांश, षड्वर्गादिक में ज्योतिष-शास्त्र की दृष्टि से कोई भी दोष नहीं है प्रत्युत अनेक महत्त्वपूर्ण गुण मौजूद हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में लोग मुहूर्त, लग्नादिक के शुभाशुभ का बहुत विचार करते थे। परन्तु आज कल की प्रतिष्ठाओं में मनचाहा लग्न तथा मुहूर्त ले लेते हैं जिससे अनेक उपद्रवों का सामना करना पड़ता है। ज्योतिष-शास्त्र का फल असत्य नहीं कहा जा सकता; क्योंकि काल का प्रभाव प्रत्येक वस्तु पर पड़ता है और काल की निष्पत्ति ज्योतिष-देवों से ही होती है। इसलिए ज्योतिष-शास्त्र का फल गणितागत बिल्कुल सत्य है। अतएव प्रत्येक प्रतिष्ठा में पञ्चाङ्ग-शुद्धि के अतिरिक्त लग्न, नवांश, षड्वर्गादिक का भी सूक्ष्म विचार करना अत्यन्त जरूरी है।

संदर्भः

1. "बुधो मूर्तिगो मार्जयेदन्यरिष्टं गरिष्ठा धियो वैखरीवृत्तिभाजः।
   जना दिव्यचामीकरीभूतदेहश्चिकित्साविदो दुश्चिकित्स्या भविन्त।।"
   "लग्ने स्थिताः जीवेन्दुभार्गवबुधाः सुखकान्तिदाः स्युः।"

2. **गृहद्वारतः श्रूयतेवाजिह्रेषा**
   द्विजोच्चारितो वेदघोषोऽपि तद्वत्
   प्रतिस्पर्धितः कुर्वते पारिचर्य
   चतुर्थे गुरौ तप्तमन्तर्गतञ्च।।

   चमत्कारचिन्तामणि

सुखे जीवे सुखी लोकः सुभगो राजपूजितः।
विजातारिः कुलाध्यक्षो गुरुभक्तश्च जायते।।

लग्नचन्द्रिका

अर्थ सुख अर्थात् लग्न से चतुर्थ स्थान में बृहस्पति होवे तो पूजक (प्रतिष्ठाकारक) सुखी राजा से मान्य, शत्रुओं को जीतने वाला, कुलशिरोमणि तथा गुरु का भक्त होता है। विशेष के लिए बृहज्जतक 19वां अध्याय देखो।

3. **मुखं चारुभाषं मनीषापि चार्वी मुखं**
चारु चारूणि वासांसि तस्य।

वाराही संहिता

भार्गवे सहजे जातो धनधान्यसुतान्वितः।
नीरोगी राजमान्यश्च प्रतापी चापि जायते।।

—लग्नचन्द्रिका

अर्थ शुक्र के तीसरे स्थान मे रहने से पूजक धन-धान्य, सन्तान आदि सुखों से युक्त होता है। तथा निरोगी, राजा से मान्य और प्रतापी होता है। बृहज्जातक मे भी इसी आशय के कई श्लोक हैं जिनका तात्पर्य यही है जो ऊपर लिया गया है।

4. **न नागोऽथ सिंहो भुजो विक्रमेण**
प्रयातीह सिंहीसुते तत्समत्वम्।
विद्याधर्मधनैर्युक्तो बहुभाषी च भाग्यवान्।। इत्यादि

अर्थ जिस प्रतिष्ठाकारक के तृतीय स्थान में राहु होने से उसके विद्या, धर्म धन और भाग्य उसी समय से वृद्धि को प्राप्त होते है। वह उत्तम वक्ता होता है।

5. **एकोऽपि जीवो बलवांस्तनुस्थः**
सितोऽपि सौम्योऽप्यथवा बली चेत्।
दोषानशेषान्विनिहंति सद्यः
स्कंदो यथा तारकदैत्यवर्गम्।।
गुणाधिकतरे लग्ने दोषेऽत्यल्पतरे यदि।
सुराणां स्थापनं तत्र कर्त्तुरिष्टार्थसिद्धिदम्।।

भावार्थ इस लग्न में गुण अधिक हैं और दोष बहुत कम हैं अर्थात् नहीं के बराबर हैं। अतएव यह लग्न सम्पूर्ण अरिष्टो को नाश करने वाला और श्री चामुण्डराय के लिए सम्पूर्ण अभीष्ट अर्थों को देनेवाला सिद्ध हुआ होगा।

पाठकीय विचार

–डॉ. अनिल कुमार जैन

जनवरी-जून 2005 का 'अनेकान्त' का अंक कई महत्वपूर्ण एवं रोचक विषयों से भरपूर है। आचार्य कुन्दकुन्द के सम्बन्ध में आदरणीय पंडित श्री पद्मचन्द्र शास्त्री जी का लेख व आपका संपादकीय महत्वपूर्ण समाधान प्रस्तुत करता है। डॉ. नन्दलाल जी का एक वाक्य यह कि 'वस्तुतः अनेकांतवादी जैन अपने-अपने पक्ष के एकांतवादी हो गये हैं' अच्छा लगा।

इसी अंक में डॉ. श्रेयांस कुमार जैन का लेख 'आगम की कसौटी पर प्रेमी जी' प्रकाशित हुआ है। इसमें उन्होंने प्रेमी जी के विधवा-विवाह, विजातीय विवाह, तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता सम्बन्धी विचारों को आगम की कसौटी पर कस कर अन्त में एक निष्कर्ष यह भी दिया है कि 'प्रेमी जी एक साहित्यकार और इतिहास विज्ञ सुयोग्य मनीषी अवश्य हैं किन्तु आगम की परिधि में रहकर लेखन करने वाले न होने से उन्हें **आगम का श्रद्धालु** तो नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार डाक्टर साहब ने प्रेमी जी को मिथ्यादृष्टि करार दे दिया है। इन सभी मुद्दों पर विचार करना आवश्यक है।

पिछले कुछ समय से मैं यह महसूस करने लगा हूँ कि हमारे कुछ 'आगम के ज्ञाता' विद्वानों ने लोगों को सर्टिफिकेट देना शुरू कर दिया है कि कौन सम्यक्दृष्टि है और कौन मिथ्यादृष्टि। यदि तर्क पर उनके विचारों की कहीं काट हो रही हो तो तुरन्त कह दो इन्हें आगम का ज्ञान नहीं हैं, इसलिए ऐसा कह रहे हैं, मिथ्यादृष्टि हैं। जैसा कि हम समझते हैं कि कौन सम्यक्दृष्टि है और कौन मिथ्यादृष्टि, यह शायद छद्मस्थों की शक्ति के बाहर है; वस्तुतः इसे तो वीतराग प्रभु ही जान सकते हैं।

छ्यानवे लाख रानियों से घिरा भरत चक्रवर्ती वासना से मुक्त भी हो सकता है और बिना पत्नी वाला व्यक्ति वासना के प्रति आसक्त हो सकता है। ऊपर-ऊपर से यह निर्णय कर लेना कि कौन क्या है, बहुत मुश्किल है। आगम का प्रकाण्ड ज्ञाता भी घोर मिथ्यात्वी हो सकता है।

विधवा-विवाह और अन्तर्जातीय/विजातीय विवाह की चर्चा नई नहीं है। इसके पक्ष और विपक्ष में लिखा जाता रहा है। लेकिन एक बात हमें अभी तक समझ में नहीं आई है कि विवाह एक आवश्यक धार्मिक कृत्य है या महज सामाजिक कृत्य। यदि यह एक आवश्यक धार्मिक कृत्य है तो भगवान् महावीर सहित पाँच तीर्थंकर बालयति क्यों रहे? और यदि यह महज सामाजिक कृत्य है तो इसे देश काल के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में क्यों नहीं देखा जाता है। और यदि यह थोड़ा धार्मिक भी है तो भगवान् महावीर स्वयं बाल ब्रह्मचारी रहकर विवाह सम्बन्धी उपदेश क्यों देते? (कम से कम भगवान् महावीर ने इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है।)

वर्ण और जाति के सम्बन्ध में जैन शास्त्रों में जो कुछ लिखा मिलता है वह वैदिक व ब्राह्मण परम्परा से प्रभावित प्रतीत होता है। इस बात को बहुत से 'आगम के ज्ञाता' विद्वान् स्वीकार नहीं करेंगे।

प्राचीनकाल में आज जैसी व्यवस्था तो थी नहीं कि हर विषय का एक विशेषज्ञ हो- गणित भौतिकी, राजनीति, समाज-शास्त्र आदि पहले जो कुछ भी इन विषयों में लिखा गया वह सब धार्मिक ग्रन्थों का हिस्सा मान लिया गया। यदि इन विषयों पर किसी जैन धर्मावलंबी विद्वान् ने लिखा तो वह 'जैन धर्म' का हिस्सा हो गया। यदि ईसाई ने लिखा तो 'इसाई धर्म' का और हिन्दू ने लिखा तो 'हिन्दू धर्म' का। इन सब बातों को धर्म मान लेने पर उस धर्म की मूल आत्मा आहत होती है।

वर्ण-व्यवस्था, जाति-प्रथा और विवाह आदि जितने भी विषय हैं वे सब समाज-व्यवस्था से सम्बन्धित हैं, धर्म से उनका विशेष कुछ लेना-देना नही है। पहले मात्र मानव था, फिर वर्ण-व्यवस्था स्थापित हुई और उसके

बाद जाति-व्यवस्था। विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह आदि को हमें सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही देखना चाहिए।

यापनीय सम्प्रदाय व उनके शास्त्रों को लेकर भी विद्वानों में हमेशा मतभेद रहे हैं। यदि प्रेमी जी तथा पं. सुखलाल जी 'तत्त्वार्थसूत्र' को यापनीय ग्रन्थ मानते हैं, तथा अन्य दूसरे भी ऐसा मानते हैं, तो इसमें आगम विरुद्ध क्या दिखता है? मतभेद हो सकते हैं। डॉ. श्रेयांस जी लिखते हैं– 'यापनीय सम्प्रदाय द्वारा मान्य स्त्री-मुक्ति आदि सिद्धान्त तत्वार्थ सूत्र में देखने को नहीं मिलते अतः तत्वार्थ सूत्र यापनीय सम्प्रदाय का बिल्कुल भी नहीं माना जा सकता है'। यह तर्क अधिक मजबूत नहीं हैं। यदि तत्वार्थ सूत्र में यह नहीं लिखा है कि स्त्री-मुक्ति सम्भव है, तो यह भी तो नहीं लिखा है कि स्त्री-मुक्ति सम्भव नहीं है।

मेरा मानना है कि इस प्रकार के आलेखों के साथ आपका संपादकीय टिप्पण भी होना चाहिए।

B/26, सूर्यनारायण सोसायटी
विषत पैट्रोल पंप के सामने
साबरमती, अहमदाबाद-380005

वीर सेवा मंदिर

21, दरियागंज, नई दिल्ली-2